

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

अध्यात्मिक निवेदन ।

सम्पादक व प्रकाशक—

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद,

व्यवस्थापक आत्मधर्म सम्मेलन,

चन्दाबाड़ी-सूरत ।



मुद्रक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

जैनविजय प्रिंटिंग प्रेस सूरत ।



प्रथमावृत्ति] अप्रैल १९२५ [प्रति ५००

आध्यात्मिक निवेदन

प्यारे आत्मधर्म सम्मेलनके सभासदों!

आपको यह बात अच्छी तरह ध्यानमें लेनी चाहिये कि यह मनुष्यका शरीर सबसे श्रेष्ठ तथा दुर्लभ है। मनुष्यको अपने जीवनका समय कभी भी निरर्थक न खोना चाहिये किन्तु उसका सदुपयोग करना चाहिये।

रुपया कमाना, पांचों इन्द्रियोंके भोग भोगना—ऐसे कार्य हैं जिनका सम्बन्ध इस देहसे है व जो लोभ या तृष्णाको बढ़ानेवाले हैं—मनुष्यको अन्धा बनाकर उसके जीवनको नष्ट करनेवाले हैं। जो मनुष्य अपने जीवनका ध्येय यश बना लेते हैं उनको आकुलता व खेद कभी पीछा नहीं छोड़ते, क्योंकि ये दोनो कार्य दूसरोंके सम्बन्धसे होते हैं। जब दूसरोंकी सहायता हमारी इच्छानुसार प्राप्त हो जाती है और हमें धनका लाभ तथा इन्द्रिय भोगोंके भोगनेका अवसर मिल जाता है तब हम कुछ कालके लिये संतोष मान लेते हैं, किन्तु यदि दूसरोंके कारण धन हानि होती है या जिनपर हमारे दोनो कार्योंका आधार था वे हमसे विरोध करने लगते हैं या उनका वियोग हो जाता है या हमारा शरीर अस्वस्थ व रोगी हो जाता है तो हमको बहुत बड़ा कष्ट व खेद होता है।

किसी मनुष्यके सब सम्बन्धी पदार्थ उसकी इच्छानुसार हि
वर्तन करते रहें कभी प्रतिकूल न हो ऐसा बहुत ही कठिन है
साधारण मनुष्यके जीवनमें तो नित प्रति खेदके सामान मि
जाया करते हैं—उसकी इच्छाके पूर्ण होनेमें विघ्न हो जाया करते हैं

यदि निर्मीक कोई विम न हो जो कि असम्भव है और धनका लाभ तथा विषयभोगोंका भोग इच्छानुसार, होता रहे तौभी आकुलता सताती रहती है क्योंकि धनकी तृष्णा बढती चली जाती है और नए नए विषयभोगोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा अत्यन्त प्रबल हो जाती है। यह क्रम मनुष्यके जीवनतक बना रहता है। वह वृद्ध होजाय, अशक्त होजाय तौभी नहीं बन्द होता है। एक दिन मरण अवश्य हो जाता है तब भी उस मानवके चित्तमें तृष्णाकी अग्नि बनी रहती है। वह बहुतसी आशाओंको अपूर्ण रखकर उस समय वर्तमान धनादि परिग्रह तथा सम्बंधियोंका वियोग बडे दुःखके साथ सहन करता है और आसुओंको बहाता हुआ संक्लेशितभावसे प्राण त्यागता है।

यही अवस्था उन सबही मनुष्योंकी होती है जिनका ध्येय मात्र धन कमाना और विषयभोग करना है।

इस ध्येयवाले मानवोंसे कभी कभी बडे२ अत्याचार, पाप व अन्याय हो जाया करते है। जब उनका मतलब सीधे मार्गसे नहीं निकलता है तब वे टेढे रास्तेसे चलने लगते है। झूठ बोलना, चोरी करना, सताना उनके मनमे कोई पाप नहीं रहता है—विषयोंके लम्पटी हो वे परस्त्रीगामी हो जाते है। कभी कुसंगतिमें पड मांसभोजी, मदिरा पानवाले, आखेटकर्त्ता, जूआ रमनेवाले तथा अनेक खोटी आदतोंके व्यसनी बन जाते हैं। इनकी अधिकता कभी बढ़ जाती है तब शरीर रोगी हो जाता है या कभी कभी अन्याय करनेसे व राज्यनीतिका उल्लंघन करनेसे उनको राज्यदंड भी भोगना पड जाता है। ऐसे मनुष्य बलवान होकर निर्बलोंको

सताते हैं, उनको हर प्रकार हानि पहुचाकर अपना मतलब निकालना चाहते हैं—ये पूर्ण स्वार्थी व खुदगर्ज बन जाते हैं। दया, क्षमा, शील, सतोष, सत्य उनकी मैली चित्तकी वृत्तिमे विदा हो जाते हैं, ऐसे मानवोका जीवन पशुओंके जीवनसे भी निकृष्ट हो जाता है। पशुओंका सर्व विषयभोग नियमित रहता है परन्तु धन लम्पटी और विषयान्ध मानवोका विषयभोग अनियमित होजाता है।

वास्तवमें ये दोनो कार्य मनुष्यके मुख्य कार्य नहीं हैं। जो गृहस्थ होते हैं उनको यह आवश्यक्ता पडती है कि हम अपने व अपने आधीन कुटुम्बके शरीरोंकी रक्षा भोजन वस्त्रादि सामग्रीसे करें व अपनी पाचो इन्द्रियोंकी इच्छाकी पूर्ति इतनी करें कि जिससे सतोषपना रहे व शरीर प्रसन्न रहे तथा सतानक्रम चलता रहे। इस गौण कार्यके लिये विवेकी मनुष्य अपने मुख्य कार्यमे हानि न करते हुए न्यायपूर्वक दूसरोको दु खित न करते हुए व्यापार राजकार्य, शिल्पादि व कृषि आदिके द्वारा धन कमाते हैं तथा पाचो इन्द्रियोका उतना ही भोग करते हैं जिससे शरीरके स्वास्थ्यमे बाधा न आकर शरीर—स्वास्थ्य उत्तम रहे व वीर सतानका लाभ हो।

मनुष्यका मुख्य कार्य धर्मसाधन है। धर्मके साधनसे मनुष्यको जो जो अपूर्व लाभ होते हैं व इसकेसम्बन्धमे दूसरे जीवोंका जो उपकार होता है उसका वर्णन वाणी गोचर नहीं है।

इन्द्रियोंके भोगसे जो सुख प्राप्त होता है वह सुख कल्पना मात्र है, पराधीन है, तृष्णावर्द्धक है, क्षोभका कारण है इसलिये वह सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख अपने आत्माका स्वभाव है। सच्चा सुख और शांति आत्माके भीतर भरे हुए हैं—धर्म वहा है जिसके

३

प्रतापसे हम आप ही अपने ही भीतर भरे हुए सच्चे सुख और शांतिका उपभोग करते हुए परमप्रसन्न और शांत रह सकें।

इस जगतमें उस सच्चे धर्मका ज्ञान बहुत अंशमें साधारण जनताकी दृष्टिसे गुप्तसा होगया है। इसी सच्चे धर्मकी स्मृति करानेके लिये इस आत्मधर्म सम्मेलनका उद्यम है।

यह कोई ऐसी सभा नहीं है कि जिसका वार्षिक उत्सव हो, उसमें प्रस्ताव पास हो। यह सभा मात्र इसलिये है कि सच्चे सुखके पानेका उपाय इसके सभासद स्वयं करें तथा अपने जीवनमें हरएक सभासद दूसरोंको भी इस सुख पानेके लिये तैयार करें। यहां तक कि १ महीनेमें एक सभासद अपने साथी १० सभासद अवश्य बना डालें। जिस अमृतका स्वाद अपनेको सुखी बनाता हो, दया व परोपकारका भाव कहता है कि उस अमृतका स्वाद सब कोई पा सके ऐसा उद्यम करना चाहिये। इस सभाका यही हेतु है कि धीरे २ जगतके सर्व मानवोंको सच्चे सुखका मार्ग बता देना जिससे उनका जीवन सदुपयोगी हो और वे मानव जन्मका मुख्य कार्य कर सकें।

इस सम्मेलनमें नाम लिखानेवाले सभासदोंको लाभ यही होगा कि जब कभी कोई पुस्तक छोटी या बडी प्रकाशित होगी उनकी सेवामें पहुंच जायगी जिसको पढ़कर वे ज्ञानका आनन्द पाएंगे। दूसरे जब कभी किसी सभासदको कोई शंका या प्रश्न पैदा हो वह दफ्तरमें लिखकर उसका उत्तर प्राप्त कर सक्ता है।

वर्तमानमें इस संमेलनके २९० के अनुमान सभासद हैं परन्तु यह देखनेमें नहीं आता है कि वे अपने कर्तव्यमें पुरुषार्थी हों।

संभव है कि वे स्वयं कुछ अभ्यास करते हों परन्तु उनके चित्तमें वह दया नहीं झलकती जिससे प्रेरित हो वह दूसरोंको भी इस अभ्यासमें लगाते और सभासदोंको बनाकर उनके नाम व पते सम्मेलनके दफ्तरमें भेजते। उनकी इस कमीको मिटानेके लिये, उनको जगानेके लिये यह प्रार्थना नम्रभावसे इस पुस्तिका द्वारा की जा रही है कि प्यारे सभासदो! ऐसा उद्यम करो कि एक एक सभासद एक वर्षमें कमसेकम ३-४ सात तीनसो समासद तो बना डाले। यह प्रयत्न करना इतने मानवोंको मुख्य कार्यकी ओर प्रेरित करके उनके जीवनोंको सुधार देना है। हम आशा करते हैं कि आप इस हमारे निवेदनपर आगामी अवश्य ध्यान देते रहेंगे।

आत्मधर्म प्रेमी व बू चम्पतरायजी बारिस्टर हरदोई (यू० पी०) ने एक पुस्तक गौंचाणो प्रकाशित कराई है जिससे सभासदोंको लाभ पहुंचेगा ऐसा समझकर उन्होंने अपनी ओरसे सभासदोंकि पास पहुचानेको हमें भेजी है। जिसे हम इस पुस्तिकाके साथ आपकी सेवामें भेट करते है। आशा है कि आप अच्छी तरह मनन करेंगे और जगतके मानवोंका मिथ्या अन्धकार दूर करनेका अवश्य प्रयत्न करते रहेंग। तथा कोइ बात इस गौचाणोकी जानना चाहेंगे तो उक्त महाशयसे हरदोई पत्र व्यवहार करेंगे या हमे सूचित करेंगे।

प्यारे सभासदों! आइये हम आप थोड़ासा आनन्द इस पुस्तिका द्वारा अवश्य प्राप्त करें जो हमारे ही भीतर है व जिसका लाभ लेना हमारा मुख्य कार्य है और यही धर्मका साधन है। मनुष्यके जीवनका सार यही है जो सुख शांतिका भोग नित्य रहा करे। यह सुखशांति अपने ही भीतर जो देखने जाननेवाला आत्मा है उसीका

निज स्वभाव है। जैसे मिश्रीका स्वभाव मीठा, नीमका कटुक, नींबूका खट्टा होता है वैसे आत्माका स्वभाव सुखशातिमय है।

सासारिक पदार्थोंमें मोह बुद्धि होनेसे व किन्हींमें राग व किन्हींमें द्वेषभाव रखनेसे आत्मा स्वभावमे रमण नहीं करसक्ता है इसीलिये वह अपने आपमें न ठहरा हुआ निज स्वाभाविक सुख-शातिका भोग नहीं करसक्ता। जिसका भाव रागद्वेष मोहके द्वारा क्षोभित नहीं होता है वह अपने आपको देखता हुआ अपनी सुख शातिका भोग करसक्ता है।

जैसा स्वामी पूज्यपादने कहा है—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलं।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्वं नेतरो जनः॥

भावार्थ—जिसका मन रूपीजल रागद्वेष आदि लहरोंसे क्षोभित नहीं होता है वही आत्माके तत्त्वको देख सक्ता है। दूसरा कोई उसे नहीं देख सक्ता है।

जैसे मिश्रीकी तरफ उपयोग जुडते ही मीठेपनका स्वाद आता है वैसे आत्माके स्वभावकी तरफ उपयोग जुडते ही सुखशातिका स्वाद आजाता है।

वास्तवमें अपने ही शरीरमें आत्माराम अपने ही स्वाभाविक गुणोंको लिये हुए विराजमान है इस बातका यथार्थ ज्ञान तथा श्रद्धान होना चाहिये, क्योंकि जिस वस्तुका सच्चा ज्ञान तथा श्रद्धान हो जाता है उस वस्तुकी रुचि हो जाती है अर्थात् उस वस्तुका शौक हो जाता है। जिस वस्तुका शौक हो जाता है उस वस्तुकी तरफ मन स्वयं वारवार जाता है। श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

यत्रैवाहितधी पुंस श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्त तत्रैव लीयते ॥

भावार्थ—इस मानवकी बुद्धि जिधर जमती है उधर उसकी रुचि हो जाती है। तथा जिस वस्तुकी रुचि हो जाती है उस वस्तुकी तरफ चित्त स्वयं लीन हो जाता है।

साधकको सबसे पहले यही जाननेकी आवश्यकता है कि शरीररूप नहीं हूं—न मैं गोरा, काला, पीला, बालक, वृद्ध, युवान हूं, न मैं रागी, द्वेषी, मोही व अज्ञानी हूं, किन्तु मैं शुद्ध स्वभावधारी ज्ञाता दृष्टा अविनाशी एक आत्माराम हूं।

जैसे धानके भीतर सफेद चावल छिपा है, दूधके भीतर निर्मल पानी छिपा है, सुवर्ण पाषाणके भीतर शुद्ध सुवर्ण छिपा है, रत्न पाषाणमें चमकता हुआ रत्न छिपा है वैसे इस शरीरके भीतर आत्माराम छिपा है।

जैसे भेदज्ञान अर्थात् विवेककी दृष्टिसे धानके भीतर रहते हुए भी चावल अलग दिखता है, दूधके भीतर पानी भिन्न मालूम पड़ता है सुवर्ण पाषाणमें सुवर्ण और रत्न पाषाणमें रत्न अलग झलकता है वैसे भेदज्ञान या विवेकके द्वारा ही यह आत्मा बिलकुल स्वच्छ सब रागादि परभाव तथा अन्य द्रव्योंसे जुदा दिखलाई पड़ता है।

जब दो द्रव्य मिले हुए होते हैं तब उनकी पहचान करनी चाहिये। उनका भिन्न भिन्न लक्षण जब ध्यानमें आवेगा तब ही वे मिले हुए दो द्रव्य भी जुदे जुदे दीख पड़ेंगे।

किसी पात्रमें गेंहू और जौ मिले हुए रक्खे हैं। परन्तु जिसको यह पहचान है कि गेंहूका स्वभाव यह है तथा जौका स्वभाव यह है वही गेंहूको जौसे अलग कर सक्ता है।

चांदी और सोनेकी रज मिली हुई रक्खी है। जिसको दोनोंकी भिन्न२ पहचान है वही सोनेको चांदीसे जुदा करसक्ता है।

यह संसार द्वैतरूप है—चेतन और जडका मिश्रण ही संसार है। चेतनका जडसे जुदा होना ही मोक्ष है। पानी और मिट्टीका मिलाप ही मैलापना है। पानीका मिट्टीसे अलग होजाना पानीका मैलसे छूटकर शुद्ध होजाना है।

आत्मा यों तो अनंतगुणोंका एक अखंड समुदाय है परन्तु उसका अनात्मासे भिन्न ज्ञान होनेके लिये उन मुख्य गुणोंको जान लेनेकी आवश्यक्ता है जिनसे वह आत्मा जडसे जुदा अपने ज्ञानमें झलक जावे।

सबसे मुख्य गुण चेतना है—जानना देखना है। यह चेतना जिसमें हो वही आत्मा है। जिसमें चेतना नहीं वही अनात्मा है। आत्माका चेतना लक्षण दोषरहित है। सर्व आत्माओंमें व्यापक है इसमें अव्याप्ति दोषरहित है। आत्माको छोडकर किसी भी अनात्मामें चेतना गुण नहीं है इससे इसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है। चेतना लक्षण प्रत्यक्ष प्रगट है क्योंकि चेतना सहित प्राणी सचित्त कहलाता है और वह आंख, कान, नाक, मुख, शरीर इंद्रियोंसे देख कर, सुनकर, सूंघकर, चाखकर व छूकरके वर्ण, शब्द, गंध, रस तथा स्पर्शको जान सक्ता है। मृतक शरीर चेतनारहित हो जानेसे आंख आदि इंद्रियोंके आकारको रखते हुए भी नहीं जान सक्ता

है। यह चेतना वास्तवमें शुद्ध चेतना है इसमें रागद्वेषादि विभावोंकी अशुद्धता नहीं है। जैसे दृष्टिका काम मात्र देखना है। दृष्टि रोते हुएको देखकर आप रोती नहीं। वैसे ही हंसते हुएको देखकर आप हंसती नहीं। रोगी निरोगीको, धनवान धन हीनको, बालक वृद्धको, गोरे कालेको समानभावसे मात्र देख लेती है वैसे यह चेतनाशक्ति पदार्थोंको जैसाका तैसा जानती देखती है। सिद्ध भगवान या परमात्मामें यह चेतना शुद्ध अवस्थामें विराजमान है इससे वे परमात्मा सर्व देखने जानने योग्य पदार्थोंको एक समयमें जैसाका तैसा देखते जानते हैं परन्तु किसी भी वस्तुमें रागद्वेष मोह नहीं करते हैं। यही चेतना स्वभावसे या निश्चयसे हरएक संसारी आत्माके भीतर है, क्योंकि संसारी आत्मा जड़ शरीरकी संगतिमें अशुद्ध होरहे हैं इसलिये उनकी चेतना अपूर्ण काम करती तथा वह रागद्वेष सहित वर्तन करती है।

हमको जब आत्माका लक्षण विचारना है तब हमें अनात्मा या जड़से रहित ही अर्थात् शुद्ध आत्माका ही लक्षण विचार करना है। इसलिये हरएक आत्मामें यह शुद्ध चेतना विद्यमान है।

दूसरा मुख्य गुण इस आत्मामें शांतिका है। यह आत्मा स्वभावसे परम शांत या परम वीतराग है—इसके स्वभावमें क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है। यह क्रोधादि भाव अनात्माकी संगतिमें ही होते हैं आत्माके वे ही गुण हो सक्ते हैं जो इसके मुख्य गुण चेतनाके सहकारी हों, चेतनाके बाधक न हों।

यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है कि क्रोधादि भाव आत्माके ज्ञानके बाधक हैं सहायक नहीं हैं, जबकि शांति या वीतरागता आत्माके

ज्ञानको सहकारी है। शांतिमें [illegible] होती है व ज्ञानके साम्राज्यमें ही शांतिकी [illegible] होती है इसलिये शांति या वीतरागता आत्माका मुख्य गुण है।

तीसरा मुख्य गुण आनन्द है। जहां ज्ञान और शांति होती है वहीं यह आनन्द झलकता है। जहां अशांति होती है वहीं क्लेश प्रगट होता है। यह आनन्द जो आत्माका स्वभाव है वह इन्द्रियोंके विषयभोगसे होनेवाले काल्पनिक या पराधीन सुखसे विलक्षण है। जितना जितना मोह घटता है उतना उतना यह सुख गुण प्रगट होता है। एक मनुष्य दयावान होकर बिना किसी अपने स्वार्थके अनाथोंकी रक्षाके लिये १००) का दान करता हुआ इस द्रव्यसे मोहका त्याग करता है इसीलिये निस्वार्थ परोपकारसे आनन्दका झलकाव होता है। यही इस बातका प्रमाण है कि आत्मामें आनंद गुण भरा हुआ है।

चेतना, शांति, आनन्द इन तीन मुख्य गुणोंको धरनेवाला आत्मा जड़-पुद्गल (परमाणु या स्कंध जिनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हो) से भिन्न है इसी लिये वह अमूर्तीक ([illegible]) है। इस आत्माका स्थान कहां है? क्योंकि जो कोई पदार्थ होगा वह अवश्य अपने आकारके प्रमाण आकाशको घेरेगा। यद्यपि हरएक आत्मामें शक्ति लोकमात्रमें व्यापने की है तथापि किसी शरीरमें रहा हुआ आत्मा शरीरके प्रमाण आकारको रखता है—बालकमें बालकके समान, युवानमें युवाके समान, पशुमें पशुके समान, कीटमें कीटके समान, वृक्षमें वृक्षके समान आकार है। इ[illegible] [illegible]के निमित्तसे संकोच, य

शक्ति है। इसी कारणसे यह आत्मा शरीर प्रमाण रहता है। जो आत्मा शुद्ध या मुक्त होजाता है वह भी अंतिम शरीरके प्रमाण आकार रखता है क्योंकि शरीरके छूटनेपर शरीरका सम्बन्ध न होनेसे फिर आत्मामें संकोच या विस्तार नहीं होता है।

यद्यपि यह आत्मा प्रत्यक्ष आंख आदि इन्द्रियोंका विषय नहीं है तथापि हम उसका स्वरूप अपने विचारमें इसी तरह ले सक्ते हैं जिस तरह मनुष्यका रूप किसीके मुखसे सुनकर उसका नक्शा अपने मनमें जमा सक्ते हैं। हम सोच सक्ते हैं कि हमारे ही शरीरके भीतर हमारे ही शरीरके प्रमाण आकारको रखनेवाला एक ऐसा पदार्थ विराजमान है जो चेतनामय है, परमशांत है तथा परम आनंदमई व अमूर्तीक है। पंडित द्यानतरायजी कहते हैं—

निज घटमें परमात्मा चिन्मूरति भइया।
ताहि विलोक सुदृष्टि धर पंडित परखैय्या॥

स्वामी पूज्यपाद कहते हैं—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

भावार्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूं तथा जो मैं हूं सो ही परमात्मा है इसलिये मैं ही मेरे द्वारा भक्ति किये जानेके योग्य हूं और कोई नहीं, ऐसी वस्तुकी स्थिति है।

मुनि नागसेनजी तत्वानुशासनमें कहते हैं—

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता दृष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः॥ १५३॥

अर्थात् मैं सत्‌रूप विद्यमान द्रव्य हूं, चेतनामई हूं, ज्ञाता दृष्टा हूं, सदा ही वीतराग हूं, अपने शरीर प्रमाण आकार रखता हूं

भी शरीरसे भिन्न आकाशकी तरह अमूर्तीक है।

श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेशमें कहते हैं—

स्वसंवेदन सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्यय ।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकन ॥ २१ ॥

अर्थात्—यह आत्मा अपने ही आपके ज्ञानके द्वारा अपनेको भले प्रकार प्रगट होता है। शरीर प्रमाण है, अविनाशी है, अतिशय सुखी है व लोक अलोकको देखनेवाला है।

श्री देवसेन महाराज तत्त्वसारमें कहते हैं—

णोकम्म कम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो ।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥ २७ ॥

भा०—यह आत्मा शरीरादि नोकर्म व पाप पुण्यरूप द्रव्य कर्मसे रहित है, केवलज्ञानादि गुणोंसे परिपूर्ण है, शुद्ध है, नित्य है, एक है व निरालम्ब है—जैसा सिद्ध परमात्मा है वैसा ही मैं हूं ऐसा विचारना चाहिये।

इस तरह अपने ही आत्माका ज्ञान और विश्वास करके हमको नित्य एकांत स्थानमें बैठकर उसका वास्तविक स्वरूप विचारना चाहिये। थोड़े दिन अभ्यास करनेसे ही आत्माके आनन्दका झलकान होने लगेगा। बस उस ही अभ्यासको बढ़ाते हुए सुखशांतिका भोग हमको प्राप्त होता रहेगा।

मानव जीवनका सबसे बड़ा ध्येय यह है। यही सच्चा आत्मोन्नतिकारक धर्म है। इस ही आत्माके गुणोंके विचारमें अपना चित्त जोड़नेके लिये हम पूजा, जप, तप, स्वाध्याय, धर्मचर्चा, भजन आदि अनेक साधन कर सकते हैं। अपने प्यारे सभासदोंके लाभार्थ हम यहां पर एक भजन भी लिखे देते हैं—

निज आतम सुखकार, भजन कर हे मन बारम्बार ।
ज्ञाता दर्शक सब ज्ञेयनिका, राजत आप मझार ॥ १ ॥ भजन०
शांत रहित क्रोधादि मावसे, वीतराग गुणधार ॥ २ ॥ भजन०
सत्य स्वातममय आनंदी है, सब कथन निरधार ॥ ३ ॥ भजन०
रागद्वेष सब मोह त्यागकर, देखा उसे हरवार ॥ ४ ॥ भजन०
स्वातम अनुभव होत सुगमसे, पीवे अमृतसार ॥ ५ ॥ भजन०
सुख सागरमें होय मगनता, छूटे मल दुखकार ॥ ६ ॥ भजन०

प्यारे सभासदो ! आपको यह अच्छी तरह निश्चय कर लेना चाहिये कि जीवनको सुखमय बनानेके लिये एक अपने ही आत्माका मनन तथा अनुभव कार्यकारी है। यही सच्चा धर्म है। इसलिये आप इस धर्मको पालें तथा जगतके मानवोंको आप सिखावें।

दूसरा व्यवहार धर्म है जिसका मूल अहिंसाका सिद्धांत है। जो यह कहता है कि अपने समान दूसरे प्राणियोंको समझो। उनको वृथा कष्ट न दो। यथासंभव बहुत कम कष्ट देते हुए अपनी आवश्यकताओंको पूर्ण करो। भोजन मात्र, शुद्ध, ताजा, मांस, मदरहित योग्य पदार्थोंका करो। नीतिपूर्ण व्यवहारोंमें धनको कमाओ। तथा अपनी मन वचन काय, सम्पत्ति, विद्या आदि शक्तियोंके द्वारा मानव समाजका कल्याण करो तथा पशु पक्षी आदि जीवमात्रका कल्याण विचारो और करो।

प्यारे सभासदो ! आपको इस निवेदन पर पूर्ण ध्यान देना उचित है तथा जितने अधिक भाई बहनोंको इस कल्याणके मार्गपर ला सकें सो आपको करना उचित है। इस पुस्तिकाकी पहुंच देवें तथा आवश्यक पत्रव्यवहार करते रहें। व्यवस्थापक—

आत्मधर्म सम्मेलन-चंदावाडी, सूरत।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी एकता-  -आत्मस्वतंत्रताका मार्ग है।

आत्मधर्म-सम्मेलन।

१ हरएक जीव सुख शांति चाहता है-यह सर्वथा सत्य है।

२ सुख व शांति अपने आत्मामें है।

३ आत्माके सत्स्वरूप पर विश्वास लाने और उसका ध्यान करनेसे वे स्वयं प्राप्त होने लगती हैं।

४ आत्माका लक्षण चेतना (देखना, जानना) है। यह चेतना रहित अजीव-पदार्थोंसे भिन्न है। इसका सत्स्वरूप असलमें शुद्ध, आनन्दमई, अविनाशी, क्रोधादिक विकारोंसे रहित है। यह देह प्रमाण आकार रखता है। प्रत्येक आत्माकी सत्ता सदा भिन्न२ बनी रहती है, इससे यह नित्य है। आत्मामें परिणाम सदा नये२ हुआ करते हैं इससे यह परिणामी भी है।

५ यद्यपि हम वर्तमानमें अशुद्ध हैं, पर हमें आत्माका शुद्ध स्वरूप निश्चय करके एकान्तमें बैठकर उसका भजन, मनन, पूजन, ध्यान सवेरे शाम कमसेकम १०-१५ मिनिट अवश्य करना चाहिये। अपनी ही देहमें देह प्रमाण स्फटिककी मूर्तिके समान उसे विचारना चाहिये।

६ हरएक प्राणीमें भिन्न२ आत्मा है। सब चाहते हैं कि हम कोई भी अपने मन, वचन, कायसे किसी प्रकार कष्ट न दें

७ दूसोंसे आपका धर्म है कि अन्य प्राणियोंका बुरा न विचार, उनके प्रति अहितकर वचन न करें, उनकी बुराई न करें अर्थात् सबके साथ प्रेमभाव रखकर हित सोचे व करें।

८ इसीमें मनुष्योंकी रक्षा करो, उन्हें शिक्षित, स्वास्थ्ययुक्त, न्यायमार्गी और आत्मज्ञानी बनाओ। पशुओंकी हत्या भोजनपान, औषधि, पूजा भक्ति और खेल तमाशे आदिके लिये न करो। गाय, भैंस, घोडा, बैल आदि पशुओंसे काम लो, पर कष्ट न दो। वृक्षोंपर भी दया पालो, उन्हें वृथा न सताओ।

९ भोजन ताजा, शुद्ध अन्न, शाक, फल, दुग्ध घृतका करो व ताजा पानी छानकर पिओ। भूख लगनेपर भोजन करो। कमसे कम दिनमें एक दफा भोजन धर्म है।

१० गृहमें स्त्री पुत्रादिका हित करो। मोहमें अंध होकर धर्मको न त्यागो।

११ इन्द्रियविजयी होने और वैराग्य प्राप्त होनेपर गृहत्याग आत्मध्यान करते हुए परोपकारमें जीवन विताओ।

ऊपरकी बात पसंद हो तो सभासद होनेको पत्र भेजो।

सभासदोंका कर्तव्य अपनी शक्ति अनुसार इन ११ बातोंपर चलना व इनका प्रचार करना है।

फीस—प्रेम और सेवा। पता—व्यवस्थापक—

तारीख .२-१२-२० { आत्म-धर्म सम्मेलन, चंदावाडी-सूरत।



स्वसमरानन्द

अथवा

चेतन-कर्म युद्ध।

सम्पादक—

जैनधर्मभूषण—

ब्र० शीतलप्रसादजी–सूरत।

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया–सूरत।

जैनविजय प्रेस–सूरत।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रि प्रेस, खपाटिया चकला-सूरत।



प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया
दि० जैन पुस्तकालय चन्दावाड़ी-सूरत

भूमिका।

जैनमित्र साप्ताहिक पत्र वर्ष १९ अंक १ वीर सं० २४१८ मिती कार्तिक सुदी १ से प्रारंभ होकर जैन मित्र वर्ष १७ अंक २० वीर सं० २४४९ मिती भादों वदी २ तक हमने पाठकोंको **चेतन और कर्मके युद्धका दृश्य** दिखानेके लिये यह लेख दियाथा। इसमें गुणस्थान अपेक्षा कर्मोंके विजयका वर्णन वीर अध्यात्म रसके साथ किया गया है। जैन तत्त्वके मरमी इस कथनसे बहुत लाभ उठाएंगे। **श्रीमती पंडिता चंदाबाईजी** आराकी उदारता व अनेक तत्त्व प्रेमियोंकी प्रेरणासे यह निबन्ध पुस्तकाकार स्वल्पमूल्यसे प्रकाशित किये गये हैं। पाठकोंको सूचना है कि वे इसे वारवार पढ़ें तथा इसका प्रचार करें कहीं भूल हो तो उदार विद्वान् क्षमा करके पत्रद्वारा सूचित करें।

मिती
कार्तिक सुदी ११
वीर सं० २४४९
ता ३१-१०-२२

निवेदक—
ब्र० शीतलप्रसाद
आ० सम्पादक, जैनमित्र—सूरत।



विषय-सूची।



—(o)—

शुद्धाशुद्धि ।

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१	१२	आकार	आकर
९	१	धाको	धाकी
१०	११	प्रदेश	परदेश
१२	१	इसकी	इनकी
१५	१९	श्रा अन ता	अन ता
१८	११	कारणों	करणों
२१	२	योद्धओ	योद्धाओं
२५	१६	धर्म पद्धतिसे गिरा	गिरा
२९	१९	कश्चिन्	किंचित्
,,	२१	मिलसे	मिलके
३०	१०	रुगोटकी	लगोटको
,,	११	अज्ञा	आज्ञा
३१	१६	प्रमत्त	प्रमत्त विरत
,,	१८	उठी	छठी
३३	९	लज्जामान	लज्जायमान
३४	१२	स्थान विचय	संस्थान विचय
,,	१९	तिया	शिव तिया
३७	२१	आशक्त	आशक्ति
४१	१५	बारह	बाहर
४५	९	किसी दशा	की सी दशा
	१	दूसरे	दूरसे

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१२	यहा "उसीवक्त आदि" पहले फिर भेमता है आदि पढ़ना चाहिये १ लाइन आगे पीछे उलट गई है।	
४१	१९	साहकर	सम्हलकर
४९	१०	आतम	आतमा
५०	१९	सत् स्वरूपी	सत् स्वरूपको
५१	७	परकाल अस्तित्व	परकालनास्तित्व
५२	१०	सेवा	सेना
५४	१८	रहा है	हो रहा है
५६	४	निम्न	निम्न फुटनोट देखो नं० २९
,,	७	साम्यक्ती	सम्यक्ती
,,	१६	उदय	हृदय
५७	३	बदल	व दल
६०	९	नौकर्म	नोकर्म
६५	१६	चेनत	चेतन
६६	७	ज्ञानरूपी	अज्ञानरूपी
,,	१९	चेतनके	चेतनकी
६७	१०	उज्वल	उज्वल
,,	२१	अगोंमें	अगोंके
६८	९	[illegible]गता	वीतरागता

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
७०	१९	सम्क	सम्यक
७१	११	मिलाने	मिलने
७१	२	चरता है	चलाता है
७५	८	जो	जो आनन्द
,,	१४	वरणी	ज्ञानावरणी
,,	१७	विचार	अवीचार
७८	९	मोह वेगी	मोह वेगके जीतनेके लिये
८०	४	अन्त	अनन्त
,,	९	ठहरा	ठहर
८१	९	निश्रय	निश्चय
,,	१३	लाग	लाए





नमः श्रीवीतरागाय।

स्वसमरानन्द।

(१)

अनन्त कालसे महाभयानक मोहनगरमें परतन्त्रतारूपी कैदके महान दुःखोंको भोगनेवाला आत्मा एकायक ज्ञानी आकाशगामी किसी दयावान शक्तिशाली विद्याधरकी दृष्टिमें आजाता है उसे परतन्त्रताके महान भारी दुःखदायक कष्टमें आकुलित देख वह विद्याधर कहता है, "रे आत्मन्! तू क्यों अपनेको भूल गया है? क्या तुझको मालूम नहीं कि, तू स्वतन्त्र स्वभावी है? तू निश्चयसे तीन लोकका धनी, अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुखमई है। तेरे रमने योग्य मोक्षनगरनिवासिनी शिवतिया है? जिस मोह राजाकी पुत्री कुमति कुटाके फंदोंमें तू मोहित हो रहा है उसने तेरी हे चेतन! देख कैसी दुर्दशा कर रक्खी है! तेरी सम्पत्ति हर ली है। तुझे कैदमें डाल रक्खा है। तू ऐसा बावला है कि उसके दिखाये हुए भ्रमात्मक रूपमें मोहित हो उसके क्षणिक मोहमें पड़ अपनी सर्वथा दुर्दशा कर रहा है। मैं तेरे कष्टसे आकुलित हुआ हूं। मेरे चित्तमें तेरे ऊपर बड़ी ही करुणा आई है। मैं तुझको इस नगरसे छुड़ा सकता हूं। और तुझे तेरी [illegible] स्त्री प्रेमपात्रा शिवतियासे मिला सकता हूं। तू कुछ शङ्का न कर, मोहकी सेनाको विध्वंस करनेके लिये तथा तेरे पाससे दूर रखनेके लिये मेरे पास बहुत [illegible]। मैं तुझको [illegible]

दूगा। तू अब यह निश्चय कर कि तू अनन्त गुणी परम सिद्धकी जातिवाला है। पिंजरेमें बन्द सिंहके समान अपनी शक्तिको क्यों खो रहा है? वृथा झूठा मोह छोड़। भवबन्धन तोड़। " विद्याधरके यह वचन सुन वह चुप हो रहा और कुछ उत्तर न दे सका। विद्याधरने विचार किया अभी चलना चाहिये। एक दफेकी रस्सीकी रगड़से पत्थरमें चिन्ह नहीं बनते, इसलिये पुन पुन सम्बोधकर इस विचारे दीन मानवका कल्याणकर इसके दु खोंको मिटाना चाहिये। विद्याधर जाता है। वह परतन्त्र आत्मा एक अचम्भेमें आजाता है परन्तु कुछ समझता नहीं। तथापि जो अशुभ परिणतिरूपी सखी आकर उसको बातोंमें उलझाती थी उससे चित्तमें अरुचि आती जाती है तथा शुभ परिणतिरूपी सखी जो कभी २ इस आ माको देख जाया करती है उसके दर्शन पा लेनेसे यह चित्तमें हर्षित होता है और पुन उसके देखनेकी कामना करता है। वास्तवमें इस भवपिंजरमें पड़े पक्षीके छूटनेके लिये अब काललब्धि आगई है। इसके तीन कर्मोंका क्षयोपशम हुआ है। यह अब मनकी मोह विचारशक्तिमें जम रहा है। क्षयोपशमलब्धि देवीने इसपर दया की है। उस की प्रेरणा से विद्याधरका आगमन हुआ है। साथ ही विशुद्धिलब्धि देवी अब अशुभ परिणतिरूपी सखीको पुन पुन इसके पास जानेसे रोक रही है और शुभ परिणतिको पुन पुन भेजकर उसकी प्रीति शुभ परिणतिमें वृद्धि करा रही है। धन्य है यह आत्मा, अब इसके सुधारका समय आगया है। अब इसके दु खोंका अन्त आ गया है। अब यह शीघ्र ही अपने अनन्त

बलोंकी श्रद्धाकर परमज्ञानी विद्याधर मित्रकी सहायतासे मोह शत्रुसे युद्ध करनेको तयार हो जायगा और मोहकी सेनाका विध्वंस करनेका उपाय करेगा। धन्य हैं वे प्राणी जो इस युद्धमें परिणमन करते हैं। उनके अंतरंगमें आध्यात्मिक वीररसका उत्साह आता है, और जब वह अपने गुणघाती किसी शत्रुका पराजय करते हैं तो उनके हर्षकी सीमा नहीं रहती। वे अपने आपमें परमोत्कृष्ट आत्मवीरताके रसका स्वाद ले **स्वसमरानन्द**के आमोदमें तृप्त रहते हुए दिन प्रतिदिन अपनी शक्तिको बढ़ाते चले जाते हैं और शिवनगरमें पहुँचनेके विघ्नोंको हटाते जाते हैं।

(२)

ज्ञानी विद्याधर थोड़े दिनोंके पश्चात् ही संसार ग्रसीभूत आत्माकी दुःखमई अवस्थाको विचारकर अपने आसनको त्यागता है, और मोहनगरमें आकार आकाश मार्गसे उस आत्माको देखता है। वह आत्मा इस समय एक कोनेमें बैठा हुआ अचम्भेके साथ उसी विद्याधरको याद कर करके विचार रहा है कि वह कौन था जो मुझको कुछ सुनाकर चला गया, कई दिन हुए इससे यद्यपि मुझे उसकी बातें याद नहीं हैं तथापि उन वचनोंकी मिष्ठता और कोमलता अबतक मेरे मनको सुहावनी मालूम हो रही है। वह अवश्य मेरा कोई हित ही होगा। अब मैं उसके मनोहर शब्दोंको फिर कब सुनूं? यह विभावपरिणतिसे परेशान आत्मा ऐसा मनन कर रहा था, कि यकायक वह विद्याधर बोल उठा, "हे आत्मन्! क्या चिन्ता कर रहा है? क्या तुझे अभीतक अपने रूपकी खबर नहीं है? तू चेतनपदका धारी अमल अटूट अस-

स्यात् प्रदेशी, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र, स्वस्व रूप तन्मयत्व आदि अनेकानेक गुणोंका भण्डार परम रूपवान है। तेरी शक्ति अनन्त अपार है। जो तू अपने पदकी रुचि मात्र करे तो तेरा यह कारावास अन्तपनेको प्राप्त हो जावे। देख प्यारे मित्र! मोह और उसकी कुपुत्री कुमतिने तुझे ऐसा बावला बना दिया है, तेरी ज्ञान दृष्टिपर मोहनी धूल डाल दी है कि तू जहा कनक है वहा पीली मिट्टी देख रहा है। जहा अगर-वन है वहा तू बबूलवन कल्पना कर रहा है, जहा अचल अभिराम आनन्दधाम है वहा तू नर्कका मुकाम मान रहा है। जहा विषका समुद्र है वहा तू अमृतसागर मान रहा है। जहा अमृतसागर है वहा तू विषधर कल्पना कर रहा है। जो तुझे अनन्त कालतक सुख देनेवाला है उसे तू दुःखदाई मान रहा है। विषयवासनामें पड़कर आज तक किसी जीवने तृप्तता नहीं पाई। हे मित्र! मेरी ओर देख ' ये वचन क्या थे, मानो प्यासके लिये जलरूप थे, भूखेके लिये अन्नरूप थे। सुनने ही ऊपर देखता है परन्तु फिर भी बड़ी आश्चर्यकी बात है क्योंकि उसकी समझमें उस विद्याधरका कथन फिर भी नहीं आया। परन्तु इसकी रुचि देखकर वह विद्याधर समझ गया कि इसके परिणामोंने अपने हितकी तरफ ध्यान दिया है और फिर उसको कहता है, "हे मित्र! तू कमर कस, मोहसे लड़, भय न कर, हम तेरी हर प्रकारसे सहायता करनेको उद्यत हैं।" अब यह समझता है और कहता है, "हे मित्र! तुम्हारे वचन मुझे बहुत ही इष्ट मालूम पड़ते हैं। कृपाकर ऐसे ही वचनोंका समागम मुझे नित्य प्रदान

करें।" विद्याधर अपने उद्देश्यकी पूर्ति समझ कहता है, "हे मित्र! घवड़ाओ नहीं, हम नित्य तुमको धर्मामृत पान करानेके लिये आएंगे," और तुम्हें युद्ध करने योग्य बल प्रदान करेंगे। धन्य है यह आत्मा! इसको अब देशनालब्धिकी प्राप्ति हुई है। जिनवाणी अपना असर करती जाती है। अंतरंगमें अशुभ कर्मोंका कडुआ रस बदलता जाता है। शुभ कर्मोंका मिष्ठरस अधिक मीठा होता जाता है। यह आत्मा अवश्य एक न एकदिन मोह शत्रुसे युद्ध ठान उसको परास्तकर शिवनगरीका राज्य करेगा। धन्य है यह युद्ध जिसमें हिंसाका लेश नहीं है, जो दयामय प्राणिमरक्षक है और जो अपनी क्रियामें परम मनोहर है। जो इस युद्धमें परिणमन करते हैं, वे अपने आप ही आत्माकी सत्य सुखदाई भूमिकामें नयानन्दोंसे अतीत स्वसमरानन्दको लब्धकर परम आल्हादित रहते हैं।

(३)

धन्य है परोपकारी विद्याधर जिसके नित्य धर्मरसके दिये हुए रुचिमई भोजनसे संसारी आत्माके शरीरमें पुष्टता और साहसकी वृद्धि हो रही है। क्रम २ से अब ऐसी अवस्था हो गई है कि, यह अपने अनंत बलको समझकर होशियार हो गया है और मोहकी सेनासे युद्ध करनेके लिये तय्यार हो गया है। देशनालब्धिसे सीखे हुए विशुद्ध परिणामरूपी वीरोंको निर्भय होकर चलाने लगा है। मोह राजाकी नियत की हुई आठ प्रकारकी सेना संसारी आत्माके आठों ओर [illegible] हुए है। इसने शुभ भावनाके मननरूप अनेक

स्यात् प्रदेशी, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र, स्वस्थ रूप तन्मयत्व आदि अनेकानेक गुणोंका भण्डार परम रूपवान है। तेरी शक्ति अनन्त अपार है। जो तू अपने पदकी रुचि मात्र करे तो तेरा यह कारावास अन्तपनेको प्राप्त हो जावे। देख प्यारे मित्र ! मोह और उसकी कुपुत्री कुमतिने तुझे ऐसा बावला बना दिया है, तेरी ज्ञान दृष्टिपर मोहनी धूल डाल दी कि तू जहां कांक है वहां पीली मिट्टी देख रहा है। जहां अगर-वन है वहां तू बबूलवन कल्पना कर रहा है, जहां अचल अभिराम आनन्दधाम है वहां तू नर्कका मुकाम मान रहा है। जहां विषका समुद्र है वहां तू अमृतसागर जान रहा है। जहां अमृतसागर है वहां तू विषधर कल्पना कर रहा है। जो तुझे अनंत कालतक सुख देनेवाला है उसे तू दुखदाई मान रहा है। विषयवासनामें पड़कर आज तक किसी जीवने तृप्तता नहीं पाई। हे मित्र ! मेरी ओर देख ' ये वचन क्या थे, मानो प्यासके लिये जलरूप थे, भूखेके लिये अन्नरूप थे। सुनने ही ऊपर देखता है परन्तु फिर भी बड़ी आश्चर्यकी बात है क्योंकि उसकी समझमें उस विद्याधरका कथन फिर भी नहीं आया। परन्तु इसकी रुचि देखकर वह विद्याधर समझ गया कि इसके परिणामोंने अपने हितकी तरफ ध्यान दिया है और फिर उसको कहता है, " हे मित्र ! तू कमर कस, मोहसे लड़, भय न कर, हम तेरी हर प्रकारसे सहायता करनेको उद्यत हैं। " अब यह समझता है और कहता है, " हे मित्र ! तुम्हारे वचन मुझे बहुत ही इष्ट मालूम पड़ते हैं। कृपाकर ऐसे ही वचनोंका समागम मुझे नित्य प्रदान

करें।" विद्याधर अपने उद्देश्यकी पूर्ति समझ कहता है, "हे मित्र! घबड़ाओ नहीं, हम नित्य तुमको धर्मामृत पान करानेके लिये आयंगे," और तुम्हें युद्ध करने योग्य बल प्रदान करेंगे। धन्य है यह आत्मा! इसको अब देशनालब्धिकी प्राप्ति हुई है। जिनवाणी अपना असर करती जाती है। अंतरगमें अशुभ कर्मोंका कटुक रस बदलता जाता है। शुभ कर्मोंका मिष्टास अधिक मीठा होता जाता है। यह आत्मा अवश्य एक न एकदिन मोह शत्रुसे युद्ध ठान उसको परास्तकर शिवनगरीका राज्य करेगा। धन्य है यह युद्ध जिसमें हिंसाका लेश नहीं है, जो दयामय प्राणिमरक्षक है और जो अपनी क्रियामें परम मनोहर है। जो इस युद्धमें परिणमन करते हैं, वे अपने आप ही आत्माकी सत्य सुखदाई भूमिकामें नशानन्दोंसे अतीत **स्वसमरानन्द**को लखकर परम आल्हादित रहते हैं।

(३)

धन्य है परोपकारी विद्याधर जिसके नित्य धर्मरसके दिये हुए रुचिमई भोजनसे संसारी आत्माके शरीरमें पुष्टता और साहसकी वृद्धि हो रही है। क्रम २ से अब ऐसी अवस्था हो गई है कि, यह अपने अनंत बलको समझकर होशियार हो गया है और मोहकी सेनासे युद्ध करनेके लिये तय्यार हो गया है। देशनालब्धिसे सीखे हुए विशुद्ध परिणामरूपी तीरोंको निर्भय होकर चलाने लगा है। मोह राजाकी नियत की हुई आठ प्रकारकी सेना संसारी आत्माके आठों ओर बल किये हुए है। इसने शुभ भावनाके मननरूप अनेक योद्धाओंको अपने मित्र ज्ञानी

विद्याधरकी पूर्ण कृपासे प्राप्त कर लिया है। ये योद्धा उन कर्मोंकी सेनाके ऊपर अपने तीरोंको छोड़ २ कर विह्वल कर रहे हैं। इस घमसान युद्धमें आयु कर्मकी सेना जो बड़ी ही चतुर है इसके तीरोंसे बच जाती है, सदा ही इसके पीछे रहती हुई इसको उस स्थानसे निकलने नहीं देती है। शेष कर्मोंके योद्धाओंकी स्थिति कमजोर होती जाती है। जो कभी उनकी स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर थी वह स्थिति घटते २ अंत:कोड़ाकोड़ी सागर मात्र रह गई है। इन आठ प्रकारकी सेनामें ४ कर्मोंकी सेना बड़ी ही तीव्र है जिसको घातिया कहते हैं। इनका स्वभाव यद्यपि युद्धमें बाणोंकी चोटके पानेसे पहले पत्थर तथा हड्डीके समान कठोर था, परन्तु वह स्वभाव बाणोंकी लगातार चोटोंके पानेसे अब लकड़ी तथा बेलके समान नरम हो गया है। तथा अघातिया कर्मोंकी सेनामें जिन योद्धाओंका स्वभाव इतना अशुभरूप था कि उनके द्वारा पहुंचाई हुई चोटें विष और हालाहलके समान बुरा असर करती थीं उनका स्वभाव इस आत्माकी भावरूपी फौजोंकी चोटोंसे अब टीला पड़कर नीम और कांजीके समान हलका होता चला जाता है तथा अघातिया कर्मोंमें जिन योद्धाओंकी सेनाओंका स्वभाव पहिलेहीसे कुछ शुभ था वे योद्धा इस साहसी आत्माके वीरत्वको देख अधिक शुभ होते जाते हैं, अर्थात् गुड़, खांडके समान जिनका स्वभाव था वह अब बदलकर अमृत और शर्करारूप होता जाता है। मोहराजा अपनी सेनाके योद्धाओंको समय २

रहे हैं। इसलिये लाचार हो वह वैसे ही कर्मके योद्धाओंको भेज ता है, जिनकी स्थिति अंत कोड़ाकोड़ी सागर है। साहसी आत्माकी विशुद्ध भावरूपी सेनाके योद्धाओंके बलको बढ़ते देखकर जो नवीन मोहकी फौज है वह अंतर्मुहूर्त तक अंत कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिमें पल्यका संख्यातवा भाग घटती स्थितिको धरनेवाली ही समय २ में आती है। फिर दूसरे अंतर्मुहूर्त तक उस अंत स्थितिमें पल्यका संख्यातवा भाग घटती स्थितिवाले कर्मोंकी सेना समय २ आया करती है। इस तरह करते २ सात या आठसौ सागर स्थिति घटनेवाले कर्मोंकी सेना जब आ जाती है तब एक प्रकृतिबंधापसरण होता है। इस प्रकार ३४ प्रकृतिबंधापसरणोंके द्वारा घटती २ स्थितिवाले कर्मयोद्धा आते हैं और अधिक स्थितिवाले कर्मयोद्धाओंके आनेका साहस नहीं होता है। विशुद्ध भावधारी आत्माका ऐसा ही इस समय प्रभाव है। अब यह **प्रायोग्य** लब्धिका पूर्ण स्वामी हो गया है, इसने कर्म-शत्रुओंका बहुत बल क्षीण कर दिया है। धन्य हैं वे आत्मा जो इस प्रकार शास्त्राभ्यासके द्वारा वस्तु स्वरूपका पुन २ मननकर तथा सम्यक् मार्गसे भावनाकर अपने परिणामोंसे अनादि कालसे लग्न कर्म शत्रुओंको पराजय करनेके लिये उद्यमवंत रहते हैं। अपना सुधा समूह अपने निकट है उसकी प्राप्तिमें जो रुचिवान होते हैं वे संसारातीत अविनाशी निजरूपकी समाधिमें तन्मय रहनेका हुल्लास करते हुए निजवट कुरुक्षेत्रमें **स्वसमरानन्द**का भोग भोगते नित्य आत्मपर विजयपताका फहराते हुए आनंदित रहते हैं और भवके संकटोंसे बचनेका पक्का उपाय कर लेते हैं।

(४)

शुद्ध निश्चय नयसे आनन्दकंद शुद्ध बुद्ध परमस्वरूपी आत्मा व्यवहार नयसे मोहनृपकी प्रबल सेनाके अधिपति आठ कर्मोंके द्वारा घिरा हुआ अपने मित्र विद्याधरके द्वारा प्राप्त विशुद्ध मद कषायरूपी सेनाओंके द्वारा उनका बल मर्दकर उनको भगानेका पूरा २ साहस कररहा है। यह सत्य है, शिवरमणीके वरपनेको प्राप्त होनेवाला है। अब इसको प्रायोग्य लब्धिका स्वामित्व प्राप्त हो गया है। जिस पक्षकी विजय होती जाती है उस पक्षके योद्धाओंका उत्साह और साहस बढ़ता जाता है। इस वीरात्माके विशुद्ध परिणामोंमें इस तरह उत्साहरूपी तरंगोंकी वृद्धि है कि समय २ उनमें अनतगुणी विशुद्धता होती जाती है, अपनी सेनाकी अधोकरण लब्धिमें होनेवाली चमत्कारिताको देखकर यह शूरवीर आत्मा एकाएक मोहनी कर्मकी प्रबल सेनाके बड़े दुष्ट और महा अन्यायी पाच सुभटपतियों (अफसरों) को ललकारता है और उनका सामना करनेको उद्यमीभूत होता है। यह पाच सुभट सम्पूर्ण जगतको भवके चक्रोंमें नचानेवाले हैं। इन्हीकी दुष्टतासे अनतानत जीव इस संसारमें अनादिकालसे पर्यायमें लुब्ध होकर आकुलित हो रहे हैं। इन दुष्टोंकी सगति जबतक नहीं छूटती तबतक कोई जीव इस जगतमें किसी कर्मशत्रुका न तो क्षय करसक्ता है न उनके बलको दबा सक्ता है। जीवोंको भव २ की आकुलतामयी उपाधियोंमें परेशान, अज्ञान और हैरान रखकर उसको एकतानके गान अमस्थान सुखधाममें स्वचितानका निशान स्थिर रखकर आत्मरस

मलस्थानमें स्नान तो क्या एक डुबकी मात्र ठहरानेको न करने देनेवाले यह पाच आत्म वैरी हैं । पांचोंमें प्रधान **मिथ्यात्व** सेनापति है, और अन्य चार **अनन्तानुबन्धी** क्रोध, मान, माया, लोभ, उस प्रधानके अनुगामी मित्र हैं । इन पाच अफसरोंके आधीन कर्मवर्गणा नामके अनगिन्ती योद्धा युद्धके सन्मुख हो रहे हैं । और अपने तीक्ष्ण उदयरूप बाणोंको लगातार इस वीर आत्माके विशुद्ध परिणामरूपी सुभटोंपर छोड़ रहे हैं परन्तु वे सुभट **तत्वविचार**की अत्यंत कठिन ढालसे उन बाणोंकी चोटोंसे बिलकुल बच जाते हैं । और यह सुभट अपने बाणोंको इस चतुरतासे चलाते हैं कि उन पांचों सेनाके सिपाहियोंकी स्थिति कम होती जाती है, तथा उनका रस भी मंद पड़ता जाता है । केवल इन पाच सेनाओंहीका बल क्षीण नहीं हो रहा है, किन्तु सर्व विपक्षियोंकी सेनाकी कुटिलता और स्थिरता निर्बल होती जाती है ।

एक मध्य अन्तर्मुहूर्ततक युद्ध करके इस वीरने अपना बहुतसा काम बना लिया है । अब इसके विशुद्ध भावोंकी सेनामें अपूर्व ही जोश, उत्साह और साहस है । सत्य है इस समय इसके योद्धाओंने **अपूर्वकरणलब्धि**का बल पाया है । अब ऐसी अपूर्वता इसके विशुद्ध परिणामोंमें है कि इसके नीचेके समयका कोई अन्य आत्मा किसी भी उपायसे इसके परिणामोंकी बराबरी नहीं कर सक्ता है, जब कि ऐसी बात इससे पहले अधोकरणमें सम्भव थी । अब समय १ अपूर्व २ अनंतगुणी विशुद्धताकी वृद्धिको धरनेवाले सुभट अपने बाणोंको, तलवारोंको

बरछियोंको इतनी तेजीसे चला रहे हैं कि पाचों सेनाके सिपाही घबड़ा गए हैं, करीब २ हिम्मत छूटती जाती है, समय १ अनते झरते जाते हैं तथापि समय १ अपने सदृश अनत कर्म वर्गणा ओंको बुला लेते हैं। इसीसे अभी सन्मुखता त्यागते नहीं। धन्य है यह वीर आत्मा–परम धीरताके साथ युद्धकर रहा है और इस बातपर कमर कस ली है कि किसी तरह इन पाचोंको यदि क्षय न कर सका तो निर्बल कर भगा तो अवश्य देना। जबतक कोई पुरुष किसी इष्ट और साध्य कार्यके लिये अपने एक मन, वचन, कायसे उद्यत नहीं होता और सकटोंकी आगतिसे आकुलित नहीं होता तबतक कार्यका सिद्ध होना कठिन क्या असाध्य ही होता है। जिसको जैनागमके अदभुत रहस्यसे परिचय हो गया है वह जीव जिनत्व प्राप्त करनेको तत्पर हो जाता है। जैसे द्रव्यका लोभी देश प्रदेश जाकर दु ख उठानेकी कोई चिन्ता न करके किसी भी रीतिसे द्रव्यको उपार्जन करता है व विद्याका लोभी दूर निकट क्षेत्रका विचार न कर विद्याका लाभ हो वहीं अनेक कष्ट उठाकर जाता है और विद्याका लाभ करता है। इसी तरह आत्मीक सुधाके स्वादका लोलुपी जहा व जिस उपायसे यह तृप्तिकर परम मिष्ट स्वाद मिले उसी जगह जा उसी उपायको कर जिस तिस प्रकार सुधासवेदका उद्यम करता है ऐसे ही यह वीर आत्मा परमदयालु विद्याधरके प्रतापसे निज अनुभूतिविमाकी प्राप्तिका लोलुपी होकर अपने सारे उपयोग और शक्तिको इसी अर्थ लगा रहा है और इस अनुभूति–विद्याके सवेदके विरोधी शत्रुओंसे भी जासे युद्ध करता हुआ रचमात्र

भी खेद न मान स्वसमरानंदके विशाल सुखमें कल्लोलें लेता हुआ अपने आशाके पुष्पोंकी मालाकी सुगंधी ले लेकर सतोषित हो रहा है।

(५)

परमदयालु विद्याधरकी प्रेरणासे जागृत हुआ वह वीर आत्मा मोह शत्रुसे युद्ध करनेके कार्य्यमें खूब दिल खोलकर तन्मय हो रहा है। अपूर्वकरणकी लब्धिके पीछे अब इसने **अनिवृत्तिकरणकी** लब्धि प्राप्त करली है। अब इसके फौजके सर्व सिपाही बदल गए हैं। एक विलक्षण जातिकी परम बलवान सेना इसके पास समयर आ रही है। यह सेना बड़ी बलिष्ठ है। इस प्रकारकी सेना उन्हीं सुभटोंको प्राप्त होती है जो उन पाचों दुष्टोंको बिल्कुल दबा ही देवेंगे। यह मोह शत्रु बड़ा क्रूर है। इसने अनंते जीवोंको कैदमें डाल रक्खा है। परम कृपालु विद्याधरकी कृपासे यदि कोई एक व दो आदि अनेक आत्माए भी सुचेत हों, इससे युद्ध करने लग जाय और **अनिवृत्तिकरण**-लब्धिकी शक्तिका लाभ करें तो सर्व ही जीव एकसी ही बलवान परिणामरूपी सेनाको समय २ पाते हुए एक साथ ही इन पाचों दुष्ट सुभटोंको एक अतर्मूहूर्तके भीतर ही दबा देते हैं। इस वीर आत्माके युद्धके प्रतापसे जो मोह शत्रुकी शत्रुता द्वारा १४२ (तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अगोपाग, सम्यक्त मोहनी, मिश्र मोहनी सिवाय) कर्म प्रकृति वीरोंकी सेना अनादिकालसे इस आत्माको घेरे हुए दुखी किये हुये थी उनमेंके बहुतसे वीरोंको इसने प्रायोग्यलब्धिके प्राप्त करनेपर ३४ बधापसरणोंके द्वारा ऐसा

कमजोर कर दिया है कि वे अपनी नई सेना भेजनेसे रुक गए हैं, तथा इन पांचोंका तो चक्र इस समय इस धीरवीरने बहुत ही कमजोर कर दिया है, इसकी सेनाको तितर वितर कर दिया है सो इसकी सर्व कर्मवर्गणारूपी सेना कुछ आगे व कुछ पीछे चली जारही है, इसके सामनेसे हट रही है। उधर उस उत्साहीके उत्साहका पार नहीं है, अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त शक्तिके प्रादुर्भाव करनेको समर्थ परिणामरूपी योद्धाओंने अपने तीक्ष्ण बाणोंसे उन पांचों सुभटोंको ऐसा परेशान कर दिया है कि, वे इस समय घबड़ा गये हैं और अपनी सेनाको तितर-बितर देखकर यही विचार करते हैं कि अब हमारा बल ठहरनेका नहीं, हमारी सेना बिखर गई है। उचित है कि हम एक अन्तर्मुहूर्त ठहरकर अपनी सेनाको सम्हाल लेवें, फिर इसको कहां जाने देंगे, तुरत इसके बलको नाशकर डालेंगे। थोड़ी देर इसको क्षणिक आनन्द मना लेने दो। अभी तो मेरे साथी बहुतसे वीर इसको दुखी कर रहे हैं। यह हमारे क्षेत्रसे बाहर हो जाने हीका नहीं है। ऐसा विचार यह पांचों दब जाते हैं अर्थात उपशमरूप होकर एक अन्तर्मुहूर्तके लिये अपने किसी प्रकारके बलको इस आत्मामें दिख लाते नहीं। इन पांचोंका दबना कि इस वीर आत्माको **प्रथमोपशम सम्यक्तकी** अपूर्व शक्तिका लाभ होना। अहा! हा!! अब तो उसके हर्षकी सीमा नहीं, इसने अनादि कालके बड़े भारी योद्धाओंको दबा दिया है। उसी समय विद्याधर आता है और कहता है " शाबास, शाबास! अब तेरा संसार निकट है, तू भी ही मोक्ष नगरका राजा होगा और वहांके अतीन्द्रिय सुखका

विलास भोगेगा।" अपनी स्वस्वरूपलब्धिके लाभकी आशामें इस आत्माके अंतरंगमें परम संतोष, परम शांत भाव भर दिया है। इस समय यह भी अपनी सेनाको विश्राम देता हुआ अपने अनंत शक्तिशाली स्वरूपका अनुभवकर जगतके आनन्दोंसे दूरवर्ती परम सुखको भोगता हुआ **स्वसमरानन्दके** अद्भुत विलासमें विश्वास धर परम सम्यक्त्व भावका लखाव कर रहा है।

(६)

परमानंदविलास, सुखनिवास, सद्गुणाभास, परम तम प्रकाश मईके अनुपम विकासके लाभका उत्साही यह अनादि मिथ्यादृष्टी आत्मा अनिवृत्तिकरणलब्धिके प्रभावसे प्रथमोपशम सम्यक्तकी अपूर्व शक्तिको प्राप्तकर समय २ अद्भुत विशुद्धता पा रहा है। यद्यपि अनादिके पीछे पड़े हुए मोहके भेद विवक्षासे १४१ शत्रुओंमेंसे तथा अभेद विवक्षासे ११८ शत्रुओंमेंसे (क्योंकि स्पर्शादिक २० में ४, तथा ५ बंधन और ५ संघात, ५ शरीरोंमें गर्भित हैं इसलिये २६ कम हुई) अब केवल १०९ शत्रुओंकी सेना ही इसको आकुलता पहुंचा रही है। तथापि यह वीर इस समय इस आनन्दमें मग्न है कि मैं अब अधिकसे अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तनकालमें ही अवश्य शिवनगरमें जाकर निवास करूंगा और स्वसुधा-समूहका स्वाद अनंत कालतक भोगूंगा। इस समय मिथ्यात्व१, एकेन्द्रियजाति२, द्वेन्द्रियजाति३, तेन्द्रियजाति४, चौन्द्रियजाति५, स्थावर६, आताप७, सूक्ष्म८, अपर्याप्त९, साधारण१०, अनन्तानुबन्धी क्रोध११, अनंतानुबंधीमान१२, अनन्तानुबंधिमाया १३, अनंतानुबंधिलोभ१४, इस प्रकार ११७ मेंसे १४ शत्रु दबे

इनकी भूमिकामें आ जाता है। अब यहां इसकी सत्तामें १४१* कर्म प्रकृति सेनाओंके साथ दो कर्म प्रकृति की सेना और मिल जाती है और १४३ कर्म प्रकृति सत्तामें हो जाती हैं। इसके एक समय पहले तो १०३ शत्रुओंकी सेना ही सामना कर रही थी, परन्तु अब ९ प्रकृतियोंकी सेना जो खाली बैठी थी यह भी उठ खडी हुई और इस आत्माको दुखी करने लगी। इन ९ में ४ तो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और ५ में स्थावर एकेन्द्रिय जाति और विकलत्रय ऐसे ९ प्रकृतियोंकी सेना आजाती है। और नरकगत्यानुपूर्वी इस गुणस्थानमें दब जाती है, इससे १११ प्रकृतियोंकी सेना अपना जोर दिखलाती है। तथा नई सेनाका आगमन जो इसके पहिले केवल ७४ ही ही का था अब घटता है और ११७ में से १०१ प्रकृतियोंकी सेनाका आना होने लगता है। जो २७ शत्रुओंकी सेना पहिले गिनाई थी उसमेंसे हुण्डक संस्थान, और नपुंसक वेद निकलकर तथा मनुष्यायु और देवायु जोडकर शेष सर्व २७ प्रकृतियोंकी सेनाका आगमन पहलेकी अपेक्षा इस गुणस्थानमें घट गया है। इस सासादन अवस्थामें आत्मा एक गड्ढेमें आ जाता है, इसका कषायसे छूट जाता है। तीव्र कषायके आवेशमें उत्कृष्ट ६

* फुट नोट—इस लेखमें गत अंकोंमें अनादि मिथ्यादृष्टीके १४१ या [redacted] लिखा था सो १४१ का ही बंध समझना चाहिये। तीर्थंकर आहारक शरीर आहारक बंधन, आहारक संघात आहारक अंगोपांग, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन ७ का बंध नहीं होता।

आवली प्रमाण और जघन्य १ समय प्रमाण बावना रहकर तुरत मिथ्यात्वकी भूमिकामें आजाता है। हा! जो आनन्द इस निराकुल आत्माको थोड़ी ही देर पहले था वह सब अस्त हो जाता है और यह महा दुखी होकर विषयोंकी चाहकी दाहमें जलने लगता है और उनकी ही प्राप्तिके सोचमें तड़फड़ाने लगता है। यदि कोई विषय मिल जाता है तब अन्य विषयोंकी तृष्णामें विहुल रहता है।

धन्य हैं वे प्राणी जिन्होंने मिथ्यात्वकी सेनाओंको सत्तासे ही नष्टभ्रष्ट करके भगा दिया है और जो क्षायिक सम्यक्तकी दृष्टिसे निर्भय हो स्वसमरानन्दका अनुभवकर तृप्त रहते हुए अचिन्त्य रहते हैं।

(८)

आनन्दकन्द, अविनाशी, परम निरञ्जनत्व मनन अभ्यासी आत्मा इस समय मिथ्यात्व भूमिकामें घिरा हुआ हुआ मोहराजाके प्रबल भटोंकी सेना द्वारा चारों ओरसे दुखी और व्याकुल हो रहा है। अभेद विवक्षासे उदय योग्य ११२ प्रकृतियों (स्पर्शादिमेंसे ४ लेकर १६ बाद दे तथा ५ बन्धन, ५ संघातको शरीरोंमें ही गर्भित कर १० बाद दे, १४८मेंसे २६ जानेसे १२२ प्रकृति उदय योग्य होती हैं।) की सेनामें सम्यक्प्रकृति, सत्यमिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृतिकी सेना अपना बल नहीं दिखला रही है। बड़ी कठिनतासे किसी काललब्धिके वश परोपकारी सद्गुरुद्वारा इस आत्माने जिस अनादि मिथ्यात्वसे अपना पग छुड़ा लिया था, खेद है कि इसीने फिर इसको दबा

दिया। अब यह फिर पहिलेके समान बावला हो रहा है। जितने शत्रुओंकी सेना इसको निराकुल सुखानुभवसे रोक रही है उतने ही शत्रुओंकी सेनाए बराबर आती रहतीहैं और इसको बावली रहती हैं। इस आत्माकी सत्ता भूमिमें अब सर्व १४९ शत्रुओंकी सेना ही खड़ी है, क्योंकि अभी तक यह न तो छठे गुणस्थानमें चढ़ सका है और न इसे केवली श्रुतकेवलीकी निकटता हुई है और न १६ कारण भावनाका ऐसा मनन ही किया है जो इसे तीर्थंकर प्रकृतिकी सेना मधनमें डाले। बहुत काल्तक इस दीन आत्माको कर्म शत्रुओंसे अपनी निर्बल दशामें लड़ते हुए और हारते हुवे देखकर परम दयालु सत्यमित्र विद्याधर आते हैं और उसे ललकार कर कहते हैं, "हे आत्मन् किधर गाफिल हो रहा है!! देखो कितने परिश्रमसे तूने मिथ्यात्व और ४ कषायोंको दबाया था!!! परन्तु तेरे प्रमादसे वे अब ५ से ७ होगए हैं अब तुझे साहस करनेकी आवश्यक्ता है। मैं तत्वज्ञानरूपी मेरे निकटवर्ती मुसाहबको तेरे पास छोड़ता हूं। तू इसकी सहायता से इसकी सम्मतिसे युद्धकर अवश्य विजयी होगा'" सच है, जो सच्चे मित्र होते हैं वे दुखीकी आपत्तियोंको मेटनके लिये अपनी शक्तिभर परिश्रम उठा नहीं रखते। तत्वज्ञानसे पुन पुन हरएक नियमें विचारके साथ वतनवाला धीर आत्मा फिर निज पुरषाथ सम्हाल बड़ी ही वीरतासे कर्म-शत्रुओंसे युद्ध करता है देखते २ प्रायोग्यलब्धिसे पांच कर्मोंकी दशाको निर्बल कर देता है और शीघ्र ही तीनों कारणोंके द्वारा सातों प्रकृतियोंको फिर दबाकर याने उपशमकर प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टी हो

जाता है और यहां आकर स्वरूपाचरण चारित्रमें रमन करता है। धन्य है परिणामरूपी संसारकी विचित्रता, जिसने इस आत्माको आनकी आनमें विषय सुखकी श्रद्धासे हटाकर अतीन्द्रिय आत्मीक अनुभवकी दशाकी श्रद्धामें लाकर खड़ा कर दिया है। अब यह परम सुखी अपने परिश्रमको सफल लख स्वसमरानन्दका स्वाद ले अमृतानन्दी हो रहा है।।

(९)

अपनी अनुभूति सत्ता भूमिमें सम्यग्दृष्टी आत्मा यद्यपि बहुतसे कर्म वर्गणाओंकी सेनासे घिरा हुआ है और इसपर बाणोंकी वर्षा हो रही है, तथापि चार अनंतानुबंधी कषाय और तीनों मिथ्यात्वके दब जानेसे मोहकी सर्व सेनाका बल घट गया है और यह शिवसुखका अभिलाषी मोक्षनगरीके राज्य करनेका इच्छुक अपने शुभाशुभ कर्मोंके उदयमई आक्रमणोंसे कुछ हर्ष विषाद नहीं करता है। सत्य विद्याधरके आज्ञारूप वचनोंमें श्रद्धा धार यह भव्य जीव इस श्रद्धामें तन्मय हो रहा है कि मैं शीघ्र ही कर्मशत्रुओंका विजयी होऊंगा। यह साहसी अब अपने आत्माके मनोहर उपवनमें आकर सैर करता है और उसमें प्रफुल्लित होनेवाले स्वगुण वृक्षोंकी शोभा देख परम सुखी होता है। जो सुख नौ ग्रीवकवाले मिथ्यादृष्टी अहमिन्द्रोंको नहीं प्राप्त है, जो सुख सम्यक्त रहित चक्रवर्तीके भागमें नहीं आता है, उस सुखको भोगनेवाला यह धीर वीर हो रहा है। सत्य है जो कोई निज उपयोग परिणतिको सर्व ज्ञेय पदार्थोंसे सकोच परमात्माके शुद्ध अनुभवमें जोड़ता है, और थोड़ी देरके लिये धम-

जाता है उस समय उसको स्वस्वरूपकी अद्भुत बहार नजर आती है। ऐसी दशामें यह आत्मा भी सज्जित हो गया है। अब इसको कर्मशत्रुओंके आने, रहने तथा आक्रमणोंकी कुछ भी परवाह नहीं है। यद्यपि इसने स्वस्वरूपकी चिन्ता रक्खी है, परन्तु जिन सात शत्रुओंके बिना सारी मोहकी फौज बलहीन मालूम होती है वे ही शत्रु फिर इसको दबानेका उद्यम करते हैं।

यह बिचारा अतर्मुहूर्त ही ठहरा था कि यकायक सम्यग् मिथ्यात्व नाम दर्शन मोहनीकी दूसरी प्रकृतिके योद्धाओंने इसको दबा दिया, और यह बिचारा चौथे गुणस्थानसे गिरकर तीसरेमें आ गया है। यहा इसकी बहुत ही बुरी दुर्गति है। मिथ्यात्व सम्यक्त दोनोंका मिश्र भाव दही गुड़के स्वादके समान इसके अनुभवमें आ रहा है। मिश्र प्रकृतिके बाणोंके पड़नेसे इसकी चेष्टा विह्वल हो रही है। धन्य हैं वे पुरुष जो इस प्रकृतिका विध्वंश कर क्षायक सम्यक्ती होते हैं। और फिर कभी भी इस शत्रुसे दबाये नहीं जाते हैं। स्वस्वरूपके अनुभवके स्वादी हैं, वे ही **स्वसमरानन्दका** आल्हाद ले परम तृप्ति पाते हैं।

(१०)

निश्चय नयसे शुद्ध चैतन्यता विलासी परमतत्त्व अभ्यासी ज्ञानगुणविकासी आत्मा व्यवहार नयसे कर्मबंधनमें पड़ा हुआ मोह शत्रुके द्वारा अनेक प्रकारसे त्रासित किया जा रहा है। कर्म शत्रुओंसे युद्ध करना एक बडा ही कठिन कार्य है। जो इस युद्धमें घबड़ाते नहीं किंतु तत्वविचारकी सहायताके भरोसेपर साहसी रहते हैं, वे ही अनादि कालसे संसारी आत्माको दु:खित

करनेवाले कर्मोंको दूर भगाते हैं । मिश्रगुणस्थानकी भूमिकामें यह आत्मा आगया है । मिश्र मोहनीका बल प्रबल हो गया है । इस समय (११७-१६-२५-२ आयु) ७४ कर्म प्रकृतियोंकी सेना समय २ आकर बढती जाती है। दूसरेमें १०१ आती थीं। अब २५ तो दुसरे ही तक रहीं तथा आयुकर्मका बंध इस मिश्र-गुणस्थानमें होता नहीं, इससे दो आयु प्रकृति घटी । परन्तु १०० कर्म शत्रुओंकी सेना इस गुणस्थानमें इस आत्माको अपने असरसे बाधित कर रही है । दूसरे गुणस्थानमें जब १११ प्रकृतियोंकी सेना दुखी कर रही थी, तब यहां अनन्तानुबंधी ४ और एकेंद्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, तथा स्थावर ऐसे ९ कर्मोंकी सेनाए दब गई हैं, तथा मरणके अभावसे नर्क सिवाय तीन शेष आनुपूर्वी घटानेपर और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति मिलानेपर १०० प्रकृति अपना जोर कर रही हैं । रणभूमिकी सत्तामें देखो तो जो सातवेंमें नहीं चढा है, उसके आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग तथा तीर्थंकर इन तीनको छोड १४५ कर्मप्रकृतिकी सेना अपना बल कर रही हैं । वास्तवमें इस समय भी यह आत्मा बड़ी ही गफलतमें है । इसके मिश्र परिणामोंकी पहचान अत्यंत सूक्ष्म है । एक अंतर्मुहूर्त ही नहीं बीता था कि यह आत्मा फिर मिथ्यात्वके तीव्रोदयसे प्रथम गुणस्थानकी भूमिमें आजाता है और पहलेकी तरह महामोहके बंधनमें बंध जाता है । वास्तवमें परिणामोंकी लड़ाई बड़ी ही कठिन है । पलक मारनेके भीतर ही इनकी उलटपुलट अवस्था हो जाती है । जो वीर भेदविज्ञानके भयानक शस्त्रको हाथमें रखते हैं वे ही इन शत्रुओंके हमलोंसे अपनेको

द्वाराजका कार्य एक हो रहा है । अन्तर केवल सराग और वीतरागका है ! ध य हैं वे वीतरागी सिद्ध भगवान जिनका ध्यान सरागी जीव करते वीतरागी हो जाते हैं और आगी साधक और साध्य दोनों अवस्थामें स्वसमरानन्दके कारण और कार्यसे द्रवीभूत होता हुआ जो परमामृत रस उसका स्वाद लेते हुए परमतृप्त रहते हैं ।

(१२)

उपशम सम्यक्तकी मनोहर भूमिकामें केल करनेवाला आत्मा नव शिवरमणीके प्यारकी चिन्ताओंको कर रहा था और उनकी मुहब्बतसे पैदा होनेवाले आनन्दके लाभको ले रहा था, तब उधर मोहराजाके प्रबल सात भट जो आत्मवीरकी सेनासे थकके बैठ गए थे, बारबार मोहराजा द्वारा प्रेरित किये जानेपर भी नहीं उठे। अन्तर्मुहूर्त तक मोहने इसका उद्यम किया परंतु बिल्कुल दाल न गली । आत्मवीरके विशुद्ध परिणामरूपी योद्धाओंने इस कदर उन सातोंको परेशान किया था कि उनमेंसे छ तो बिलकुल निद्रित ही हो गए । सातवां सेनापति जिसका नाम सम्यक्तमोहनी प्रकृति था, जागता रहा । मोहकी डपटमें आकर वह उठा और ऐसी गफलतमें उस वीरपर आक्रमण किया कि वह आत्मवीर उसको हटा नहीं सका। इसका प्रतिफल यह हुआ कि वह आत्म वीर उपशम सम्यक्तकी भूमिकासे च्युत होकर क्षयोपशम सम्यक्तकी जमीनमें आगया । इसने आते ही आत्मवीरकी सेनाके शुद्ध परिणामरूपी योद्धाओंके अन्दर मलीनता छा दी उनको और चलायमान कर दिया । उपशम सम्यक्तकी हालतमें सर्व

थोड़ा नीचे मैल बैठे हुए निर्मल जलके समान उज्वल थे, अब ऐसे होगए जैसे नीचेका मैल ऊपर साफ पानीमें मिल जानेसे पानीकी हालत मैली हो जाती है। उपशमसम्यक्तमें किसी आयु-कर्मका बंध नहीं होता था, अब यहां मोहकी प्रेरणासे आयुकर्म—सेनापतिने अपनी सेना युद्धभूमिमें भेजना भी ठान लिया। सच है, निर्बल दशाको देखने ही शत्रुओंका दबाव होता है। इस भूमिकामें आनकर आत्मवीर इतना तो सचेत ही रहा कि इसने किसी भी तरह उन ७ बड़े मोहके सैनिकोंको उठने नहीं दिया। यद्यपि सम्यक्त मोहनीने आकर किसी कदर अपना नशा आत्मवीरकी सेनामें फैलाया तथापि इसकी सेना चौथे गुणस्थानसे नहीं हटी। मैं निश्चयसे शुद्धबुद्ध स्वभाव, ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी हूं। कर्मसम्बन्ध अनादि होनेपर भी त्यागने योग्य है। निज अनुभूति यद्यपि नवीन है, परन्तु ग्रहण करने योग्य है, इस विचारको इस वीरने नहीं त्यागा। तथा सम्यक्त मोहनीके बलने कभी २ सप्त भयोंमें फसाया, कभी २ संसारीक भोगोंकी तृष्णाको बढवाया, कभी २ पर पदार्थोंमें उदासीनताके बदले घृणाको उत्पन्न कराया, कभी २ आत्मज्ञान रहित पुरुषोंका धर्मपद्धतिसे आदर सत्कार करवाया, तौ भी चौथे गुणस्थानसे कभी इसको धर्मपद्धतिसे गिरा नहीं सका और न इस आत्मवीरके पुरुषार्थको कम कर सका। यह वीर अपनी भूमिकामें खडा हुआ, आगे चलनेकी कोशिशकर रहा है और इस उपायमें है कि अप्रत्याख्यानावरणी कषायोंकी सेनाको दबाके [illegible] गुणस्थानमें चढ जाउ। धन्य है यह श्रीगुरु [illegible]

मुक्त हो जाता है। मोहके प्रबल योद्धारूपी कषायोंके द्वारा त्रासित किये जानेपर भी यह अचल रहता है और प्रत्याख्याना-वरणी चारों कषायोंको भी विध्वंस करनेका उपाय करता है। भय-विकारोंसे रहित, निज सत्तावलम्बी, अनुभव-रसके पानेसे बलिष्ठ भावको धारण करने वाला धर्मध्यानकी महान् खड्ग अत्यंत शांतता और धीरताके साथ चलाता है, और बाल-रेत समान कषायोंके चारों योद्धाओंको ऐसा डराता तथा घबड़ा देता है कि वे एकाएक दबके बैठ जाते हैं। उनका उपशम होना कि इस वीरकी शुभ भावकी सेनामें साहस और आनन्दकी ऐसी वृद्धि होती है कि यह वीर झटसे लंगोटको भी त्याग देता है। लंगोटके त्यागते ही सातवें गुणस्थानमें उछल जाता है और तब मुनिके रूपमें सर्व परिग्रह-रहित हो आत्म-ध्यानके विचारोंको इतनी मजबूतीसे अपने आपमें और अपनी आत्मामें कायम रखता है कि छठे गुणस्थानी मुनीकी ऐसी प्रमाद रहित और सावचेतीकी अवस्था नहीं होती। परन्तु इस अवस्थामें इस आत्मवीरको जो परमाल्हादकी छटा और उन्मत्तता आती है, उसके रसमें वह इस कदर बलके साथ निमग्न हो जाता है कि इसका कदम सातवेंमें एक अन्तर्मुहूर्त ही ठहरने पाता है। प्रमादके आते ही यह छठी भूमिकामें गिर जाता है। तौ भी यह साहसहीन नहीं होता। अपनी कमरको दृढ़ बाध कर्मोंसे लड़ता ही है। वास्तवमें जिन जीवोंको साध्यकी सिद्धि करनी होती है, वे जीव अपने साधनमें कभी भूल नहीं करते। जिनको किसी अमिट संयोग प्राणप्रियाके दर्शनोंकी और उसको अर्धांगिणी बनानेकी कामना

होती है वे सदा ही परम दृढ़ताके साथ उद्योगशील रहते हैं। सुधाके स्वादका जो रसिक हो जाता है वह सर्व स्वादोंसे रहित परमानन्दमई **स्वसमरानन्द**की महिमाका विलास करनेमें परम संतोषी रहता है।

(१६)

परम सुखमई राज्यका लोभी होकर यह आत्मवीर मोहके निमित्त कारण बाह्य परिग्रहके भारको त्याग हलका हो मोह राजाको दिखला रहा है कि अब मैं सर्वथा बेधड़क हो तेरी सेनाके नाश करनेमें उद्यत हो गया हूं। मैने वैराग्य-धाराको रखनेवाली तीव्र ध्यानमई खड्ग हाथमें उठाई है और सर्व प्रपंचजालसे छूट गया हूं। इसी लिये वस्त्र भी उतार डाले हैं, क्योंकि एक लंगोटीका संबंध भी इस मनुष्यके अनेक विकल्प पैदा करता है-ऐसा धीरवीर परमहंस स्वरूप यह वीर निश्चल होकर धर्मध्यानके द्वारा मोहसे लड़नेको तैयार हो गया है। जब यह आत्मा स्वरूप रूप-समुद्रमें गुप्त हो डुबकी लगाता है तब सातवें गुणस्थानमें स्थिर हो जाता है। जब विकल्पमई विचारोंमें उलझता है तब छठेमें ही ठहरता है। प्रमादके कारण छठे स्थानका नाम **प्रमत्तगुण स्थान** है। आहार लेने हुए ग्रासका निगलना तथा विहार करते हुए समितिका पालन जब करता है तब छठी भूमिमें रहता है, परन्तु इनकार्यों ही के अतरालमें जब स्वस्वरूपमें रमता है तब सातवीं भूमिमें आजाता है। इस प्रकार चढ़ाव उतार करते हुए भी मोहकी सेनाको खूब साहसके साथ दबा रहा है। इस समय प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ सेनापतियोंकी सेनानें

तो आना ही बन्द कर दिया। केवल ६३ प्रकृतियोंकी ही कर्म फौज आती है तथा इसके साथ युद्ध करनेवाली सेनाओंमें पहिले ८७ प्रकृति थीं, अब प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यंगति तिर्यगायु, उद्योत और नीच गोत्र युद्धस्थलसे चल दिये केवल ७९ प्रकारकी सेना रह गई। परन्तु इस समय आत्मावीरके पराक्रमको देख मोहकी ये तीन प्रकारकी सेना युद्धस्थलमें आ तो गई, परन्तु आत्मवीरके साथ प्रीति उत्पन्न होनेके कारण इसकी हानि न करके मदद ही करती हैं। वे तीर्थंकर, आहारक अना हारक प्रकृतियोंकी सेनाएं हैं। इनको भी मिलाया जाय तो आत्मवीरके सामने ८१ सेनाएँ खड़ी हैं। यदि मोहकी फौजको देखा जाय तो इस समय नरकायु और तिर्यकआयुके सिवाय १४६ की सत्ता विद्यमान है। छठी श्रेणीमें तिर्यगायु सत्तासे भागती है। ऐसी सेनाओंका मुकाबला होते हुए भी यह धीरवीर नहीं घबड़ाता है। अपनी शान्तता, वीतरागतासे अपने परम मित्र विद्याधर द्वारा भेजे हुए दशधर्म, द्वादश तप, द्वादश भावना आदि वीरोंकी सेनाके प्रतापसे यह परमसुखकी रुचिसे भारी युद्ध कर रहा है और इस स्वसमरानन्दमें कवलीन हो अतीन्द्रिय आनन्दकी श्रद्धासे परमामृतका पान करता है।

(१७)

मोह-शत्रुसे अत्यन्त साहसके साथ युद्ध करनेवाला चेतन वीर छठी श्रेणीमें अपने पराक्रमके प्रतापसे जब संज्वलन कषाय और नौ नोकषायकी सेनाओंको अपने वीतरागमय तीक्षण बाण रूपी परिणामोंके बलसे ऐसा बलहीन बनाता है कि उनका मुख

कुण्डला जाता है; तब यह वीर झटसे सातवीं अप्रमत्त श्रेणीमें आ चमकता है। यद्यपि कई बार मोहसे प्रेरित होने पर जब यही तेरह प्रकारकी सेनाएं फिर अपने जोरमें आती हैं तब यह एक श्रेणी नीचे गिर जाता है और फिर अपनी अप्रमत्तताकी सावधानीसे चढ़ जाता है। तथापि अब इस वीरने बहुत ही दृढ़ता पकड़ी है और गिरनेसे हटकर आगेकी श्रेणीमें चढ़नेको ही उत्सुक हो रहा है। धन्य है यह आत्मवीर! इसने अब सातिशय अप्रमत्तके पथपर पग धरा है तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान-माया लोभकी सेनाओंको ऐसा छिन्नमान कर दिया है कि वे अपने नामको छोड़कर अप्रत्याख्यानादिकी सेनाओंमें जा मिल गई हैं तथा दर्शन मोहनीयकी तीनों प्रकारकी सेनाओंको ऐसा दबा दिया है कि वे अब बहुत काल तक अपना सिर न उठाएगी। इस क्रियाके साहसको देख इसके परम मित्र विद्याधरने इसकी सहायको द्वितीयोपशमसम्यक्त्व नामक योद्धाको भेज दिया है। इसकी मददके बलसे अब यह अपने विशुद्ध परिणामरूपी दलोंको अब प्रवृत्तिकरणके चक्रव्यूहमें सजाता है और चारित्रमोहनीयकी २१ प्रकृतियोंको उपशम करनेका प्रयत्न करता है। इस अप्रमत्तश्रेणीमें इस आत्म-वीरके पास अस्थिर, अशुभ, अयश स्कीर्ति, अरति, शोक और असाता-इन छह प्रकृतियोंकी सेनाओंने आना बिल्कुल बन्द कर दिया है। इसके विरुद्ध यह एक अचम्भेकी बात देखनेमें आई है कि मोहकी सेनासे चिढ़कर आहारक शरीर और आहारक अंगोपांगकी सेना इसके कार्यमें सहाय पहुंचानेको इसके पास आने लगी है।

यद्यपि ये सहकारी हैं तथापि इस सावधान सम्यक्ती वीरको इनका भी विश्वास नहीं। वह इनको भी अपना विरोधी ही मानता है। आत्म-वीरके ज्ञानकी अपेक्षा अब इसके मुकाबलेमें ९९ प्रकारकी सेनाए आ रही हैं। छठी श्रेणीमें ८१ प्रकारकी सेनाए मुकाबलेमें युद्ध कर रही थीं। अब **आहारक शरीर आहारक अंगोपांग**, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला और स्त्यान गृद्धि-इन ५ ने मुकाबला करना बन्द करदिया है, केवल ७६ ही सामने खड़ी हैं। यद्यपि मोहके युद्ध-स्थलमें अभीतक १४९ प्रकारकी सेनाए बैठी हुई हैं। ऐसी हालत होनेपर भी इस साहसीको धर्मध्यानके चारों पायोंका पूरा २ बल है। अब आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय तथा स्थानविचय ध्यानके सहकारी पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानकी तलवारें चमकती हैं तब मोहकी सारी फौज कांप जाती है और इधर आत्म-वीरकी वीतराग परिणतिरूपी सेनाकी आवलीमें अत्यंत तीक्ष्ण वेग होता है, उत्साहकी उन्नत ज्वाला चढ़ती आती है। इसीके जोरसे अब वह उपशम श्रेणीमें चढ़ मोहके दलोंको मूर्छित बनानेका प्रयत्न करनेको उद्यमवत हो गया है।

धन्य है आत्मज्ञानकी महिमा और तिसकी प्राप्तिकी अभिलाषा! यह धीरवीर मुनि अनेक परीषहोंको सहता है। अनेक प्रकार देव, मनुष्य, तिर्यंच व आकस्मिक घटनाओंद्वारा पीड़ित किये जानेपर भी अपने कर्तव्यसे जरा भी विमुख नहीं होता है। आपमें आप ही आपसे ही आपको आपके लिये

अपना रहा है। इसकी चित्त-मग्नता और एकाग्रताका क्या ठिकाना है। इस अपूर्व अनुभव स्वादमें रमता हुआ यह वीर मोहसे युद्ध करता हुआ भी परम शांत रहता है और स्वसमरानंदका विलास देख परम संतोष माना करता है।

(१८)

आत्मरसिक वीर भवनीरके तीरमें धीर हो अपनी गंभीर शक्तिसे धर्मध्यानके चार सरदारोंको अपने वशमें किये हुए उनके द्वारा ऐसा एकाग्रमन हो कर्मोंसे युद्ध करता है कि अब इसके साम्हने ४ संज्वलन और ९ नोकषायकी सेनाओंका इतना बल घट गया है कि वे इसको सातवीं श्रेणीसे नीचे नहीं गिरासक्ते। यह परमात्मतत्त्ववेदी वैराग्य-अमृतके मोमनसे पुष्टताको प्राप्त अपने दलसमूहके संघट्टसे मोहशत्रुकी सत्ताभूमिमें विराजित अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभकी सेनाओंको ऐसा दबा रहा है कि वे सर्व सेनाएं बहुत ही दुःखी हो गई हैं और अपने बधदलको छोड़कर प्रत्याख्यानावरणादि कषायोंके दलोंमें जा छिपी हैं अर्थात् अपनेको विसंयोजित कर लिया है तथा दर्शनमोहनीकी तीनों प्रकृतिमई सेनाओंको भी ऐसा दबा देता है कि वे बहुत कालतक उठनेके लिये असमर्थ हो जाती हैं। इस क्रियाके किये जानेके पश्चात् इसका नाम द्वितीयोपशम सम्यक्दृष्टि हो जाता है और तब श्रीगुरु विद्याधर आकर इसकी पीठ ठोकते हैं और शाबासी देते हुए उत्तेजित करते हैं कि, हे भव्य! अब तू साहसको न छोड और जिन दलोंने तेरे वीतराग चारित्ररूपी पुत्रको कैद कर रक्खा है उन दलोंको निवारण कर अर्थात् चारित्र

मोहनीकी २१ प्रकृतिरूपी सेनाओंको दबानेमें प्रयत्न कर। इस प्रकार हिम्मत पा वह वीर चुप नहीं होता, अपने शुद्ध परिणाम रूपी फौजोंमें ऐसी उत्तेजना करता है कि वे अध प्रवृत्तिकरणके समान समय २ अपनेमें अनन्तगुणी शक्ति बढ़ाते हैं। शक्तिके बढ़ते ही यह वीर झटसे आठवीं श्रेणी अपूर्वकरणमें चला जाता है और पृथक्त्ववितर्कविचार शुक्लध्यानरूपी योद्धाके बलसे अपूर्व २ छटाको पढ़ाता हुआ चारित्र मोहनीके दलको उपशमा रहा है। इसकी ऐसी तेजीके कारण मोहकी सेनामें देवायुकी फौजोंका आना बंद होगया। सातवीं श्रेणीमें ५९ प्रकृतियोंके नवीन दल आते थे। अब ५८ के ही आते हैं तथा सम्यक्त प्रकृति, अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिक सह ननकी फौजोंने इस आत्मवीरका साम्हना करना छोड़ दिया। इसके पहले ७६ प्रकृतिका दल मुकाबलेमें था। अब केवल ७२ का ही रह गया है। तो भी मोहशत्रुकी युद्ध सत्ता भूमिमें अभी १४२ प्रकृतियोंका दल बैठा हुआ है। यहां अनंतानुबन्धी ४ कषायोंका दल नहीं रहा है। इस प्रकार आत्मवीर और मोह-शत्रुका भयानक युद्ध हो रहा है। आत्मवीर शिवतियाके मोहमें फसा हुआ इस आशामें उछल कूद रहा है कि वह अब शीघ्र ही मुक्त महलमें पहुंचकर अपना मनोरथ सिद्ध कर लेगा। उसे यह नहीं खबर है कि अभी तक मोहकी सेनाओंके सर्वसे प्रबल योद्धा अनंतानुबंधी कषाय और दर्शन मोहनीयकी सात प्रकारकी सेनाओंका संहार नहीं हुआ है और वे इस घातमें हैं कि यह अपने प्रयत्नसे नहीं थके कि हम इसको गिरा देवें और कैद कर लेवें।

तौ भी इस समय यह प्रथम शुक्लध्यानके शुद्ध शुक्ल–रंगमें रंजायमान होता हुआ अपनी मह बुद्धिमें उन्मत्त होकर सर्व जगतको भुला चुका है और अपनेको ही शुद्ध चिन्मात्र ज्योतिका धारक परमात्मा समझ रहा है। मैं और परमात्मा भिन्न २ हैं, इस विकल्पको भी उड़ा दिया है। मैं ध्यान करता हूं ऐसा कर्तापनेका अहंकार भी नहीं रहा है। इस समय यह स्वानुभव रसका भोग भोग रहा है और उसके रसमें ऐसा मगन हो रहा है जैसा एक भ्रमर कमलकी सुगंधमें मुग्ध हो जावे। तथापि इस विकल्पसे दूरवर्ती है कि मैं स्वानुभव कर रहा हूं। बाहरसे देखो तो इस वीरकी मूर्ति सुमेरु पर्वतके समान निश्चल है। यद्यपि अंतरंगमें श्रुतके भावका व श्रुतके पदका व योगके आलम्बनका परिवर्तन हो जाता है तो भी इस स्वरूप मगनकी बुद्धिमें कुछ नहीं झलकता। जैसे उन्मत्त पुरुषके मुखकी और शरीरकी चेष्टा बदलती है, परंतु उसके रंगमें बाधाकारक नहीं होती। आठवें पदमें विराजित ध्यानी आत्मवीरकी ऐसी ही कोई अपूर्व परिणति है। इसकी निराली छटा इसीके अनुभवगोचर है या श्रीसर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित है। यह योद्धा अपने गुरु विद्याधरकी कृपासे आत्मीक सम्पदाका उपभोग करता हुआ मोह शत्रुके मुकाबलेमें किसी प्रकार न दबता हुआ स्वसमरानन्दके सुखमें अद्भुत तृप्तिकी उपलब्धि कर रहा है।

(१०)

परमात्मतत्त्व वेदी, निजानन्द अनुरागी, स्वसंवेदन भागी शिवरमणि–आसक्तधारी निजगुण साहस विस्तारी आत्मवीर आठवें स्वस्वरूपकी मगनतासे ऐसा बलिष्ठ हो गया है कि इसने

अपने शुद्ध परिणामरूपी सेनाओंके जोरसे मोहशत्रुकी १६ प्रकारकी सेनाओंका नवीन आगमन रोक दिया है और एकाएक आठवेंसे नवमें गुणस्थानमें आगया है। जिन शुद्ध परिणामोंके द्वारा चारित्रमोहनीके बलोंको निर्मूल करनेके लिये इस वीरने सातवें दरवाजेमें करणलब्धिका प्रारंभ किया था उन शुद्ध परिणामोंकी जो अपूर्व छटा आठवीं श्रेणीमें थी उससे अति विलक्षण महिमा इस समय इन शुद्ध परिणामरूपी दलोंकी हो गई है।

इस अनिवृत्तिकरणमें जितने समय इस आत्मवीरको ठहरना होता है उतने समयके लिये प्रति समय अद्भुत ही अद्भुत शुद्ध परिणामोंकी सेना विद्याधर गुरुद्वारा प्रेषित की जारही है। इस श्रेणीकी कुछ ऐसी गति है कि जितने वीर, योद्धा, विद्याधर गुरुकी कृपासे मोह-शत्रुसे युद्ध करते १ एक ही समयमें इसमें आजाते हैं उन सबके लिये एकसी ही शुद्ध परिणामोंकी सेना सहायताके लिये आ जाती है। इन परिणामरूपी योद्धाओंकी आहट पाते ही नीचे लिखी ३६ प्रकारकी सेनाओंको मोह राजाने भेजना बंदकर दिया है। निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त, विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस शरीर, कार्माणशरीर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय।

अब यहां केवल २२ प्रकृतियोंकी ही सेना मोहद्वारा प्रेषित की जाती है। आठवीं श्रेणीमें जब ७२ प्रकृतियोंकी सेना

गुणस्थानमें थी अब यहां हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा इन छह प्रकारकी सेनाओंने अपनी प्रमाद अवस्था कर ली है, केवल १६ ही दल सन्मुख हैं। यद्यपि मोह–राजाके चक्रव्यूहके क्षेत्रमें अब भी १४२ दलोंका ही अस्तित्व है। अंतर्मुहूर्तके समयके अंदर ही इस आत्मवीरने अपने पराक्रम और शुक्ल ध्यानमई दलोंके प्रतापसे मोहके प्रबल योद्धा क्रोध, मान, माया, लोभ और वेदोंकी सेनाओंको विह्वल और निर्बल कर दिया है। सम्यग्ज्ञान द्वारा पवनसे प्रेरित वीतराग चारित्ररूपी ध्यानकी अग्निको जिस समय यह आत्मवीर प्रज्वलित करता है एकाएक कर्मोंके दल शिथिलताको प्राप्त हो जाते हैं। जितनी २ दिलाई कर्मोंके दलोंमें होती है उतनी २ पुष्टता आत्मवीरकी शुद्ध परिणामरूपी सेनाओंमें होती जाती है। इस समय आत्मवीरकी सेनाओंमें अपूर्व आनन्द है। अपने साहसके उमगसे रची हुई अपनी सेनाको देखकर यह आत्मवीर परमसंतोषित हो रहा है, भव–कीचडसे मानो आपको निकला हुआ मान रहा है, जगतके जंजालोंसे मानो पृथक् हो रहा है। यद्यपि यह वीर निजस्वरूपानुभवमें लीन है और बुद्धिपूर्वक विकल्पोंसे पृथक् है तथापि विकल्पमें प्रसित तत्व खोजी पुरुषोंके लिये इस आत्मवीरकी अवस्था अनेक प्रकारसे मनन करनेके योग्य है। वास्तवमें जिन जीवोंको मोहके फंदोंका पता लग जाता है और जो जिन विधिका कुछ भी ठिकाना पा लेते हैं तथा अपने विश्रामपदकी श्रद्धामें तन्मय हो जाते हैं वे जीव मोहसे समर करनेमें किसी प्रकार नहीं हटते और कमर बांधकर जब कर्मदलके भगानेको उद्यत हो जाते हैं तब अपने

उद्योतके अनुभवमें स्वसमरानन्दको पाते हुए विशाल आत्म भावके प्रकाशमें उद्योतरूप रहते हैं।

(२०)

महावीर धीर समरशील उत्साह-गम्भीर आत्मराजा, मोहके युद्धमें विजयको प्राप्त करता हुआ अपनी अचल शक्ति और विद्याधर गुरुकी सहायतासे जो आनन्द और उमंग प्राप्त कर रहा है उसका वर्णन करना वाणीसे अगोचर है। भला जिस रसिकको आत्म-रससे बने हुए परम अमृतमई व्यञ्जनोंका स्वाद मिल जाता है वह जिह्वाइन्द्रीकी तृष्णाके निशानोंकी क्या परवाह कर सकता है? उसके स्वाभिमानकी गणना गणनासे भी बाह्य है। उसकी शांतताकी शीतलता चन्दनमालतीको भी लजानेवाली है। उसकी धीरताकी अक्षोभता पर्वतको भी तिरस्कार करनेवाली है। जिस विलासिनी प्रिय अनुभूति सखीकी रुचि इस आत्मानन्द आशक्तको अपने कार्यमें परम दृढ किये हुए है। अनिवृत्तिकरणके पक्षमें यह धीर मोह नृपके परम विशाल कषाय-योद्धाओंकी सेनाका बल प्रति समय अधिक २ घटाता जा रहा है। इसकी शुक्लध्यानरूपी खड्गके चमकनेसे मोहका सारा बल कम्पित हो रहा है, युद्ध स्थलमें पग जमता नहीं। मोह दलकी असावधानी देख आत्मवीर झटसे १० वीं श्रेणीमें चढ़ जाता है और सूक्ष्मसापरायके स्थलमें कषायोंमेंसे केवल सज्वलनलोभको ही अपने सामने अत्यन्त कृश और दुर्बल अवस्थामें खड़ा पाता है। अब मोह लाचार हो पुम्षवेद, सज्वलनक्रोध, मान, माया, ०, ऐसे पांच प्रकारके सेनादलको युद्धस्थलमें भेजना बन्द

कर दिया है, केवल १७ प्रकृतियोंकी नई सेना आती है। तौ भी सामना करनेको अभी ६० दलोंकी एकत्रता हो रही है। केवल यहां **स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया** ऐसे छह दलोंने सामना करना बंदकर दिया है। परन्तु मोहके सत्तामय युद्धस्थलमें अभी १४२ प्रकृतियोंकी सेना मौजूद है। जितनी ९ वीं में थी उतनी ही है। मोहको युद्धमें हटाना कोई सुगम कार्य नहीं है। मोहके गोरखधन्धेको काट डालना किसी साधारण गरुडका काम नहीं है। इसके लिये सच्चा श्रद्धानी साहसी वीर पुरुष ही होना चाहिये। जिसने तत्त्वामृतसे अपने आत्माको धोना प्रारम्भ किया है, जिसने सर्व ओरसे उपयोग हटा एक निजमें ही निजको थामा है, जिसने सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान चारित्रके तीनपनेको मिटा दिया है, जिसने निज शक्तिकी सुप्तता हटा डाली है—वही धीरवीर इस पदमें पहुंचकर स्थिर हो जाता है और रहे सहे अत्यंत निर्बल लोभकी सेनाको भी भगानेका उद्यम करता है। ऐसे ही उद्योगशील मोक्ष पुरुषार्थीको भवविपिननिरोधक **स्वसमरानंद**का विलास आत्माके अनुभवमें प्राप्त होता है।

(२१)

गुणगणसमृद्धि-धारी अनुपम धाम-विहारी चैतन्यपद-विस्तारी मुक्तितिया समोहकारी आत्मवीर मोहके साथ युद्ध करते २ अति दृढ हो गया है। यह वीर अपने शुद्धोपयोग योद्धाके बलिष्ठ सिपाहियोंके प्रभावसे सज्वलन-लोभकी सेनाको ऐसा छिन्नभिन्न और दुःखी कर देता है कि वह सारी सेना दबकर

नीचे बैठ जाती है और यह एकाएक ग्यारहवीं श्रेणीमें पहुंच जाता है। अब यहाँ चारित्रमोहनीयकी सर्व २१ प्रकृतियोंकी सेना उपशांत हो गई है। वीतराग चारित्ररूपी परम मित्रकी अब सहायता प्राप्त हो गई है। उपशांतमोह गुणस्थानके स्वभावमें निश्चल रह वीतराग विज्ञानताका आनन्द अनुभव करना इसका कार्य हो गया है। अब यहां मोहके दबनेसे ज्ञानावर्णीकी ५, दर्शनावर्णीकी ४, अन्तरायकी ५, नामकर्ममें यशकीर्ति और उच्चगोत्र ऐसे १६ प्रकृतियोंकी नवीन सेनाओंका आना बन्द हो गया है, केवल सातावेदनीयकी ही सेना आती है। इसके पहले ६० प्रकृतियोंकी सेना सामने खड़ी थी, यहां संज्वलन–लोभने विदा ली, केवल ५९ सेनाएं ही मुकाबलेमें हैं। यद्यपि मोहराजाके युद्ध–क्षेत्रमें अब भी १४२ प्रकारकी सेनाएं डेरा डाले पड़ी हैं। यथाख्यातचारित्रके सम्यक् अनुभवमें इस आत्मवीरके शुद्धोपयोगकी अनुपम छटाका वचनातीत आनंद प्राप्त हो रहा है। इसके आनंदमें मैं सिद्धस्वरूप हूं–यह विकल्प भी स्थान नहीं पाता। अब यह मुक्ति–महलके बहुत करीब हो गया है, अपनी पूर्व अवस्था क्या थी यह भी विकल्प नहीं उठाता। आत्मावीर अपने अंतरंगमें ६ द्रव्यका नाटक देख रहा है, परन्तु आश्चर्य यही है कि उसमें अपने भावको रमाता नहीं। सिवाय निजात्म भूमिके उसका उपयोग कहीं जाता नहीं। उस भूमिमें विराजित निज अनुभूति सखीसे ही हर समय वार्तालाप करना इसका काम हो गया है। यद्यपि अभी बहुतसी सेनाएं खड़ी हैं मोहके खास २ योद्धाओंके युद्धसे मुंह मोड़ लेनेपर यह

बिलकुल वेखटके हो गया है जैसे कोई युद्धसे लडते २ थककर विश्राम लेता है और तब आराममें मग्न हो जाता है। ऐसे ही यह धीरवीर अपने अन्तरंगमें अपने आन्तरिक चैनमें डूब गया है। सत्य तो यह है कि जो साहसी होता है वही उद्योगके बलसे मीठे फलोंको चखता है। यह आत्मघन-धनी अपने प्रभावशाली तेजसे निजमें लय हो **स्वसमरानन्दका** स्वाद-भोग अकुल और अमन हो रहा है।

(२२)

यह आत्माराम ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुंच कर और सारे मोहके खास योद्धाओंको दबाकर परम शांत और यथाख्यातचारित्रमें मग्न हो गया है और अपने शुक्लध्यानकी तन्मयतामें लीन हो कर्म-शत्रुओंके बलसे मानो निडर हो गया है। इसको इस वीतराग परिणतिमें रमते हुए जो आनन्द होता है उसका स्वाद लेते हुए अन्य सर्व स्वाद व अन्य सर्व विचार लुप्तरूप हो गये हैं। जैसे कोई विषयान्ध राजा किसी स्त्रीके प्रेममें मुग्ध होता हुआ रनवासमें बैठा हो और उसके किलेके बाहर शत्रुकी सेना डेरा डाले पड़ी हुई हो। उसी तरह इस श्रेणीवालेकी दशा हो रही है। इस वीर आत्माकी ध्यान खड्गकी चोटोंसे मोहनीयकर्मकी जो मुख्य २ सेनाएं चपेट खाकर गिर पड़ी थीं और थोड़ी देर याने केवल अन्तर्मुहूर्तके लिये अचेत हो गई थीं, वे एकाएक सचेत होनी शुरू होती हैं। देखते २ ही सज्वलन लोभरूपी योद्धा, जो अभी थोड़ी देर पहले ही अचेत हो गया था, उठता है और अपने आक्रमणसे उस बेखबर आत्मवीरको घेरा दबाता

है कि उसकी यह स्वरूपसावधानी टूट जाती है और लाचार हो विचारेको ग्यारहवां स्थान छोड़ना पड़ता है। दसवेंमें आता है। यहां कुछ दम लेता ही है कि इसको निर्बल देख संज्वलन क्रोध, मान, माया व नोकषायकी सेनाएं भी घेर लेती हैं और इसको दसवेंसे नौवेंमें, नौवेंसे आठवेंमें और आठवेंसे हटाकर सातवेंमें पटक देती हैं। ज्यों २ यह गिरता है–इसकी ऊंची सावधानी नीची होती जाती है, त्यों २ ही कषायोंकी सेनाएं बल पकड़ती जाती हैं। वास्तवमें जो युद्धमें लड़नेवाले हैं उनके लिये बड़ीभारी सावधानी चाहिये। यह युद्ध परिणामोंका है, इसमें विशुद्धताकी कमी ही असावधानीका कारण है। कुछ आत्मवीरकी प्रमाद अवस्था नहीं।

सातवें गुणस्थानमें ठहरा ही था कि एकाएक अप्रत्याख्यानावरणी और प्रत्याख्यानावरणीकषाय उदयमें आकर उसको दबा देते हैं और यह विचारा गिरकर सातवेंसे छठे और छठेसे चौथेमें आ जाता है। देखिये, विशुद्धरूप परिणामोंकी सेनाओंकी निर्बलता जो कषायकी सेनाओंसे दबती चली जाती है। ग्यारहवेंका धनी चौथेमें आ गया है। चारित्रकी प्रबलता हट गई है। संयमके छूटनेसे भावोंमें चारित्र हीनता छा गई है। केवल श्रद्धान और स्वरूपाचरण चारित्र ही मौजूद हैं यद्यपि चारित्रका आनन्द विघट गया है तथापि सम्यक्तका आनन्द तो भी इसको दृढ़ बनाये हुए है और फिर आगे चलनेकी उत्सुकता रख रहा है। परन्तु दबते को दबना ही पड़ता है। एकाएक मोहका सर्वसे प्रबल शत्रु ... आता है और अपनी प्रबल सेनाओंके बलसे ऐसा

दबाता है कि आत्मवीरके सारे सहायक योद्धा हट जाते हैं और उसको चौथेसे पहलेमें आ जाना पडता है। तब मिथ्यात्व भूमिमें पहलेके समान आकर संसारी अरविवान होकर पूर्णतया मोहके पंजेमें दब जाता है और यहां विषयोंकी अन्ध-श्रद्धा चित्तको आकुलित कर लेती है। तब इस विचारोंको स्वसमरानन्दका सुख मिलना बन्द हो जाता है। हा कष्ट! कहां अमृतका पान और कहां विषका स्वाद। अचमा नहीं।

(२३)

जो आत्माराम विद्याधर गुरुकी असीमकृपासे एक महामोहके कारागारसे निकल भागा था वह फिर पहले किसी दशामें होकर अतिशय हीनदीन हो गया है। विषयोंकी तृष्णाने उसके चित्तको आकुलित कर दिया है। चित्तमें अनेक प्रकारकी चाहनाएँ उठती हैं, किंतु पूरी होती नहीं, इस कारण यह आत्माराम अतिशय दुखी हो रहा है। यह यकायक एक उपवनमें जाता है और एक जनरहित शून्य वट वृक्षकी छायामें बैठ जाता है। उस समय अपनी हालतको इससे पहलेकी दशासे मिलान करता है, तो अपनेको मन और तन दोनोंमें अति क्लेशित पाता है। अपने भावोंकी अशुभताको सोच २ कर रह २ जाता है कि इसका कारण क्या है जो मेरेमें ऐसी गन्दगी आ गई है, मेरी सारी वीरता मुझसे जुदी हो गई है, निर्बलताने दबा लिया है,- क्या करूं! किधर जाऊं? इतना विचार आते ही चट कषायकी तीव्र कृष्णलेश्या एक ऐसा धक्का मारती है कि तुरत ही किसी इन्द्रीके विषयकी चाहसे मोहित हो उसी चाहसे तनमनको- जलाने लग

जाता है। यकायक उधरसे परम दयालु विद्याधर गुरु आते हैं और दूसरे इस आत्मकी ऐसी अधम चेष्टा देख सोचते हैं कि अरे क्या हो गया ? यह तो वही है जिसने अपने बलसे मोह राजाके सर्वसे प्रबल कषायरूपी सर्व वीरोंको दबा दिया था और यह ग्यारहवें स्थानपर पहुंचा गया था, केवल तीन ही स्थान तय करना बाकी रहे थे। यदि उन्हें और तय कर लेता तो अवश्य तीन लोकका नाथ होकर स्वानुभूतिका आनन्द सदाके लिये भोगता। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जबतक शत्रुका नाश न किया जाय तबतक उसके जोर पकड लेनेमें क्या रोक हो सकती है। वास्तवमें अब तो इसकी फिर पहले कीसी बुरी दशा हो रही है, परन्तु यह साहसी और उद्योगी है, अतएव परोपकारता करना चाहिये, मेमता है, देखना आती है और अपना प्रभाव उस पर जमानेके लिए उसी वक्त अपनी पुत्री देशनालब्धिको समझानेके लिये उसीके सामने बैठ अपने इष्टदेव परमशुद्ध परमात्माका मननकर भवातापकी गर्मी मिटाती है और निजस्वरूपके प्रेममें रत हो हृदयमें शांतिधारा बहा उसीके रसको स्वय पान करती है तथा कुछ रसके छींटे उस दुखी आत्माके ऊपर डालती है। यह उस छींटेको पाकर यकायक चौंकता है, फिर चाहकी दाहसे जलने लग जाताहै।

सच है मिथ्यात वैरी इस जीवका परमशत्रु है। जो साहस कर इसका सर्वथा विध्वंश कर डालते हैं, वे ही **स्वसमरानन्द** को पाकर जगनायक हो जाते हैं।

(१४)

परमकल्याणरूपिणी जगदुद्धारकारिणी सुपथ–प्रकाशिनी विद्याधरकी सुपुत्री '**देशनालब्धि**" के बारबार परमामृतके

छिड़कनेसे ग्लानितचित्त आत्मारामकी मलीनता हटती है और यकायक जागृत हो अपने वास्तविक स्वरूपको विचारने लग जाता है कि, ओहो ! मैं तो परम शुद्ध सिद्ध सदृश ज्ञानानन्दी आत्मा हू, मेरी जाति और सिद्ध महाराजकी जातिमें कोई अन्तर नहीं, मेरेमें वर्तमानमें जो मलीनता है उसका कारण मेरा कर्म-सेना-ओंसे घिरा हुआ रहना है। सच है, वृथा ही इन्द्रिय-जनित सुखोंको सुख कल्पकर आकुल व्याकुल हो रहा हू। इन दुष्ट इन्द्रियोंसे किसी भी आत्माकी तृप्ति नहीं हो सकी। अहा ! देशना सखी बड़ी हितकारिणी है। यह सत्य कहती है। मैं जिस सुखकी चाहना करता हू वह सुख तो मेरा स्वभाव है। मेरे ही में विद्यमान है। मैं अपने भंडारको भूलकर दुखी हो रहा हू। आज इस सखीकी कृपासे मेरे चित्तको बड़ा ही आल्हाद हुआ है, ऐसा विचार उस सखीसे हाथ जोड कहता है कि, हे भगिनी तुम इसी प्रकार मुझपर कृपा करके प्रति दिवस अपना पुष्ट-धर्मामृत-जल मेरेमें सींचा करो, जिससे मेरा निर्बलपना जावे और साहस पैदा हो, कि मैं फिर उद्यम करके मोहके चुगलसे छूट। इस प्रकार इस आत्मारामकी चेष्टा देख आयु बिना सातों कर्मोंकी सेनाए जो इसको घेरे हुए हैं कांप उठती हैं। इतना ही नहीं सेनामेंके कई कायर सिपाही अपने बलको घटा हुआ मानने लगते हैं। आत्मारामकी प्रार्थनानुसार देशनालब्धि अपना पुन पुन उपकार प्रदर्शित करती है। ज्यों २ इसके ऊपर देशनाका असर पडता है, कर्म-सेनाका बल शिथिल और स्थिति सकोचरूप होती यहा तक कि ७० कोडाकोडी सागरकी स्थिति

थोड़ाकोड़ी सागरके भीतरकी ही रह जाती है। देशनालब्धिसे ऐसा शुभ अवसर होता देख परम दयालु विवारगुरु 'प्रायोग्य लब्धि'को भेजते हैं। इस सखीके बलसे कर्म-सेना और भी अपने जोर और स्थितिको घंग लेती है। आत्माराम अपने साहसको बढ़ाता है और इस सखीके पूर्ण बलको पा अनन्तानुबन्धी क्रोध अ० मान, अ० माया अ० लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक्त मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व-इन सात योद्धाओंके बलको नाश करनेका दृढ़ संकल्प कर करणलब्धि'की ज्यों ही सहायता पाता है, त्योंही समय २ पर मोहकी सेनाको दबाए जाता है और अपने पास विशुद्ध परिणामोंकी सेनाओंको बढ़ाए जाता है। अन्तर्मुहूर्तके इस प्रयत्नसे वह आत्मवीर अति शीघ्र ही इन सातोंको दबा उपशमसम्यक्तकी श्रेणीपर चढ़कर अपनी विजयका डंका बजाता और पुन शिव-रमणीमें आसक्त हो जगत्के क्षणिक सुखोंसे बाह्य स्वसमरानन्दका अनुभव लेता हुआ सुखी होता है।

(२९)

आत्मवीरको मोहनृपके जालसे बचनेके लिये जो कष्ट उठाना पड़ते हैं उनका अनुभव उसे ही है। धन्य है इस परिश्रमीका साहस, जो इसने मोहनृपकी सेनाके बलको एक दफे दबा लिया था और जो अपने स्थानपर पहुंचनेके निकट ही था, पर उस मोहके तीव्र धोखेमें आजानेपर यह ऐसा गिरा कि महा मिथ्यात् शत्रुके आधीन हो गया, पर इसने तब भी हिम्मत न हारी और इस प्रकार दृढ़ता रखनेसे अब तमें यह सम्यक्ती

श्रेणीपर चढ़ ही गया। यह बात देख मोह-नृपके पक्षियोंको बड़ा ही कष्ट हुआ है और वे जिस तिस प्रकार इस वीरको इस श्रेणी से डिगाना चाहते हैं, परन्तु इस समय यह धीर होकर अपने स्वरूपको न भुलाकर वहांसे अपना कदम नहीं हटाता है। **दर्शनमोहनीय** योद्धाके तीन आधीन चाकर **मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त प्रकृति मिथ्यात्व** यद्यपि दब गये हैं, परन्तु युद्ध भूमिसे हटे नहीं हैं और -मोह-नृपसे प्रेरित किये जानेपर तीनों ही इस दावमें लगे हैं कि इसको इस श्रेणीसे च्युत करें। परन्तु इस वीरके अंतरंगमें -अपने आत्मशुद्ध बुद्ध परम तेजस्वी पनकी ऐसी श्रद्धा विद्यमान है और यह **प्रशम, संवेग, अनुकम्प और आस्तिक्य** योद्धाओंकी सेनाओंको शत्रुकी विपक्षमें ऐसी दृढ़तासे जमाए है कि इसकी **परिणाम** रूपी सेना-दलोंके सामने उन तीनोंकी सेनाओंका कुछ बल नहीं चलता। परन्तु उन तीनोंकी सेनाओंमेंसे **सम्यक्तप्रकृति**-की सेना बड़ी चतुर है, देखनेमें बड़ी सरल मालूम होती है। उसने आत्मवीरकी सेनामें दाव पाकर ऐसा मेल बढ़ाया कि उसके वशमें जाकर सेना दलको मलीन करने लगी, व सम वीरकी सेनाको शिथिल करनेका उपदेश देने लगी। कभी र भोले भीव मोहमें पड़ अपनी न्मता गमा बैठते हैं। ठीक यही हालत इसकी हुई। जात्मवीर यद्यपि इस श्रेणीसे च्युत नहीं हुआ है तथापि **सम्यक्तप्रकृतिकी** सेनाका प्रभाव पड़ जानेसे चल मलिन, अगाढ़ रूप हो जाया करता है। यद्यपि इसको मोक्षके अनुपम आनंदकी श्रद्धा है तथापि कभी २ सशंकित हो जाता

है और फिर एकाएक सम्हल जाता है । कभी २ इन्द्रिय विषयोंकी चाहनाको उपादेय मानने लगता है कि एकाएक सम्हल जाता है । इस तरह २५ मल दोषोंमेंसे कभी किसी न किसीके झपेटमें आ जाता है । अपने आत्मद्रव्यकी शक्तिकी अपेक्षासे परमात्मासे भिन्न श्रद्धान रखते हुए भी कभी २ निश्चयसे भी भिन्नता समझ लेता है और तुरत सम्हल जाता है । अपने स्वरूप समाधिमें रहना ही उपादेय समझता है, परन्तु कभी २ पंचपरमेष्टीकी भक्तिको ही एकान्तसे सर्वथा मोक्ष-कारण जानने लग जाता है, परन्तु तुरत ही सम्हल जाता है । इस प्रकारकी मलीन, चलित और अगाढ अवस्थाको भोगता हुआ भी अपने सम्यक्श्रद्धानसे गिरता नहीं । मिथ्यात्व और मिश्र लाखों ही यत्न करते हैं, परन्तु इसकी विरतासे मिटा नहीं सके । ऐसी **क्षयोपशम** सम्यक्तकी अवस्थामें यह वीर जब सम्यक्त्वसे सुलते विलक्षण आत्माधीन सुखको ही अपने आपमें अनुभव करता हुआ और अपने सत् स्वरूपी सर्व अन्य द्रव्य, गुण, पर्यायोंसे पृथक् भावता हुआ जो आनंदका अनुभव करता है वह अनुभव परिग्रही सम्यक्तरहित षट्खंडाधिपति चक्रवर्तीको भी नहीं हो सक्ता । धन्य है यह वीर जो इस प्रकार साहस कर महान मोह-शत्रुसे युद्धकर अद्भुत **स्वसमरानन्द**का स्वाद ले रहा है ।

(१६)

अब यह आत्मवीर **क्षयोपशमसम्यक्तके** मनोहर वस्त्रोंसे सुसज्जित हो परमात्म परम पवित्र **महावीर सन्मति वीर-अतिवीर-वर्द्धमान** स्वरूप श्री शुद्धात्म राजाकी

सभामें उपस्थित हो चहु ओर दृष्टि फैलाकर देखता है तो सभामें परमसौम्य, सहजानन्दरससे भरपूर स्वाभाविक छटामें कल्लोल करनेवाली अनेक चिशक्त मूर्तियें विराजमान हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त, क्षमाभाव, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, तत्रूप, अतत्‌रूप, एकरूप, अनेकरूप, स्वद्रव्यअस्तित्व, परद्रव्यनास्तित्व, स्वक्षेत्रअस्तित्व, परक्षेत्रनास्तित्व, स्वकालअस्तित्व, परकालअस्तित्व, स्वभावअस्तित्व, परभावनास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि परम शान्त गुण परम समताभावके साथमें एक ही स्थलपर अविरोधताके साथ विराजमान हैं। श्रीजिनेन्द्र महावीर परमात्माके उपयोगरूप देहसे अनुभव स्वरूप परम दिव्यध्वनि अपनी गंभीरता, सत्यता, मनोहरता और वीतरागतासे सर्व सभा उपस्थित सभासदोंको आनंदित करती हुई परमनिजस्वादुरूप अमृतसे तृप्त कर रही है। इस समयकी छटा निराली है। सर्व सभामें एक समता छा रही है। जैसे शरदऋतुके निर्मल बादलोंसे आकाश आच्छादित हो परम शोभा विस्तारता है उसी तरह अनुभव रसकी धाराओंके बरसनेसे सिवाय इस स्वरसकी शोभाके और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। इन धाराओंका ऐसा प्रभाव है कि अनादि संसारताप एकदम शान्त होकर मिट जाता है। विषयभोगकी तृषासे त्रासित व्यक्ति अनेक विषयोंमें दौड़ २ कर जानेसे केवल खेद ही उठाता है या अधिक तृषाके बलको बढ़ाकर परम दुःखी होता है। ऐसे दुःखी मोही जीवकी तृषा इस स्वरसके कुछेक बिन्दुओंके पान करनेसे ही मिट जाती है और फिर विषयतृषाकी वासना

जाती है। परन्तु निज रस सुधा समूहको बारम्बार पीनेकी उत्कंठा और चाहना उमड़ आती है। यह क्षयोपशमसम्पत्ती जीव परम वीरोत्तम श्री शुद्ध वीरनाथकी सभाके दर्शन कर, केवल दर्शन ही नहीं, उनके स्वरूपके ध्यानमें लौलीन हो अपना जन्म कृतार्थ मान रहा है, तो भी कभी २ स्वरूपसे च्युत हो झोका खा विषयानुरागमें चला जाता है–यह इसमें निर्बलता है। अभी इसके युद्धक्षेत्रमें सम्यक्तमोहनी अपनी सेनाको बैठाले हुए है। यह चचलता उसीकी हुई है। पर यह तुरन्त सम्हलता है और अपने स्वरूपमें आ विरामता है। और श्री आत्मवीरकी निर्वाण लक्ष्मीकी अर्चाके अर्थ और उनके प्रतापसे अपना मोह–अन्धकार मिटानेके लिये ज्ञान–ज्योतिके ज्ञानमय विकल्प स्वरूप अनेक प्रकाशमान भावदीपकोंको प्रज्वलित करता है। और इन्हींके प्रकाशमें शोभित होता हुआ व शोभा विस्तारता हुआ दीपावलीका महान उत्सव मना रहा है। श्रीवीर प्रभुकी अर्चाके अर्थ इसने स्वाभाविक आत्मज्ञानमई मोदक तय्यार किये हैं। जिनको भक्षित करनेसे भाविक जीवोंका क्षुधारूपी रोग सदाके लिये छूट जाता है। इन अनुपम मोदकोंको परम [illegible] वर स्फटिक मणिमय निज सत्ताकी रकाबीमें विराजमान कर और तीन रत्नमई परम दीपको स्थापित कर बड़ी ही सार और सुघट भक्तिसे श्री परमात्म प्रभु और उनकी निर्वाण लक्ष्मीका पूजन करता है। इस समय और इस क्षण कि जब श्रीमहावीर परमात्मने सर्व परसम्बन्धोंको हटाकर अपनी मुक्तिनियामें सम्मेलन कर परम तृप्तताका लाभ किया है–इस नैवेद्य और दीपपूजन

ही की मुख्यता है। इस समय-युद्ध रुक गया है। इस समय-यह सम्यक्ती परम गाढ भावसे निज अनुभव रसमें ही मग्न है। फिर किसकी ताब है जो इसके स्वरूपको चलायमान कर सके। यद्यपि यह स्वस्वरूपावरोही है, परन्तु अभी तक मोह राजाके प्रपंचोंसे बाहर नहीं गया है। यह भव्य जीव इस बातको जानता है। इसीलिये भेदविज्ञानशस्त्रको सम्हाले हुए सदा सावधान रह स्वसमरानन्दके अनुभवका भोग भोग रहा है।

(२७)

— श्रीवीर जिनेन्द्र परमात्माकी हार्दिक रुचिसे भक्ति और पूजन कर यह क्षयोपशम सम्यक्ती जीव अपनी चौथी श्रेणीमें ही अपनी प्रतीति सम्बन्धी परिणाम रूपी सेनामें चचलता देख विचारता है और इस चचलताका कारणरूप सम्यक्तमोहनीकी सेनाओंका अपने ऊपर आक्रमण जान इस कलंकसे अपनेको बचानेके लिये निज शुद्ध स्वभावमई परमानन्द केवलीकी शरण ग्रहण करता है और उनके शुद्ध सद्गुणमई चरणारविन्दोंमें टकटकी लगा निरखता है। विद्याधर सद्गुरुके प्रतापसे तुरन्त ही करणरूप शुद्ध भावोंकी सेनाके दल इस भव्य जीवकी सहायताके लिये प्राप्त हो जाते हैं। यह शुद्ध-भाव दल एकदमसे मोह राजाकी सेनामें घसते हैं। सामने सम्यक्तमोहनीकी सेना और इसके इधर उधर व पीछे, मिथ्यात्व मिश्र और अनन्तानुबंधी कषायोंकी सेना उपस्थित है। करणरूप, सेनाके भावरूप सिपाही भेद-विज्ञानमई तीक्ष्ण खड्गको लिये हुए सातों प्रकृतिकी सेनाओंको काट रहे हैं। वास्तवमें इन सेनाओंने बहुरूपियेका रूप बना लिया

रूप भावोंकी भेद-विज्ञानमई खड्गमें यह गुण है कि वह किसीके प्राण नहीं लेती, परन्तु इसकी वक्रताको मेट देती है, तब वह रूपियापना मिट जाता है, सारे पुद्गलकी मोह-माया अलग हो जाती है। तब जीवकी निर्मल भावरूप ही सेना बन जाती है, जो शीघ्र ही मोह पक्षको त्याग चेतन पक्षमें आ जाती है। इस खड्गके अनोखे अभ्याससे सातों प्रकृतिकी सेनाएं शनैः २ अपना रूप छोड़ देती हैं और मोहके युद्ध क्षेत्रमेंसे विदा हो जाती हैं। अब तो इस आत्मवीरने बड़ी भारी विजय कर डाली है। अनादि कालसे आत्माको विह्वल करनेवाले शत्रुओंका नाम निशान तक भी मिटा दिया है। धन्य है! अब तो यह वीर क्षायिकसम्यक्त्वकी उपलब्धिमें परम तृप्त हो रहा है। स्वरूपाचरण चारित्र अविनाभावी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मित्रोंकी सुसंगतिमें अपने आपको कृतार्थ मानता हुआ निज अनुभूतियाके स्वरूप-निरखनमें एकाग्र हो रहा है। षट् द्रव्योंकी निज-स्वरूपता-दर्पणमें पदार्थके समान प्रतिभासमान हो रही हैं, जिधर देखता है समता स्वरसता और शान्तताका ही ठाठ दीख रहा है। जैसे भांग पीनेवालेको सब हरा ही हरा झलकता है वैसे ही इस स्वरस पानी उन्मत्तको सब स्वरस रूप ही प्रकाशमान रहा है। मानो यह सारा लोक अनुभव-रससे भरपूर परम शांत क्षोभरहित एक सागर है और यह उसीमें डूबा हुआ बेखबर पड़ा है। सम्यक्त्वरत्न जिसके मस्तकपर चमकता हुआ स्वरूप विपर्यय और कारण विपर्यय रूपी अंधकारको हटा रहा है। इस अपूर्व लाभमें ज्ञान वैराग्य योद्धाओंका सन्मान करता हुआ यह

आत्मवीर स्वरूप तन्मयतामें अटका हुआ **स्वसमरानंद**का स्वाद ले स्वपथ अवरोही हो रहा है।

(२८)

चतुर्थ शुद्ध गुणस्थानावरोही स्वात्मानुभवी क्षायिकसम्यग्दृष्टी आत्मवीर संसार स्थित जीवोंके अनादि कालीन तीव्र शत्रु और मोह राजाके परम प्रिय और बलिष्ठ योद्धा सम्‍यक्‍त्‍व मोह–कर्मपर अमिट, अपूर्व, और निश्चय मोह विध्वंशनी विजयकी उपलब्धिसे अकथनीय आनन्द और मुक्ति–कन्याके अनुपम निर्मल मुख अवलोकनके उल्लासमें तन्मय हो रहा है और दृढ साहस पकड मोहकी अवशेष बृहत् कर्मरूप सेनाके विध्वंस करनेको भेदविज्ञानमई अटूट खड्गको उठाता है और उसकी निर्मल कान्तिको चमकाता हुआ अति निर्भयतासे मोह–दलमें प्रवेश करता है। विशुद्ध परिणामरूप सिपाहियोंकी मददसे आनकी आनमें **अप्रत्याख्यानावरणी कषायके** चार योद्धाओंकी सेनाको ऐसा दुःखित करता है कि वे विह्वल होकर सामना छोड भागती हैं और अति दूर जा भयके साथ छिपकर बैठ रहती हैं। इतनेहीमें **देशचारित्र** योद्धाकी ११ प्रकारकी सेनाएं जो अप्रत्याख्यानावरणीके दलोंके तेजके सामने नहीं आ सक्ती थीं, अब झूमती हुई व आनन्द मनाती हुई व त्यागके सुगन्धित रंगोंकी अपनी मनोहर पोशाकोंसे झल्काती हुई युद्धक्षेत्रमें आके अपने वैराग्यमई शस्त्रोंको चलानेके लिये कमर कसके खडी हो जाती है और विशुद्ध परिणामोंद्वारा अविभाग प्रतिच्छेदरूप बाणोंकी वर्षा

। जिस कारणसे सारी मोहकी सेना शिथिल पड़ जाती है और शुभलेश्याका रंग बिल्कुल मिटकर शुभ तीन लेश्याओंका बदलता आ रंग इस आत्मवीरकी सेनामें प्रकाशमान होने लगता । इस समय मोह दलमेंसे भय खाके निम्न प्रकृतिरूपी सेनाके लोंने अपनी सेनामें वृद्धि करना छोड़ दिया है और इतनी सेना ोंने युद्धक्षेत्रके छट भागको अवलम्बन लिया है। यह क्षायिक ाम्यक्ती आत्मवीर इस प्रकार श्रावककी क्रियाओंके बाह्य आल बनद्वारा अंतरंग स्वरूपाचरण चारित्रमें अधिक २ वृद्धि कर हा है और कर्मकलंकसे व्यक्ति अपेक्षा आच्छादित होनेपर भी क्ति अपेक्षा अपनेको शुद्ध निरंजन ज्ञानानंदमय अनुभव कर रहा है। जिस शुद्ध अनुभवके प्रतापसे अपनी विशुद्ध परिणामरूपी सेनाओंको ऐसा सुखी और संतोषी बना रहा है कि उनके भीतर शक्ति बढ़ती चली जा रही है और बारबार अपने विद्याधर गुरुको नमस्कारके परमोपकारीके गुणोंको अपनी कृतज्ञतासे नहीं भूलता हुआ हार्दिक भक्ति और साम्यभावरूपी परम विचारशील मंत्रियोंके प्रभावसे अपने उदयमें परम विश्रांत और परम आनंदित होता हुआ और शुक्तिकन्याका प्रेरित अनुभूति सखीसे आत्मारूपी आराममें सैल करता हुआ जब उसके गुणरूपी वृक्षोंकी शोभामें टकटकी लगा देखते २ एकाग्र हो जाता है तब सर्व विरसोंसे पृथग्भूत निज रसके अद्भुत और अनुपम स्वादको पा उन्मत्त हो स्वसमरानन्दमें बेखबर हो जाता है और उस समयके सुख, सत्ता, बोध और चैतन्यके अनुभवमें एकाग्र हो मानो आत्म-समुद्रमें डूबकर बैठ जाता है।

(२०,)

परम कल्याणका इच्छक निजगुणानन्दवर्द्धक सम्यग्दृष्टी आत्मा मोहमल्लसे युद्ध ठान उसके दलको दवाते २ पंचमगुणस्थानमें पहुंचकर और उसके योग्य सपूर्ण साजसामान बदल एकत्र कर अब इस योग्य हो गया है कि आगे बढे और जिस तरह हो सके शीघ्र ही आत्माके बैरीका विध्वंस कर सके। इस वीरने १४८ कर्मप्रकृतियोंके दलोंमेंसे ६१ प्रकृतियोंके दलोंको तो अपने सामनेसे भगा दिया है, केवल ८७ (१०४—अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियिक-शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति) प्रकृतियोंके दल ही युद्धको सामने उपस्थित हैं। इस वीरके विशुद्ध भावरूपी दल भी ऐसे वैसे नहीं हैं। आत्मानुभवरूपी अमृतका पान करते २ इनके अन्दर बलिष्ठता ऐसी बढ़ गई है कि ये मोहके दलोंको कोई चीज भी नहीं समझते। इसको अपने कार्यमें अति सावधान देख विद्याधर गुरु इसको पुकार कर कहते हैं–अरे वीर! साहस कर, प्रमाद चोरके वशमें न पड़, अब तू मोहके दलकी भी इष्ट चीजको जो तेरे पास हो अपने पाससे निकाल और सर्व मूर्छा और उसके कारणोंको मेट, शरीर मात्र परिग्रहका धारी रह और निर्द्वन्द विकार रहित होकर मोहके दलोंकि पीठ निरंतर ध्यानका अग्निबाण फेंक। इस ... साहस पाकर यह वीर आत्मा उठता है,

है और अन्य सर्व ओरसे चित्त हटा कर अपने दलोंके दृढ़ करनेमें उपयुक्त हो जाता है, श्रीविद्याधर गुरुके समीप सम्पूर्ण परिग्रह भारको त्याग बालकके समान विकार रहित होता है और केशोंका लोंचकर पचमहाव्रत रूपी महान सेनापतियोंकी सुसगति प्राप्त करता है। इनकी मददका मिलना कि यकायक प्रत्याख्यानावरणी कषायोंके दल दबकर बैठ जाते हैं। इस वीरका प्रयाण सातवें गुणस्थानमें हो जाता है। जिस जोरके साथ यह इस स्थलपर आता है उसी जोरके साथ दृढतासे जम जाता है, और सारे मोहके दलोंकी हिम्मत हरा देता है। उत्तम धर्म ध्यान शस्त्रके बलसे सर्व कर्मोंको कम्पायमान रखता हुआ आप अपने अतरगमें सर्व प्रमादको हन ऐसा हुल्लासमान रहता है कि जिसका वर्णन करना असभव है। आत्माकी शुद्ध परिणतिकी भावनामें तल्लीनता प्राप्त कर और अपनेको रूपातीत निरजन, निर्विकारी, परम गुणधनी, निजामृतसागर और अनत गुणोंका आकर अनुभव कर जो आनद प्राप्त कर रहा है वह ज्ञानीके अनुभव हीके गोचर है। इसकी सारी निर्बलता इस समय दब गई है। यह वीर आत्मा समता रसके श्रोतमें ऐसा डूब रहा है कि मोह शत्रुके दल भी इसे देख आश्चर्य करते हैं। इसकी इससमयकी शोभा निराली है, मुक्तितिया भी इस छविके निरखनेकी उत्सुक हो रही है। धन्य है यह वीर जिसने स्वपुरुषार्थ बलसे ऐसा उद्योग किया कि दीन हीन दरिद्रीसे आज परम धनका धनी भोगी हो गया है।

(३०)

परमात्मपदारोही, ध्यानमग्न ध्याता ध्यान ध्येयकी एकतामें तन्मय, स्वरूपावलम्बी सप्तम गुणस्थानी वीर आत्मा किस दृश्यका आनन्द भोग रहा है, इसका पता पाना ही दुर्लभ है, क्योंकि जिस समय वह निज कार्य्यमें तन्मय है उस समय वह वचनके प्रयोगसे रहित है, और जब वचन कल्पनामें पड़ता है तब उस दृश्यको अपने सामने नहीं पाता। इसलिये यही कहना होगा कि जो अनुभवे सो भी नहीं कह सक्ता और जो शास्त्रद्वारा जाने सो भी नहीं कह सक्ता। हां जो अनुभव करता है–आत्माका आस्वादी होता है, वह आस्वादसे च्युत हो जानेपर अपनी स्मृतिसे इस बातको जानता है कि अनुभव बड़ा ही आनन्दमय होता है, पर उस आनन्दके लक्षणको न तो वह भोग ही रहा है और न वह कह ही सक्ता है। और यदि वह कहनेका प्रयत्न करे तो संभव है कि वह अनेक दृष्टांत दार्ष्टांतोंसे उस श्रोताको सांसारिक इन्द्रियजनित सुखको सुख माननेसे हटा दे, परन्तु उसके हृदयमें उसके वचनोंके ही द्वारा विना स्वअनुभव पैदा हुए उस अतीन्द्रिय सुखका झलकाव हो जाना अतिशय असंभव है।

स्वरमणी–शिवरूपिणीकी आशक्तता, उसके स्वरूप स्मरणमें तन्मयता, निराकुलतासे उसी विचारमें थिरता, अमृतमई रसकी पेयना इस सप्तम क्षेत्रमें इस आत्मवीरको ऐसी प्राप्त हो गई है कि मोह शत्रुके सुभट ४ सज्वलन कषाय और ९ नोकषाय युद्धक्षेत्रमें इसके सन्मुख हो शस्त्र चलाते हैं, पर उनके निर्बल हाथोंसे फेंके हुए शस्त्र उस वीरके ऊपर ही ऊपर लगाकर गिर

जाते हैं, उसके खास भावरूपी उनपर अपना घाव नहीं कर सके। जब सबसे प्रबल सेनापतियोंकी यह दशा, तब अन्य सैन्यगणोंके प्रयोग कब काममें आ सक्ते हैं? यह वीर स्वसत्तामें ठहरा हुआ निज द्रव्यके अनुपम अनेक सामान्य और विशेष गुणरूपी रत्नोंको परख २ परम तृप्त हो हो रहा है। इस समय इसको यह अहंकार है कि मैं अटूट धनका धनी-निज आत्मविभूतिका स्वामी हूं। मेरे समान त्रैलोक्यमें सुखी नहीं। मैं जगतके अन्य सम्पूर्ण द्रव्योंकी व जीवोंकी भी सत्तासे भिन्न, पर निज स्वभावसे अभिन्न हूं। मैं अकलंकी कर्मरूपी कालिमासे परे हूं। मेरे कर्म, नोकर्म, द्रव्यकर्मसे कोई नाता नहीं है। मैं एकाकी निर्विकल्परूप स्वच्छ स्फटिक समान ज्ञाता द्रष्टा हूं। यद्यपि यह विकल्प भी उस स्वानुभवमें स्थान नहीं पाते, परन्तु वक्ताको उस अनुभवके हृदयकी दशा दिखलानी है, इससे उस निराकुल थिरभावको इन विकल्पों ही के द्वारा-कथन किया जाता है। स्वसंवेदीको स्वरसवेदनमें विकल्प नहीं, आकुलता नहीं, खेद नहीं। इस अवस्थामें देख मोह राजाको बड़ा ही आश्चर्य होता है कि अब मेरी पराजयता आनेवाली है,-अब इसको इस क्षेत्रसे गिरानेका फिर योग्य प्रयत्न करना चाहिये। वह मोह युद्धक्षेत्रमें आता है और इन तेरह ही सुभटोंको ललकारता है, डांटता है और फटकारता है। मोहकी प्रेरणासे प्रबलताको धार दीनताको छोड़ ज्यों ही वे तीव्र हृदय वेधक बाण छोड़ते हैं उस विचारेका उपयोग विचलित हो जाता है और आनकी आनमें वह सातवेंसे छठेमें आ पहुंचता है।

विकल्पोंकी तरंगें रुक रहीं थी वे एकाएक उठने लगती हैं,

समसान युद्ध फिर प्रारम्भ हो जाता है । उधर मोहके बाण, इधर वीरके विशुद्ध परिणामरूपी बाण दोनों खूब चलते हैं। परन्तु यह वीर, धीरवीर तुरंत ही अपने गुरु विद्याधरको याद करता है । ज्यों ही वे आते हैं, अपूर्व विशुद्ध परिणामोंकी सहा यता देते हैं कि यह प्रमादीसे अप्रमादी हो जाता है और फिर सातवीं भूमि पा लेता है । वे विचारे १५ सुभट अपनासा मुह ले रह जाते हैं। अपना बल चलता न जान दीन उदास हो जाते हैं। यह धीरवीर निजगुणानदी अदभुत स्वादके अनुरागमें मस्त हो जाता है, सब सुध बुध मानो विसरा देता है और यहांतक स्वानुभूतिसे एकमेक रमणता पा लेता है कि इसके सारे अग प्रत्यग वचन मन सब इससे मानों परे हो जाते हैं । यह कायो त्सर्गमें खड़ा हुआ आप ही आपको अपनेसे ही अपनेमें अपने लिये देखा करता है और उसी समय अपनेसे ही उत्पन्न स्वामृत रसको पिया करता है । धन्य है यह स्वरूपानन्दी ! इस स्वस-मरमें दृढतासे स्वलीन यह भव्य प्राणी सर्व आकुलताओंसे पृथक् निराकुल स्वसमरानन्दको भोग परमाल्हादित हो रहा है ।

(३१)

मोह राजासे युद्ध करते २ यद्यपि चिरकाल हो गया है, तौ भी साहसी चेतन अपने बलमें पूर्ण विश्वास रखता हुआ मोहके विध्वंशमें पूर्णतासे कमर कसे हुए अपनी सातवीं गुणस्थान रूपी भूमिमें बैठा हुआ अपने उज्वल परिणामोंकी सेनासे मोहके [illegible] बना रहा है । इस समय यह वीर स्वरूपमें [illegible] अच्छी तरह तन्मय है ।

द्धाओंको युद्ध करते हुए खेद होता है, मनमें कषायकी कलुषता होती है पर इस वीरको न खेद है न कलुषता है किन्तु इस सर्वके विरुद्ध इसके परिणामोंमें अपूर्व शांति और आनन्द है। जिस स्वानुभूति-तियाके लिये इस वीरका इतना परिश्रम है उसीमें गाढ रुचि व प्रेमको क्षण २ में आनन्द सागरमें निमग्न रखना है।

यह लीन है-अपने कार्य्यमें कुशल है, तो भी मोहके सज्वलन कषाय रूपी वीरोंने जो अभी २ अति निर्बल हो गए थे अपनी तेजी दिखलाई और ऐसी चपेट मारी कि उनके जोरके सामने चेतनके उज्वल परिणाम दबे और यह यकायक छठे गुणस्थानमें आगया। यद्यपि यहां उतनी दृढता नहीं है, तौभी चेतन अपने कार्य्यमें मजबूत है। यहांसे नीचे गिरानेका-यत्न शत्रुके दल भले ही करें पर इसके दृढ़ दलोंके सामने उनका जोर नहीं चलता। चेतन जब अपने दलोंका शुमार करता है तो देखता है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पाच बड़े २ सेनापति अपनी वीरतामें किसी तरह कम नहीं है।

निज सुख सत्ता चैतन्य बोध रूपी निधिको किसी भी प्रकारसे भ्रष्ट न होने देनेवाला अहिंसा महाव्रत है। सत्य यथार्थ निज स्वरूपकी निर्मलताको कायम रखनेवाला सत्य महाव्रत है। निज विभूतिके सिवाय अन्य किसीके कोई गुण व पर्यायको नहीं चुरानेवाला अस्तेय महाव्रत है। निज ब्रह्मस्वरूपमें थिरताके साथ चलनेवाला ब्रह्मचर्य महाव्रत है। और पर भावोंका त्यागरूप निज भावोंमें समता विधायक परिग्रह त्याग महाव्रत है। इसी ही

तरह पाच समितिकी सेनाए भी बडी ही अपूर्व हैं, जो सदा पांच महाव्रत रूपी सेनापतियोंकी रक्षा किया करती हैं। निज जीव सम समस्त जीवोंका अनुभव कर निज चरण प्रवृत्तिसे पर जीवोंको बाधासे बचानेवाली ईर्या समिति है। कर्कश कठोर वचन वर्गणाओंसे पर जीवोंको बाधा होती है ऐसा विचार सदा समता रस गर्भित शात ध्वनिको अतरगमें फैलाकर निज तत्वकी सत्यताको कायम रखनेवाली भाषा समिति है। व्यवहारिक शुद्ध आहार वर्गणाओंके ग्रहणसे केवल परकी तृप्ति जान निज अनुभवमई परम शुद्ध और स्वादिष्ट रसका आहार अपने आपको करा कर तृप्ति देनेवाली एषणा समिति है। व्यवहार प्रवर्तनमें शुभोपयोग द्वारा वर्तते हुए बधकी आशका कर निज उपयोगको अति सम्हालकर निज भूमिसे उठाते हुए व निज गुण व पर्यायके मनन रूपी गृहमें प्रवर्तते हुए निज वीतराग परिणतिको रक्षा देनेवाली आदान निक्षेपणा समिति है। निज आत्म सत्तामें बैठे हुए कर्म मलोंको अपनेसे हटाकर उनको उनके स्वरूपमें व आपको अपने स्वरूपमें निर्विकार रखनेवाली प्रतिष्ठापना समिति है। ऐसी अपूर्व समिति रूपी सेनाओंके सामने शत्रुकी सेना क्या कर सक्ती है। पचेन्द्रिय निरोधरूपी सेना भी बड़ी प्रबल है। यह प्रबल शत्रुओंके आस्रवोंको रोकनेवाली है। स्पर्श इन्द्रिय पर है, पुद्गल मय है, विनाशीक है। मैं स्वय चैतन्य स्वरूप अविनाशी हू— ऐसा अनुभव प्रधानी उपयोग निजस्वरूपके सिवाय अन्यको स्पर्श नहीं करता हुआ चेतनकी सेनाकी दृढतासे रक्षा करता है। रसना इन्द्रिय पुद्गलमई रसोंके आधीन है, कषायोंकी

आत्म प्रभुसे विलक्षण है—ऐसा जान ज्ञानोपयोग सर्व मिष्टादि रसोंका राग त्याग आत्म समुद्रमें भरे हुए पूर्णानन्द रूपी निर्मल रसको लेता हुआ परम तृप्त रहता है और किसी भी शत्रुकी सेनाके बहकानेमें नहीं पड़ता।

घ्राण इन्द्रिय जड़ वस्तुओंकी गंधके आधीन हो हर्ष विषाद करती है। इसकी यह परिणति वैभाविक है। मेरे स्वभावसे सर्वथा भिन्न है—ऐसा जान चेतनकी ज्ञान चेतना सर्व पर वस्तुओंके सामान्य स्वभावको वीतरागतासे देखती हुई अपूर्व सुगंधित निज आत्म रूपी कमलकी मनोहर स्वानुभूति रूपी गंधमें भ्रमरीकी तरह उलझकर लीन हो जाती है और पर पदार्थके गंधके मोहमें न पड़ शत्रुओंके आक्रमणोंसे सदा बचती रहती है। चक्षु इन्द्रिय पुद्गल परमाणुओंका संघट्ट है। अपनी पुद्गलमई परिणतिसे स्थूल पुद्गलोंको देख देख हर्ष विषाद करती हुई शत्रुओंको अपने पास बुलाती है—ऐसा जान ज्ञान दृष्टि सम्हलती है और न देखने योग्यकी परवाह न कर देखने योग्य अत्यन्त सुन्दर निज शुद्धात्म रूपको व अन्य आत्माओंके परम मनोहर शुद्ध स्वरूपको देखनेमें लीन होती हुई, अपूर्व आनन्द प्राप्त करती हुई ऐसी चौकसी रहती है कि इसकी सेनाके पहरेके सामने किसी भी शत्रुसेनाकी मजाल नहीं जो इस चेतनकी रणभूमिमें प्रवेश कर सके।

कर्ण इन्द्रिय स्वयं जड़ है। भाषा वर्गणामई जड़ शब्दोंको गृहण कर नाना प्रकार परिणति करती है। शत्रुओंको बुलाय कर चेतनकी हानि करती है, ऐसा जान भाव श्रुतज्ञान अपने अनुभव खड्गको लिए हुए मुस्तैद हो जाता है और ध्वनि सम्बन्धी

कल्प विकल्पोंकी परवाह न कर अपने निर्विकल्प स्वरूपके जानन माननमें तल्लीन रहता हुआ निज स्वामी चेतनको शत्रु दलसे दूर रह बचाता है।

इस तरह पचेन्द्रिय निरोध रूपी सेनाएं अपना कर्तव्य भले प्रकार करती हुई चेतन रूपी राजाकी सेवा बजा रही हैं।

उधर देखा जाता है तो छह आवश्यक क्रियाओंकी गभीर सेनाएं अपना ऐसा सगठन किये हुए हैं कि जिससे चेतनको अपनी सेनाका पूर्ण विश्वास है।

प्रतिक्रमणकी क्रिया पिछले दोषोंको हटाती हुई, जब अपने निश्चय स्वरूपमें परिपक्व हो जाती है तब चेतनकी भूमिमें शुद्धता स्वच्छता व मनोहरता ही दीखती है और ऐसी अपूर्व छटा झलकती है कि मानों चेतनकी सर्व सेनाओंमें अमृत-जल ही छिड़का हुआ है। यह दोष निर्मायनी सेना अपनी दृढतासे दोषजनित शत्रु दलोंके आगमनको रोके रहती है। प्रत्याख्यानकी क्रिया आगामी दोषोंसे राग व छुड़ाती हुई अपने निश्चय स्वरूपमें रह कर चेतनको निराकुल रखती है और उसे अपनी सत्ता व उसकी शक्तिका पूरा २ उपयोग करनेकी स्वतंत्रता प्रदान करती है। यह निर्मल सेना भविष्यत्से आनेवाले शत्रु दलको नहीं आने देती है।

वंदना क्रियाकी सेना जब अपनी व्यवहारकी शिथिल प्रवृत्तिमें थी तब कर्म शत्रुओंके लिये घर कर दिया करती थी, परन्तु अब यह सेना अपने शुद्ध आत्म स्वरूपमें ही लौलीन है उसकी पूजामें ही तन्मय है, चेतनको शुद्ध भावमें जागृत रखने यह सेना भी [illegible] आक्रमणसे बची रहती है।

सस्तव क्रियाने अपने असली रूपको सम्हाला है, अपने ही शुद्ध गुणोंके अनुभव रूपी स्तुतिमें भीगी हुई चेतनकी सर्व सेनाओंमें ऐसी सुन्दरता फैला रही है मानो सारी परिणाम रूपी सेनाको किसी अपूर्व विजयके सामने शांतमय पुरस्कार ही प्राप्त हुआ है।

यह सस्तव क्रिया चेतनको स्वस्वरूप व स्वमल्के स्मरणमें सावधान रखती हुई मोहके मनोहर ज्ञानरूपी जालमें पड़नेसे बचाती है।

सामायिक क्रियाकी सेना तो बहुत ही बहादरदार है। इसके सर्व योद्धाओंकी सूरत एक सी परम शांतमय और मनोहर है। सर्वका डीलडौल भी बराबर है। पोशाक भी सर्वकी एकसी श्वेत रंगकी है। यह सेना चेतनकी सारी सेनाओंकी शान है। इस सेनाके योद्धाओंके बान भी बड़े तीक्ष्ण व एक साथ चोट देनेवाले हैं, जिसकी चटसे कर्मशत्रुके दलके दल स्वाहा हो जाते हैं। यह परम स्वात्मगुणानुरागिणी वीतरागताकी शक्तिसे चमकनेवाली सामायिक क्रिया चेतनको अपनी शुद्ध भूमिमें दृढ़ताके साथ स्थिर रखनेवाली है, और ऐसी तेजशाली है कि इसके सामने शत्रुका एक भी योद्धा चेतनके सेनाकी भूमिकामें प्रवेश नहीं कर सक्ता।

कायोत्सर्ग क्रियाकी सेना अपनी दृढ़, ऊंची, एकता, शांतता व निज मनन रूपी पताकाको फहराये हुए चेतनकी सारी सेनाकी रक्षाके लिये दृढ़ स्तंभ स्वरूप है। इस क्रियाके प्रतापसे चेतन अपने सर्व शुद्ध परिणामोंके योद्धाओंके बलोंको एक साथ अनुभव करता हुआ परम तृप्त रहता है और ज्यों २ इस क्रियाका सहारा

ाता है, कर्म शत्रुओंके विध्वंस करनेका उत्कट साहस जमाता
ाता है।

इस तरह छह आवश्यक क्रियाओंकी सेनाओंको देखकर चेतन वीर परम प्रसन्न हो रहा है। प्रमत्तगुणस्थानमें ठहरा हुआ चेतन अपनी सर्व सेनाका अलग २ विचार करता हुआ अपने बलको पुष्ट जान और मोह शत्रुसे विजय पानेका पक्का निश्चयकर **स्वसमरानन्द**में तृप्त हो परमानन्दित रहता है।

(३२)

चैतन्य राजा अपनी पूर्ण शक्तिको लगाकर व अपनी २८ मूल गुण रूपी सेनाका विचार कर यकायक अपने उज्वल परिणामरूपी शस्त्रोंकी सम्हाल करता है और बातकी बातमें पट्टम श्रेणीसे सातवीं श्रेणीपर पहुच जाता है इस श्रेणीपर पहुचते ही अब तो यह अपने समरके एक तानमें ऐसा लीन होता है कि इसे और कोई ध्वनि ही नहीं सूझती है। यह क्षायिक सम्यग्दृष्टी है। स्वतत्त्वका अकप निश्चय रखनेवाला है। अपनी शक्तिकी व्यक्तिमें व मोहके जीतनेमें अटूट परिश्रम कर रहा है। यह वीर आत्मा अब सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानमें तन्मय है। अब नीचे गिरनेका नहीं, ऊपर ही ऊपर चढता है। इस समय मोह शत्रुकी सेनाए जो ६३ प्रकृतिरूप छठेमें आकर जमा होती थी सो उनमेसे ६ का आना बन्द हो गया। जैसे अस्थिर, अशुभ, असाता, अयशस्कीर्ति, अरति और शोक केवल ५७ ही आती हैं। हॉ जब यह आत्मा स्वस्थान अप्रमत्त अवस्थामें होता है तब इसके आहारक शरीर और आहारक अगोंमें पाच भी आते हैं। इस

समय चेतन राजाके सामने मैदानमें खडी हुई ८१ मेंसे आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, और स्त्यान गृद्धि निकाल करके ७६ ही प्रकृतियोंकी सेना है, तौ भी मोहके युद्ध क्षेत्रके अड्डेमें १४८ में से ३ दर्शनमोहनी, ४ अनंतानुबंधी कषाय, नरक व तिर्यंचायु इस तरह ९ निकाल कर केवल १३९ प्रकृतियोंकी कुल सेनाएं जमा हैं। अब भी इस उद्योगी वीरात्माको इन सब सेनाओंको विध्वंश करना है–बडा भारी काम है। तौ भी यह घबड़ाता नहीं, इसके परिणामोंमें बडी भारी शांतता है, बडी भारी वीरागता है, यहां ही ऊंचा धर्मध्यान है। रूपातीत ध्यानमें लय है जहां ध्यान, ध्याता, ध्येयका विकल्प नहीं है। इस समय इसके उपयोगरूपी दिशामें परमशांत निर्मल आत्मचंद्रमा अपनी शुद्ध गुणकिरणावलीको लिये हुए झलक रहा है। उस चंद्रमासे जो अतिशांत स्वानुभवरूपी रस टपक रहा है उसे पान करते हुए इस ध्यानीको परम तृप्तता हो रही है। उस ध्यानमें प्रमाण, नय और निक्षेपके सर्व ही विकल्प अस्त हो गए हैं। इतने ही में मोह नाशक अधोकरण लब्धिके समय २ अनंत गुणी विशुद्धताको लिये हुए परिणाम रूपी सेनाओंका समागम होता है। यद्यपि यह सेना उतनी बलवती नहीं है जैसी अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणकी सेनाएं होती हैं, तौ भी मोह शत्रुको छकानेके लिये व उसे दबानेके लिये बड़ी ही प्रबल है। इन परिणामोंका अनुभव कर वीरात्मा त्रिगुप्तरूप अति मौन दुर्गमें बैठा हुआ मोहके झपटोंसे बिल्कुल बचा हुआ है। उसको अपनी अनुभूति तियासे सम्मेलन करनेका परम सुंदर अवसर है। वास्तवमें यह अनुभूति सखी ही शिव

सुन्दरीकी भेट कराने वाली है । बिना इसके बीचमें हुए कोई उस अपूर्व सुंदरीसे भेट ही नहीं कर सक्ता ।

बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि यह स्वसमरानन्दी आत्मा स्वानुभूतिका भोग भी करता जाता है और युद्ध भी करता जाता है । यद्यपि लौकिक अवस्थामें दोनों क्रियाओंका एक साथ युगपत होना सर्वथा असंभव है, तथापि पारलौकिक अवस्थामें दोनोंका एक साथ ही सम्बन्ध है, जो निजानन्दी है । वही मोह विजयी है । जो स्वरसका पान करनेवाला है वही मोह संहारक है । जो भव सम्बन्धी क्लेशोंसे अतीत है वही भवमें भ्रमण करानेवाले मोहको जीत सक्ता है । जो निज भूमिमें स्थिर है वही अपने निशानोंसे मोहकी सेनाओंको चूर चूर कर सक्ता है । इस तरह यह सातिशय अप्रमत्त आत्मा परम वीरताके साथ अपने प्रेम रसको पीता हुआ व अपने स्वभावमें लय रहता हुआ मोहके सामने डटा हुआ **स्वसमरानन्द**का परमसुख अनुभव कर रहा है ।

(३३)

सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानमें विराजनेवाला साधु आत्मा मोहको विजय करने ही वाला है । इसके परिणामरूपी उज्वल बाणोंकी ऐसी तेजी है कि मोहकी सेनाको शीघ्रही विध्वंश करनेवाला है । इसके निर्मल ध्यानकी झलकके सामने किसीका जोर नहीं चलता । यकायक तेजीसे धर्म ध्यानकी खड्गको उठाते ही मोह शत्रुके दल जो सामने खड़े हुए हैं कांप जाते हैं । संज्वलन क्रोध मान माया लोभ और नोकषाय सेनापतियोंकी सेना यकायक

घवड़ा जाती है। उनके घवड़ानेसे ही उनको बहुतही निर्बलता आ जाती है। वे चेतन राजाके रास्तेको रोककर खड़े थे, पर उनमें कायरताके आते ही वीर आत्मा अपनी सेनाओंको बढाता है और झटसे आठवें गुणस्थानमें प्राप्त हो जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें जाते ही चेतन राजाके पास ऐसे योद्धा जो पहले नहीं आए थे इस चेतनकी वीरता देख आते हैं और बड़ी ही उमगसे इसको अपनाते हैं। अब इस वीरने धर्मध्यानकी खड्गको अकार्यकारी जान छोड़ दिया और दृढताके साथ पृथक्-वितर्कविचार नामक शुक्लध्यानकी खड्गको हाथमें ले लिया है। इस पदमें यह वीर बड़ी ही एकाग्रतासे निर्मल भावोंके बाण चलाता है, यद्यपि बीच २ में मन वचन, काय योगोंकी पलटन होती है, व श्रुतके पद व अर्थका व एक गुणसे अन्य गुणका परिवर्तन होता है तौ भी इसको मालूम नहीं पडता। यह तो अब इस धुनमें है कि किसी तरह मोहको नाशकर भगादू। यद्यपि यह वीर इस उद्यममें है तथापि मोह भी गाफिल नहीं है। सातवें पदमें मोहकी सेनामें ५७ प्रकृतियोंकी सेना बन्ती थी। अब वहां केवल देवायुकी प्रकृति घट गई। इस क्षपक श्रेणीमें भी ५६ प्रकारकी सेना आरही है। युद्धमें सामना किये हुए ७ वेंमें ७६ प्रकृतियोंकी सेना थी अब सम्यक्प्रकृति, अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन रुक गई केवल ७२ प्रकृतियोंकी सेना है, जब कि मोहरा जाकी युद्ध भूमिमें १३८ प्रकृतियोंकी कुल सेनाए हैं, देवायुकी नहीं है। जो साहसी होते हैं वे बातकी बातमें बहुत कुछ कर डालते हैं। धन्य है वीर आत्मा! अब इसकी भावना सफल होनेको

] । अब यह शीघ्र ही मुक्ति कन्याका वर होगा। अब इसके [वी]रो जोशका पार नहीं है। अब यह महान आत्मा वीर रसको [छ]लकाता हुआ **स्वसमरानन्दका** अनुपम रस पी रहा है।

(३४)

अपूर्वकरण गुणस्थानमें बैठा हुआ वीरात्मा अपनी शुद्धोपयोगकी दशामें अनुपम अनुभव रसका पान करता हुआ किस तरह उन्मत्त है उसका वर्णन नहीं हो सक्ता। जैसे कोई मनुष्य दूरी-पर बैठे हुए अपने मित्रको मिलनेकी मनोकामनासे बढ़ा चला जाता हो और जब वह मित्र निकट रह जाता है तब अपूर्व आनन्दमें भर जाता है उसकी यह आकुलता खिल उठती है कि अब मैं शीघ्र ही मित्रसे मिलनेवाला हूं, इसी तरह इस वीरात्माकी दशा है। यह अब क्षपकश्रेणीका नाथ है। मोह राजाकी हिम्मत इसके सामने पस्त हो गई है। इसको अच्छी तरह भास रहा है कि यह अपनी केवलज्ञानरूपी ज्योतिसे शीघ्र ही मिलेगा। शुक्लध्यानकी निर्मल तरंगें अव्यक्त रूपसे उठ २ कर इसके चित्तको धो रही हैं। इस वीरकी उज्वल परिणामरूपी सेना दिनपर दिन अति दृढ़ता और साहसमें भरती चली जाती है। यह बात सच है कि जिसकी एक दफे विजय हो जाती है उसका साहस उमड़ जाता है, पर जिसकी कई दफे विजय पताका फहराए उसके साहस व उमंगका क्या कहना। यह वीर संयम अश्वपर चढ़े हुए, उत्तम क्षमाका बख्तर पहरे हुए, ध्यान खड्ग लिये हुए समताके मैदानमें इस अनुपमतासे क्रीडा कर रहा है और अपनी खड्गकी धाराको चमका रहा है कि मोह वीरकी सेना सामने खड़ी हुई

इस धर्मोपदेशके प्रतापसे अनेक भव्य जीव निकट संसारी सम्हलते हैं और मोहके जीतनेके लिये वैरी कमर कस लेते हैं।

यद्यपि प्रभु परमात्मा हैं तथापि मोहद्वारा एकत्रित सेनाओंका सर्वथा संगठन मोहके क्षय होनेपर भी अभी दूर नहीं हुआ है। आत्मक्षेत्रमें अधमरी दशामें भी कर्मसेनाएं अड्डा किये हुए हैं। युद्धमें सामना करनेवाली उदय होती हुई बारहवें गुणस्थानमें ५७ कर्मसेनाएं थीं। जिनमेंसे ५ ज्ञानावरण, ५ अंतराय, ४ दर्शनावरण तथा निद्रा और प्रचला इन १६ प्रकृतिरूपी सेनाओंके घट जानेपर ४१ प्रकृतियोंकी सेना अब भी सामने मौजूद है तथा तीर्थंकरकी अपेक्षासे ४१ की है। युद्धक्षेत्रकी सत्तामें १२ वें में १०८ सेनाएं थीं। यहां उन्हीं ऊपरकी १६ प्रकृतियोंके घटानेपर अब भी ८५ प्रकृतियोंकी सेना पड़ी हुई है। यहां भी आत्माके प्रदेशोंके सकंप होनेके कारण सातावेदनीय कर्मकी नवीन सेना भी आती है, परन्तु आकर चली जाती है, प्रभुको मोहित नहीं कर सक्ती। वास्तवमें जब मोह राजाको ही नष्ट कर डाला तब फिर किस कर्मकी शक्ति है जो आत्माको अचेत कर सके। धन्य है यह वीर जिसने अपने सच्चे अटूट पुरुषार्थके बलसे जीव मुक्त परमात्माका पद प्राप्त करके **स्वसमरानन्द**के अनुपम लाभ लेनेका मार्ग अनन्त कालके लिये खोल दिया है।

(३८)

परम प्रतापी परमवीर वीर आत्माने अपने साध्यकी सिद्धिमें अपने आत्मोत्साहकी दृढ़तासे पूर्णता प्राप्त कर ली है–यह बात बड़े महत्वकी है। जिस गुणस्थानपर आजानेसे यह आत्मा मुक्ति

सुन्दरीका नाथ हो जाता है उस अयोग नामके १४ वें गुणस्थान-पर इसने प्रवेश कर लिया है । अब यहा किसी भी नवीन सेना-का युद्धक्षेत्रमें आगमन नहीं होता । तेरहवें गुणस्थानमें ४२ कर्म प्रकृतियोंकी सेनाए युद्धक्षेत्रमें अधमरी दशामें साम्हना किये हुए थीं । यहां उनमेंसे ३० बिलकुल साम्हनेसे हट गई, अर्थात् वेदनी १, वज्रवृषभनाराच सहनन १, निर्माण १, स्थिर १, अस्थिर १, शुभ १, अशुभ १, सुस्वर १, दु स्वर १, प्रशस्त विहायोगति १, अप्रशस्त विहायोगति १, औदारिक शरीर १, औदारिक आगोपाग १, तैजस शरीर १, कार्माण शरीर १, समचतुरस्रसस्थान १, न्यग्रोध १, स्वाति १, कुब्जक १, वामन १, हुडक १, स्पर्श १, रस १, गध १, वर्ण १, अगुरुलघुत्व १, उपघात १, परघात १, उच्छ्वास १, प्रत्येक १, इस तरह ३० के जानेपर केवल १२ प्रकृतियों ही की सेनाए रह गई हैं, जैसे वेदनीय १, मनुष्यगति १, मनुष्यायु १, पचेन्द्रिय जाति १, सुभग १, त्रस १, बादर १, पर्याप्त १, आदेय १, यश कीर्ति १, तीर्थंकर प्रकृति १, उच्च गोत्र १, यद्यपि युद्धक्षेत्रमें तेरहवें गुणस्थानकी तरह अतिम दो समय तक ८५ का सत्व रहता है पर उसी समय ७२ का सत्व विध्वश हो जाता है और अतिम समयमें शेष १३ प्रकृतियोंकी सत्ता भी चली जाती है । इस तरह इस गुणस्थानमें आत्मवीरको बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता । जितने समयमें हम अ-इ-उ-ऋ-ऌ-ऐसे पाच अक्षरोंको बोलते हैं उतनी ही देर तक यह वीर परम निष्कम्प परम ध्यानरूप अत्यन्त शुद्ध परिणतिको लिये हुए अपने आत्मानन्दमें लीन

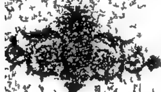
रहता है। इसीके प्रतापसे सारी कर्मोंकी सेनाओंकी सत्ता दूर हो जाती है। आत्मवीरके लिये मैदान साफ होजाता है। कहीं कोई भी रिपु योद्धा दिखलाई नहीं पड़ता। सब तरह शत्रुका विध्वंश कर इस वीरने अन्त कालके लिये अपना कोई भी विरोधी नहीं रक्खा जो इसको अपने साध्यसे रंच मात्र भी गिरा सके। अब यह पूर्ण परमात्मा होगया है। शरीरादि किसी भी पुद्गलकी वर्गणाका सम्बन्ध नहीं रहा है। निष्कलंक पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान पूर्ण प्रकाशमान होगया है। स्वभावसे ही ऊर्ध्व गमन करके यह तीन लोकके अग्रभागमें तनु वातवलयमें जाकर ठहरा गया है। अलोकाकाशमें केवल प्रकाश होनेसे धर्मास्तिकायकी आगे सत्ताके बिना यह आगे नहीं जाता। यह सिद्धात्मा होकर ऐसा इच्छा रहित, कृतकृत्य और स्वात्मानन्दी हो गया है कि इस परमात्मा को अब कोई सांसारिक संकल्प विकल्प नहीं सताते। इसका ज्ञान स्वरूपी आत्मा अपने अंतिम देहके समान उससे कदमें व कुछ भी कुछ कम आकारको रखे हुए सत्ता स्वरूपके अनुपम आनन्द रसका स्वादी रहा करता है, निज शिवतियाके विलाससे उत्पन्न अमृतधाराका नित्य निरंतराय पान किया करता है। अब इसकी ईश्वरता पूर्ण हो गई है, जिस अदृष्ट लक्ष्मीको मोहकी फौजने दबाया था उसको इसने हासिल कर लिया है। इसकी महिमाका अब पार नहीं है। मोह शत्रुसे लड़ते हुए जो समरका आनन्द था वह यहां समरके विजयके आनन्दमें परिणमन हो गया है। इसका आनन्द अब स्वाधीन है। आप ही नाथ है, आप ही शिव सुंदरी सिर्फ कथनमें भेद है, परन्तु वास्तवमें अभेद है। परम शुद्ध

निश्चय स्वरूपका धर्त्ता होकर यह अब स्वभाव विकाशी हो गया है, औपाधिक गुणोंसे रहित होनेसे निर्गुण है, पर स्वाभाविक गुणोंका स्वामी होनेसे सगुण है। धन्य है यह वीर, धन्य है यह सम्यक्ती आत्मा, धन्य है यह रत्नत्रयका स्वामी। अब यह भक्त जनोंके द्वारा ध्येय है। स्वसमरानन्दके फलको पाकर निश्चय शुद्धोपयोगको रखता हुआ यह वीर महावीर परमात्मा होकर जिस अद्भुत स्वभावीय आनन्दका अनुभव कर रहा है उस आनन्दकी झलकको वे ज्ञानी भी प्राप्त कर सके हैं जो इस महावीर परमात्माके गुणोंका अनुभव कर उनके शुद्धोपयोगके पथपर अपने उपयोगको आचरण कराते है। शुभोपयोगमें रुके हुए मनुष्य मुमुक्षु होकर जिस स्वात्मलाभकी फिकर करते हैं वह स्वात्मलाभ सर्व मुमुक्षु-ओंको प्राप्त हो ऐसी इस स्व स्वरूप मननके अभिलाषी लेखककी भावना है। जिस तरहसे इस वीर मिथ्यादृष्टीने अति नीची श्रेणीसे चढ़ कर सर्वोच्च श्रेणीको प्राप्त करके अपने परमात्म पदका लाभ कर लिया है और इस चतुर्गतिमय संसारके भ्रमणसे अपनेको रक्षित कर लिया है। इसी तरह जगत निवासी हरएक स्वभाव विकाशका इच्छुक भव्यात्मा उद्यम करके उस परम सुखमयी स्वपदको उपलब्ध कर सक्ता है और भवसागरसे निकलकर अनन्त काल तकके लिये सुखसागरमें मग्न होकर परम सुखको भोगकर सक्ता है। इति-शुभ भवतु-कल्याण भवतु।

मिती श्रावण सुदी १ रवि० विक्रम स० १९७३, वीर स० २४४२, तारीख ३० जुलाई १९१६ ई

[illegible]

[illegible]नन्द ।



[illegible]

श्रीमान् [illegible] ब्रह्मचारी.

अनुभवानन्द ।

जैनमित्रके तेरहवें वर्षका उपहार नं० ३ ।



श्री वीतरागाय नमः ।

अनुभवानन्द ।

श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीद्वारा सम्पादित

जैनमित्रसे उद्धृत

और

जैनमित्र कार्यालय, बम्बईद्वारा

बम्बईवैभव प्रेसमें मुद्रित ।

प्रथमावृत्ति } श्री वीर नि० सं० २४३८ सन् १९१२ इस्वी { मूल्य ।।)



Editor

SITALI RASAD BRAHMCHARI

PUBLISHER

Jain-Mitra karyalaya,

HIRABAG GIRGAON BOMBAY



Prnted by

C S DFOLF

at his Bombay Vaibhav Press

1 Sadashiv Lane Girgaon

BOMBAY

प्रस्तावना ।

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुख भजो ज्ञान दृष्टि स्वभावो ।
नान्यत् किंचिन्निजं मे तनुधन करण भ्रातृ भार्या सुखादि ॥
कर्मोद्भूतं समस्त चपलमसुखद तत्र मोहो मुधा मे ।
पर्यालोच्येति जीव स्वहितमवितथं मुक्ति मार्ग श्रयत्वम् ॥४१६ ॥

(अमितिगति)

श्रीअमितिगति आचार्य कहते हैं, "रे जीव ! तू ऐसा चिन्तवन कर कि मैं एक हू, अविनाशी आत्मा हू, सुखदुखको आप ही भोगने वाला हू तथा ज्ञान दर्शन स्वभावका धारी हू । शरीर, धन, इन्द्री, भाई, स्त्री, जगत, सुख आदि कोई भी अन्य जीव मेरी नहीं है, क्योंकि ये सर्व जगतके पदार्थ कर्मसे उत्पन्न, चचल (क्षणभगुर) और अन्तमें दु खदाई हें । इनमें मोह करना मेरी मूर्खता है और तू अपने कल्याण करनेवाले सच्चे मोक्ष–मार्गका आश्रय कर ।"

प्रिय सत्य मुमुक्षुजनो ! मोक्ष अपने ही आत्माका शुद्ध निरजन असल स्वभाव है । मोक्ष रूप आत्मा अत्यन्त स्वाधीन सुखका धाम है, साक्षात् शुद्धोपयोगका स्वामी है, साक्षात् स्वसमयरूप है । ऐसे निजस्वरूपके लाभके लिये स्वसमयकी भावना ही साधनरूप है, जिसको अनुभवरसका आनन्द कहते हैं ।

मुक्तिका उपाय न प्राणायाम है और न हठयोग है । मुक्तिका सच्चा उपाय जिस तिस प्रकार राग–द्वेषको दूरकर वीतराग परिणति करके शुभ नाम व शुभ स्थापना द्वारा निज आत्माके गुणोंका अनुभव

करना है । यद्यपि बहुतसे लोग आत्मीक रसके आस्वादको लेना चाहते हैं, परन्तु उनको साधु सगतिकी अप्राप्तिसे तथा स्याद्वादनय द्वारा सगठित पदार्थ मालिकाके ज्ञानका अनुभव न होनेसे वे अपनी भावनाको पूरी नहीं कर सक्ते हैं ।

आत्मानुभवके रसिक मुमुक्षुजनोंके हितार्थ ही हमने अपने उस तुच्छ अनुभवके द्वारा जो हमको श्रीसमयसारजी, श्रीपरमात्मप्रकाशजी तथा अनुभवप्रकाशजी आदि अध्यात्मिक ग्रन्थोंके बाँचनेसे हुआ है, जैनमित्रके अन्दर ता० २१ मई सन् १९०९ के अकसे ले ता० १० अक्टूबर १९११ के अंक तक अनुभवानन्द नामके लेखोंको प्रकाशित किया था। अब हमारे पास बहुतसे भाइयोंकी प्रेरणा हुई कि इन लेखों- को पुस्तकाकार निकाला जाय, इससे यह पुस्तक प्रगट की गई है।

पाठकोंको उचित है कि इसके हरएक लेखको एकान्तमें बैठकर पुन पुन कई बार बाँचें। जब बाचते २ उपयोग थिर होगा तब परमअनुभवरसका स्वाद आवेगा । यदि शीघ्रतासे इस पुस्तकको पढा जायगा तो आनन्दका मिलना कठिन होगा।

यदि प्रमाद व अज्ञानवश इन लेखोंके सगठनमें कोई अशुद्धिया रह गई हों तो विद्वज्जन हमें क्षमा करते हुए सुधार कर पढ़ें तथा हमें सूचना दें ताकि द्वितीयावृत्तिमें सुधार दी जाय।

प्रूफ सशोधनमें जो कुछ अशुद्धया रह गई थीं, उनका शुद्धाशुद्धि पत्र इस पुस्तकके शुरु में ही लगा दिया गया है, पाठकगण, पहले उसके अनुसार अशुद्धिया सुधार लेवें फिर पुस्तकको पढना शुरू करें

मुल्तान शहर
ता० ८--९--१९१२ ई० } शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी ।

विषय सूची ।

शुद्धाशुद्ध पत्र ।

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१३	सरि	सारी
२	१	स मय	समय
२	४	मानी	मानि
१३	१५	मोहाघ	मोहाध

२०	६	सम्मिलित	सम्मलित
२२	१०	मेरा	इसका
२२	१४	मेरा	इसका
२६	३	सतोंके	सतोंको
२६	१५	अपने	अपना
२७	१०	फर	कर
३२	१२	आलम्ब	आलम्म
३३	१०	बाह्यत्य	बाह्य तप
३६	३	तपही	तपन ही
३७	९	अज्ञानुसार	आज्ञानुसार
३८	१०	कालपर	काल पर
३९	१६	खे	खो
६०	१०	सामयिकका	सामायिकका
६५	२०	बज्ञित	बञ्चित
६६	६	सदृश्य	सदृश
६८	११	पद्वाकी	पद्वीको
६८	१४	बड	बडा
६९	८	अब	तब
७०	१०	कुल्टाके	कुल्टारूपी
७२	१२	लौं	लौ
७३	२०	अल्यबाघमई	अन्याबाघमई
७४	२	तौ	तो

४	१४	शात	शात
७	१३	जागा	जगा
८	१९	दृष्टी	दृष्टि
९	११	सम्यक्ता	सम्यक्तता
१	८	दृष्टी	दृष्टि
१	१२	सम्यकृदृष्टी	सम्यकृदृष्टि
६	३	बेसुद	बेसुध
७	१५	को शातकर देती है और अपने प्र- त्येक सम्मेलनमें शातकर देती है और अपने प्रत्येक सम्मेलन में इस जापी आत्मको	को शातकर देती है और अपने प्रत्येक सम्मेलनमें इस जापी आत्माको
८८	२०	को	की
९५	५	८००	८०००
९६	१७	कार्यों	कार्यों
९८	१	धीर	धारे
१०३	८	सम्यकृदृष्टि	परमसम्यकृदृष्टि
१०३	९	पहचानते	मनन करते
१०३	१५	कृतकृत्यका	कृतकृत्यताका
१०४	७	कपाय सब	कपाय व सब
१०४	७	योद्धाओंको	योद्धाओंका

१०७	१४	३ द्विरूपवर्गधारा १	२ — द्विरूपवर्गधारा १
१०८	१७	प्रतिमा समान	प्रतिमासमान
१११	६	उपयोगका	उपयोगकी
११४	१४	कर्मनद	कर्मबंध
११८	८	कारणलब्धिद्वारा	करणलब्धिद्वारा
१२३	२०	जीवका	जीवको
१२४	१४	आहरको	आहारको
१२४	१८	श्रमूपी	स्वरूपी
१२६	७	काष्ठा	काष्ठ
१२६	१३	व्यपहारक	व्यवहारिक
१२८	६	ज्ञव्याती	ज्ञप्ताता



श्रीवीतरागाय नमः ।

अनुभवानन्द ।

अगम दुर्ग ।

(१)

मोहज्वरके आतापसे सतापको प्राप्त करता ससारी जीव क्षोभित मन हो निज स्वरूपकी झलक न पा परपदकी दीप्तिमें भ्रमण करता हुआ तिस विरुद्ध ज्योतिसे प्रदर्शित पदार्थ और उनके परिणमनोंको आतापको शातिकारक जान उनके निकट जाता है, परन्तु शातता न प्राप्तकर अधिक दाहज्वरको बना अधिक २ आकुलित होता है । तीन लोक अलोकका ज्ञाता-द्रष्टा, शुद्ध चैतन्यमय अविनाशी, निर्विकल्प, परमानद स्वरूप प्रभु अपने स्वरूपको भुला आज परपदमें आरूढ हो क्यों खेदित हो रहा है यही आश्चर्य है । सिंहशिशु अजोंके वृन्द-समूहमें भ्रमण करता क्यों अज सदृश आचरण कर रहा है यही खेद है । अपनी दृष्टिको परदृष्टिरूप करके पररूप आपको अनुभवन करता अपनी खोटी मानिसे आप ही सिंहवृत्तिको छोड क्षुद्र पशु-स्वभावमय हो रहा है । अपनी मानिको पलटे, तो आप सर्व पशुवृन्दका स्वामी सिंह ही है, सारे

सिंह पदकी गुप्त शक्ति अपने अनुभवमें आ जाए, क्षणमें ही ॥ भय पदको उन्मूलकर निर्भय हो अपनी शक्तिकी अपनेमें मान्यता करनेसे निराकुल रहे, क्षुद्र संगतिमें न पडे। अपनी मानि सुखदाई और अपनी मानी ही दुखदाई है। मैं ही सिद्ध निरंजन परमात्मा हू, मुझसे अन्य राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभादि भावकर्म, ज्ञानावर्णी आदि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म—सर्व अन्य ही हैं। वे क्षणिक, मैं अविनाशी हू। वे मूर्तिक, मैं अमूर्तीक हू। वे दुःखस्वभाव, मैं सुखस्वभाव हू। वे उपाधिरूप, मैं निरुपाधि हू। वे सकलंक, मैं निःकलंक हूं। वे पराधीन, मैं स्वाधीन हू। उनका मेरा जरा भी मेल नहीं। जो उनकी संगति करे वह सदोषी हो। जो मेरी संगति करे वह निर्दोषी हो। मेरी सम्पत्ति अविनाशी, उनकी विभूति विनाशीक। मैं अपने निज आत्मानुभवकी भावनासे परमतृप्त हू। मुझमें जन्म, जरा रोग, व्यापते नहीं, कर्म रिपु मेरा मुह देखने नहीं, मैंने अपनी अनुभूतिकी भूमिमें ही अपना अगम दुर्ग बनाया है, उसीमें निवास करता अपनी चिदनुभूति रानीके साथ सुखमें क्रीडा कर रहा हू। मुझे भोजन, वस्त्र, आभूषण, सुगंध, लेप, तेल, फुलेल, शय्या, आसनकी आवश्यकता नहीं। अपना सुखासमूह, अपना भोजन, अपनी निर्मल प्रदेशावली, अपना वस्त्र, अपना ब्रह्मरूप शील, अपना आभूषण, अपना ज्ञान, अपनी सुगंध, अपनी तन्मयता, अपना लेप, अपना आत्मवीर्य्य, अपना तेल फुलेल, अपनी स्वरूप प्रगटता, अपनी शय्या, अपना निरावलम्बन स्वभाव, अपना आसन है। यही सामग्री मेरे और मेरी चिन्नुभूति सर्वांगनीके लिये सन्तोष और आनन्दप्रदायक

है। मेरे दुर्गमें अन्य किसी मेरे विरुद्ध पक्षका प्रवेश नहीं। मैं अपनी अद्भुत शक्तिका आप स्वामी हू। मैं सबको देखता हू, परन्तु मुझे कोई नहीं देखता। मैं किसीके पास जाता नहीं, परन्तु सब मेरे निर्मल आत्मदर्पणमें (जो मेरे ही अनुपम शय्या महलमें लगा है) आपसे आप अपनी समय २ की परिणतियोंको लिये आ आ कर मुझे अपना रूप दिखा रहे हैं। मुझसे अन्य जन परस्पर एक दूसरेको रागसे ग्रहण करते हैं, परन्तु मै अपनी चिदनुभूतिरूप पटरानीके सिवाय किसीको ग्रहणकर पर-पद-रत नहीं होता। जिस सुखको पानेके लिए मुझसे अन्य जन तरसते हैं, उस आनन्दको पाकर मैं अनुभवानन्द रूप रहता हू।

अद्भुत चोरी।

(२)

आज मैं, जो अनादि कालसे मोह, मदिराके तीव्र नशेमें बेहोश हो रहा था, किञ्चित् मदकी हीनतासे जो सचेत होता हू तौ अपने ज्ञानानन्द स्वरूप अरूप अविनाशी अखड त्रिलोकभूप चैतन्य प्रभुको अपनी दृष्टि सन्मुख न देख विह्वल होता हू और उस वीतराग स्वस्वभाव-गुप्त स्वामीसे राग प्रगट करनेको दौडता हू, जिस जगत् कृत्रिम रूपकी प्रत्यक्ष चमककी दमकमें जाता हू, वहा ही जलके भ्रममें बालूरेतको पा क्षोभित हो अधिक अधिक अपने श्रेष्ठ इष्ट ईश्वरसे मिलनेकी रुचिरूप-तृषासे बाधित होता हू। अपने परम स्नेहीकी खोजमें पलायमान होते होते मै एक शीतल सम्यक्त वृक्षकी छायामें आकर विश्राम लेता हू और बहु

भ्रमणकी थकनको मिटा क्षणिक विचार करता हू तौ अपना स्नेह-पात्र अपने अनुपम प्रेम रसमें भिगोकर मुझे आनन्दित करता हुआ मेरी तृषाको बुझाता हुआ मेरे अनुभवमें मानो प्रत्यक्ष दीख रहा है—ऐसा प्रतीत होता है। जो जगत्के कृत्रिम अकृत्रिम रूप मुझे थोडी देर पहले भयानक, विरस, और दु खदाई मालूम होते थे, वे अभी मुझे निर्भयरूप, सुरस और सुखदाई विदित होते है। जैसे नमक विना रसोईके नाना प्रकारके व्यजन अस्वादिष्ट, घृणास्पद और त्यागने योग्य जचते हैं और वही जब नमक सहित भोक्ताके अनुभवमें आते है, तौ सारे सलोने, सुस्वादिष्ट, रुचिकर और उपादेय जाने जाते हैं। वैसेही इस समय सारे हेय पदार्थ निजानन्द रसके झलकते ही मुझे सुरस और उपादेय दिखाई देते हैं। मै अपनी इस चिरअप्राप्त दृष्टिको उपलब्धकर उन नटखटोंकी ओर कि जिन्होंने सारे जग—वासियोंको अपनी मतिसे नचा नचाकर और आप उनके साथ नाचकर इस जगतको एक नाट्यशाला बना दिया है, जब देखता हू तो उनके भीतर भी मन—अगोचर, परम पदधारी, अविकारी, स्वच्छन्दविहारीको छिपा हुआ अनुभवित करता हू। वे राग—द्वेष—नटखाम आज मेरे सन्मुख आ अपना स्वाग निकालते हैं और अपनी सौम्य सुन्दर निरुपम मूर्ति मुझे दिखा मेरे मनको चुरा कर वीतराग सर्व त्यागी होते हुए भी चोरकी सज्ञाको प्राप्त होते हैं। अब मैं भी इन चोरोंसे मिलता हू और जहा जहा स्वात्मधन जिस जिसके पास गुप्त पडा है उसको चुरानेके लिये अपनी गुप्त भूषणरूप

परिणतिसे उद्योग करता हुआ सर्व विभूति चुराकर अपने त्रिकोटके भीतर गुप्त भंडारमें रखता हूं और उसको भोगकर सुखी होता हूं।

यद्यपि मैं मूषकवत् व्यवहार करता हूं, पर मैं कभी अपने अचौर्य्यव्रतको खंडित नहीं करता। यद्यपि मैं स्वात्मधन चुराकर लाता हूं, तथापि जहासे लाता हूं वहा वह धन वैसाका वैसा ही बिना एक परमाणुको कम किये रहता है। यह कुछ मेरी चोरीमें अद्भुत शक्ति है कि, जिसको मेरे स्वामी भले प्रकार जानते हैं और यह उनकी ही आज्ञा है कि ऐसी चोरी करो, तुम कभी अपराधी नहीं हो।

आज इस वृक्षकी शीतल विवेकरूपी छायामें बैठकर और अपने इष्ट परमेष्ठी निरंजन परब्रह्मरूप स्वप्रभुका अनुभवकर सर्व वासनासे रहित अनुपम अनुभवानन्दको प्राप्त होता हूं।

भोजन-सत्कार।

(३)

चैतन्य अभिराम गुणग्राम आत्मारामका विश्रामरूप पद अटल, अभय, अचल, अविनाशी और अमर्यादरूप है। जिस पदकी दीप्तिमान किरणावली भवावलीतमको क्षणमात्रमें विलुप्त कर देती है, जिस पदके सन्मुख परविमुख पदाभास लज्जित हो ठहरते नहीं, जिस पदके धारी, निजधाम विहारी, अविकारी, सुखकारी रहकर अनंतकाल तक भी निजपद-ममत्वको त्यागते नहीं, ऐसे पदके अभिलाषी, भव वाससे उदासी अपनी मोहफासी काटनेके हुलासी आज अंतरंग भूमिमें

प्रवेशकर भेदज्ञान खड्ग ले चिरकाल प्रवेशित रिपुदलको संहार करनेके अर्थ उद्यमी हुए हैं।

इस खड्गकी दीप्ति पाते ही शत्रुओंके दल कहां विला गए—सो कुछ पता नहीं। वे रहें या जाएं उनकी ओरसे भयका निध्वंसकर निर्भय हो अनुभव रसका प्रेमी अपनी निर्मल अनुभूति देवीका दर्शनकर उन्मत्त हो उसके अद्भुत रूप रसका पान करते २ ऐसा एकासन हो गया है मानो एक स्फटिकमणिकी पुरुषाकार मूर्ति ही है।

ऐसी स्फटिकमणिकी पुरुषाकार मूर्तिमें अपनी निर्मलताके कारण जो जो पदार्थ प्रतिभाषित होते हैं, वे सब स्वयं अपना जैसाका तैसा रूप देख अपनी पर्यायके अभिमानमें अपने २ स्थलसे सरक कर कभी भी इस मूर्तिमें आते नहीं और न यह उन्मत्त पुरुष दौड़कर उनकी तरफ जाता है। इस अंतरंग भूमिमें रमनेवाले पुरुषका स्वमानका अभिमान इस पुरुषको सर्व अन्योंकी प्रीतिसे तुड़ाकर एकाकी कर देता है, तथापि इस पुरुषको सुध नहीं यह किसीकी भी परवाह न कर अपने अनुभव रसके स्वादमें मग्न है।

यद्यपि यह उन्मत्त है तथापि इसकी अनुभूति देवी सदा सावधान है। इसके शत्रु, जो इसकी खड्गकी चमकसे लुप्त हो गए थे, रह रहकर इसको दबानेके लिये आते हैं। उनका मुख देखते ही अनुभूति देवी इसे चिताती है। यह उसी क्षण भेद—ज्ञान—असिको चमकाता है। वे दुश्मन फिर गुप्त हो जाते है।

इस प्रकारकी उन्मत्तता उन्मत्त पुरुषको कैसा बना देती है, यह तो वह पुरुष ही जाने या उसका निज निर्मल रूप जाने। इस ज्ञानमें पर—पद अपनाने वालोंकी गम्य नहीं।

जो उन्मत्त पुरुष इस तरह रहने लगते हैं लोकके सावधान प्राणी इसे छोड देते है, परन्तु यह किसीको छोडता नहीं । यह सर्व चेतन शक्तिवानोंको अपने आनन्द घरमें स्वानुभव-रसका मिष्ट भोजन करानेके लिये निमत्रण देता है और अपनी अनुभूति देवी द्वारा यथायोग्य स्वागत करा एकरूप निर्मल सुखासनपर बिठा परमामृत ज्ञानरस वैराग्यके अनुपम चैतन्यधातुमई प्यालेमें भरकर अपनी परमोपकारिणी देवी द्वारा दिला आप भी उसी क्षण ज्ञानरस भी परस्पर सुख विलास प्राप्त करा अपने आत्मीक घरको पवित्र करता हैं। ऐसे व्यक्तिको सर्व जगत् प्रिय है, परन्तु यह जगवासियोंको प्रिय नहीं। इसकी निराली गृहस्थी किसीके देखनेमें आती नहीं, परन्तु यह वीरात्मा स्वाधीनताका उपासक हो पराधीनताको दग्धकर अपनी चिदनुभूति देवी सहित धर्मकल्पवृक्षसे मनोज्ञ इच्छित स्वानुभवरूप फलको प्राप्तकर अपनी अनादि क्षुधाको शमन करता हुआ अपने स्वरूपाचरण उपवनमें क्रीडा करता हुआ अनुभवान्दका स्वाद लेता है ।

तृषा-शमन ।

(४)

ससारके ससरणमें स्वभावगुप्त ससारी चिर भ्रमणके खेदसे थककर और भवातापकी तीव्रतासे तृषाकी उत्कटताको प्राप्तकर विह्वल होता हुआ ज्योंही निर्मल मिष्ट स्व-रसपूर्ण सरोवरको देखता है, यकायक घबडाकर आता है, अपने तनके नियमविरुद्ध स्वभावधारी

वस्त्रोंको फेंकता है और बिना किसी ओर देखे नग्न हो स्वरस–सरोवरमें प्रवेश करता है। शान्त, मिष्ट, निर्मल स्वरस पूर्ण, स्वानुभवकी वैराग्य पवन द्वारा प्रेरी हुई, कल्लोलें जब उस पुरुषके तनको स्पर्शित करती हैं और अपनी शीतलता उसके प्रदेशोंके अन्दर प्रदान करती हैं तब उस पुरुषको जो भगवानकी शान्तताके निराकुलता प्राप्त होती है उसको वही जानता है या ज्ञानानन्दी सिद्ध परमात्मा जानते हैं। अपने निमल विवेकके चुल्लुओंमें शुद्ध स्वरस–जल लेकर जब अपने स्वरूपाचरण मुखके भीतर क्षेपण करता है तब वह पुरुष तृषाको शमनकर अनुपम नवीन अपूर्व मिष्टताका स्वाद लेके तृप्ति रहित होता है। पीते पीते अघाता नहीं, पीते पीते कभी पेट फुलाता नहीं, ऐसे जलका पानकर प्रफुल्लित बदन व्यक्ति अपनी शक्तिकी व्यक्तताकी प्रकट पाकर मगन होता है और उस सरोवरमें ही निरन्तर अवगाह करनेका साहस करता है।

अपने तनको हुल्लासायमान देख और मन–मनमें मग्नते हुए अपने पूर्व साथियोंसे अपनेको श्रेष्ठ मान ज्यों ही वह अपनेको परमात्मा, परब्रह्म, अविकारी, मोक्ष–धाम–विहारी, अतुल पराक्रमधारी अवलोकन करता है कि यकायक इस मानके अभिमानमें उन्मत्त हो सर्व जगतको भुला, द्वैत भावको गला, अद्वैत हो, निजज्ञान–तनमें विराजित रह स्वरस–सरोवरके भीतर उन्मत्त चेष्टा करने लगता है। सारे सरोवरको अपना नृत्य–स्थान बना नाचता है। ऐसे नृत्यका करैया, नि शङ्क–सम्यक्त्व–गुण धरैया, स्वपदमें बसैया, जब जब नृत्य करते २ रुकता है, अपने तनको पहिले समयमे अधिक

अधिक विशुद्ध देखता है। नृत्यके प्रपचमें रंजित स्वपूर्ण शुद्धता-अभिलाषी अपने धारावाही प्रयत्नसे अपने उद्देशको पूर्ण करता हुआ जब अपनेको परम शुद्ध अवलोकन करता है तो अपने तनकी और उस सरोवरके जलकी आभामें कुछभी फेर नहीं देखता। जैसा ही क्षीर समान निर्मल जल, वैसा ही स्फटिक समान निर्मल तन। दोनोंकी शुद्धतामें तीनों लोक और अलोक एक ही समयमें समाजाते हैं। अन्य २ समयोंमें त्रिलोकालोक अपने स्वरूपको बदलता है तो वैसा ही इन दोनोंकी निर्मल भूमिमें प्रतिभाषित होता है। ससारी रागी जीव अपने आशागर्त्तमें जिन तीन लोकको रखना चाहता है और वे उसके गर्त्तमें आते नहीं, वे ही तीन लोक अपने बधु अलोक सहित आज इस व्यक्तिके निर्मल तन–दर्पणमें प्रफुल्लित हो आ बसे है–यही एक बड़ा आश्चर्य है। यद्यपि यह तीन लोकका स्वामी हुआ है, तथापि यह इन तीनों लोकोंकी एक अणुमात्र वस्तुको भी नहीं छूता है न उनको ग्रहण करता है और न छोडता है। यह कुछ इसीमें अपूर्वता है कि थाली सामने रक्खी है, पर खाता नहीं। अहा! यह इन तुच्छ जगत्के ज्ञेयाकार पदार्थोंका क्या स्वाद लेवे? जो पदार्थ क्षण २ में स्वरूपसे विरूप हो जाते हैं। यह तो अपने आत्मीक रसका स्वाद लेता हुआ, उसीको निरतर अनुभव करता हुआ, उसीको अपना सर्वस्व मानता हुआ, उसी रसके पुंज अथाह स्वभावरूप सरोवरमें उन्मज्जन होता हुआ क्षणिक, पराधीन, विरस फलरूप आनन्दोंसे विलक्षण नित्य अनुभवानन्दको पाता हुआ विश्राम करता है।

मेरी महिमा।

(५)

आज मैं कर्त्तापनेके कटुक, विरुद्ध और नि सार भव-विकारको त्यागकर निज ज्ञाता-दृष्टा स्वभावमें कल्लोल करनेके लिये उद्यत हो गया हू। मेरा बनाया भव-विकार मुझे ही विप-आहार सा हो चुका है। जिस विकारने मुझे पराधीन बधनमें डाला और मेरी स्वत त्रताका आघात किया उस शत्रुवत् प्रपचधारी व्यवहारीसे मुझे क्या प्रयोजन ? मैं चैतन्य-रसका चैतन्यमई घट हू। मेरा उपादान और निमित्त कारण एक ही है। मुझे त्रिलोकमें मेरे किसी परमाणुके अवगवे* मात्रसे मतलब नहीं। मैं कभी किसीको बनाता नहीं। मैं कभी किसीको बिगाड़ता नहीं। मैं अपने स्वभा वमें अविचलित रह सदा निज रसका ही पान करता हू। मुझे क्रोध, मान, माया, लोभ और उनके पिता राग, द्वेष तथा महापिता मोहसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। मै शातरूप हू, वे उद्वेगरूप हैं। मैं ज्ञानरूप हू, वे अज्ञानरूप है। मै निष्क्रियरूप हू, वे क्रियावान व्यवहाररूप हैं। मै गुणनिधान हू, वे गुण विरुद्ध औगुण निवास हैं। मै निर पराधी हू, वे अपराधवान है। मै निर्बंध हू, वे बधसहित है। मैं एकाकी एक रूप हू, वे अनेकानेकरूप है। मेरा उनका त्रिका लमें सम्बन्ध नहीं, मेल नहीं, स्पर्श नहीं, न मैं उनका कर्त्ता, न वे मेरे कर्म। मेरे निर्मल ज्ञान दफ्तरमें कर्त्ता कर्मका शब्द ही नहीं। मैं

---

* अविभाग परिच्छेदरूपगुण

शुद्ध आहार–भोजी, अपनी शुद्ध परणतिका निरतर खोजी हू। मुझे मेरे ज्ञान–साम्राज्यका प्रबन्ध है, जिस प्रबन्धमें अनुरक्त मैं जगत्के प्रपचरूप प्रबधसे असम्बन्ध हू। मेरा ज्ञान–साम्राज्य मेरी ही निरन्तर सावधानी और परम पुरुषार्थके बलसे अटल है। यद्यपि मैं त्रिलोकालोकमें व्यापक हू, परन्तु सदा ही निज थलको न तजकर अव्यापकरूप हू। यद्यपि मैं इन्द्रिय–ग्रामोंकी रचनासे शून्य हू, तथापि अपने अतीन्द्रिय गुण ग्रामका धाम होकर अशून्य रूप हू, यद्यपि मैं निज परिणाम–कर्मके करनेसे कर्त्ता हूं, तथापि परकर्तृत्त्वके अभावसे सदा अकर्ता हू। यद्यपि मैं निज परिणति रमनके स्वादका भोक्ता हू, तथापि परपदार्थका स्वाद न लेकर सदा अभोक्ता हू। यद्यपि मैं परवस्तुओंकी प्रवृत्तिकी इच्छासे रहित सदा कृतकृत्य हू, तथापि निजात्मीक स्वसमयरूप प्रवृत्तिमें प्रवर्तन करता हुआ सदा अकृतकृत्य हू। यद्यपि मै अपने आत्मीक द्रव्यका धारी अपने द्रव्यको सदा ज्योंकी त्यों रखकर नित्यरूप हू, तथापि केवलीगम्य षट्गुणी हानि–वृद्धिरूप समुद्र–कल्लोलवत् अगुरुलघुगुण परिणमनके कारण नित्य पर्य्याय द्वारा व्ययोत्पादको सहन करता हुआ अथवा नित्य अपनी अवस्थाको बदलनेवाले ज्ञेय पदार्थोंके मेरे निर्मल ज्ञान–दर्पणमें समय २ परिवर्तन होते हुए ज्ञेयाकारोंकी अनित्य स्थितिके झलकनेके कारण उस झलकनको धारण करता हुआ अनित्यरूप हू। यद्यपि मै केवलज्ञान–तनका धारी होकर अपने जाति स्वभावधारी केवलज्ञानियोंसे प्रत्यक्ष और सम्यग्ज्ञानियोंसे परोक्षरूपसे दर्शने योग्य हू, तथापि निजानुभवरहित छद्मस्थ अज्ञानियों द्वारा सदा ही अदृश्यरूप

हू। मेरी शक्ति निराली है। मेरे ही अनुभवने मेरी शक्तिकी व्यक्तता निकाली है, परमपदधारी परमेष्ठी, पंचनाम व्यवहारी, अविकारी, साम्य प्रचारी, सुखकारी, मेरे ही अनुभवकी अपूर्व महिमा है। मुझे जो कोई विभाव भावोंका और परद्रव्योंका कर्त्ता कहे वह स्वयं अज्ञानी और अनुभव-रसरहित, निरसका स्वादी, मोह व्याधिसे पीड़ित परमानी है। जिन्होंने आत्मबाग लगाया है और उसमें सुगुणरूपी सुगंधित पुष्पोंको उगाया है वे आत्म-मोही मुझे कभी भी परका कर्त्ता कहनेके नहीं। मैं आज अपने स्वतंत्र बलके अभिमानमें उन्मत्त हो अपने आत्म-बनके भीतर क्रीड़ा करता हुआ स्वात्मगुण पुष्पोंकी सुगंधको लेता हुआ और निज परिणतिरूपी अर्द्धांगिनीके साथ सैर करता हुआ परआनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका स्वाद लेता हूं।

युद्धमें गृहस्थ-सुख।

(१)

जिस शत्रुने अपने तीव्र पराक्रमसे तीन लोकके संसारियोंको जीतकर अपना विजयका डंका बजाया है और जो अपने त्रिलोक-विजई अभिमानकी मदिरा पीकर उन्मत्त हो युद्ध-स्थलमें आकर खड़ा हो अपना पेट फुला रहा है ऐसे शत्रुको जीतनेके लिये आज मैं अपराजित भेदज्ञानका धनुष हाथमें लेकर खड़ा हो गया हूं। मेरे धनुषकी टंकारके सामने किसीकी भी ताकत नहीं है कि जो टिक सके। मेरे भेदज्ञान धनुष्यसे निकला हुआ वीतराग भावका बाण

ज्यों ही उस शत्रुकी तरफ जाता है वह मेरे सामनेसे दूर हो जाता है। पर मेरा थमना कि फिर वह प्रबल रिपु मेरे सामने आ मुझे अपनी कठोर दृष्टिसे घूरने लगता है, परन्तु मुझे इसका कुछ भय नहीं। मैं तो जानता हू कि मैं अजर, अमर, अखट और स्वाधीन हू। मेरे साथी भाई बन्धु अनन्तानन्त मेरे ही सारखे अनतबली विद्यमान है। मुझे एक यह क्या, इसके ऐसे अनतानत शत्रु आ जाय तो मेरा क्या कर सके है? इसका जोर तो उन्हींपर चलता है जो अज्ञान मंदिरमें बैठे २ अपनी इन्द्रियोंकी चाकरी किया करते हैं और मन–मोहन नटनागके चलाए चलते, बैठाए बैठते, दौड़ाए दौड़ते, रुलाए रोते, हसाए हसते, खिलाए खाते, सुआए सोते, और बहकाए बहकते हैं। तीन जगत्में चारों गतिके प्राणियोंका प्राय यही हाल है। प्राय सर्व ही अपने बलको भूलकर बेखबर हो रहे हैं, इसी लिये यह शत्रु सर्वको जीतकर मानके पर्वतपर चढा हुआ है, परन्तु मैं जिस मानके पर्वतपर आरूढ हू, वह इस शत्रुके तुच्छ पहाडसे कहीं ऊचा है। यह शत्रु मोहाध हो यह नहीं देखता है कि मैं नीची जगहपर हू, बिना विचारे मेरा मुकाबला किये ही जा रहा है। मैंने भी स्वआचरणरूपी बाणोंके समूहको सम्हाला है और अब मैं इसके ऊपर ऐसी बौछाड करता हू कि जैसे घनघोर मेघवृष्टिकी बौछाड होती है। अवश्य यह मेरी बौछाटसे डरकर भागेगा और फिसलकर पर्वतके नीचे हो रहेगा। इतना विचारकर अतर्मुहूर्ततक वीतराग बाणोंकी बौछाड जो मैंने छोडी यह विचारा इधर उधर रास्ता ढूढ मेरी नजरसे बाहिर चला

गया, परन्तु ज्यों ही मै जरा दम लेता हू कि वह निर्लज्ज फिर सामने ताकता है। सच है, मैं पचम गुणस्थानके रेजिमेंटका सिपाही हू। मेरे बाणोंमें उतना बल नहीं जितना श्रेणी—आरूढ़ लेफ्टिनेन्टोंके बाणोंमें होता है, परन्तु मैं अब आलस्य करनेका नहीं, मैं तो इसको बारबार बाण मारे ही जाऊगा। मेरा यह अभ्यास ही मेरी उन्नति करेगा और मैं कुछ कालके भीतर अवश्य श्रेणी आरूढ हो तीव्र बाण चला इस शत्रुको मार मारकर निर्बल कर दूगा और बारहवें दर्जेपर पहुचते ही इसको ऐसी अधमरी हालतमें कर दूगा कि यह निर्बल आखोंसे मेरी ओर देखता रहे, परन्तु अपना सारा अभिमान और अपना सारा बल भूल जाए। मैं जहा चौदहवें दर्जेमें पहुचा और अपने अनतगुणरूप सेनाका स्वतत्र कमान्डर–इन–चीफ (सेनापति) हुआ कि इधर इस शत्रुका भी प्राणान्त हुआ। मै जानता हू कि यह वैक्रियक* रूप धारी है, नाना रूप होकर नाना जीवोंको सताता है। इसकी जो अनादि अनत शक्ति है उसको यह प्रयोग तो करेहीगा। करे, जिनके दुर्भाग्य है उन्हींपर इसका आक्रमण होगा। मैं तो समझ गया हू। मै तो इसकी नस नससे जानकार होगया हू। मेरा इसका मुकाबला तो थोडे ही दिनके लिये है। मुझे निश्चय है कि मै इसे एक दिन मारकर गिरा दूगा और तब यह अनत कालमें भी मेरा मुकाबला करनेको खडा नहीं हो सक्ता।

मुझे अब भी आनन्द है, मेरा कुछ भी बिगाड यह आश्रव नामधारी शत्रु नहीं कर सका। यद्यपि मै इस शत्रुसे युद्ध कर रहा

* कमाण वर्गणाके आश्रवसे प्रयोजन है।

हू, तथापि अपनी अपूर्व शक्तिके प्रादुर्भावसे अपने अनुभवके व्यापार-को करता हुआ स्वात्म-ज्ञान-घनको अत्यन्त न्यायपूर्वक उपार्जन करता हू। मेरी वीतरागता माता और सम्यग्ज्ञान पिता हैं। मेरी स्त्री मेरी अनुभूति है। मेरा पुत्र विवेक है। मेरी पुत्री दया है। मैं अपने धनसे नानाप्रकारके आत्म-रस-गर्भित व्यञ्जनोंको अपनी स्त्री द्वारा तय्यार करा अपने सर्व कुटुम्बको तृप्ति करता हुआ आप भी उन्हें भक्षणकर सतोषित होता हू और अपने परिवारकी एकता और सुमतिका आनन्द लेकर परम आल्हादित होता हू। मेरा कुटुम्ब लौकिक रीतिको पालता हुआ भी पारलौकिक परब्रह्म स्वरूप स्वधर्म सेवासे विमुख नहीं है। जिस कुटुम्बमें धर्म और कर्म दोनों होते है वही कुटुम्ब कुटुम्ब है अन्यथा पाप-मदिर और नर्क-निवास है।

गृहस्थीके अद्भुत सुखको भोगता हुआ तथा परमात्मस्वरूप महा मुनियोंको शुद्ध परमामृत नैवेद्यका आहार-दान देता हुआ मैं अपने जन्मको कृतार्थ मान रहा हू। मैं मोक्ष अवस्थाका साक्षात् साधक हू। मुझे इन्द्रियाधीन पराधीनता नहीं है। मैं तो प्रत्येक प्राणधारीमें रहने योग्य स्वातन्त्यताका पक्षपाती हू। मुझे मेरी स्वातन्त्यता (Independence) ही निराकुल, अपूर्व और निर्वेव अनुभवानन्दका अनुपम सुख प्रदान करती है।

विवाह-रस ।

(७)

परमामृतके प्रवाहसे परिपूर्ण, स्फटिक समान निर्मल, स्वच्छन्द, चिज्ज्योति विलासी अविनाशी, अत्यानन्दधामप्रवासी, कर्मराहुभ्रमन रहित, विभावमेघाडम्बरविरहित, स्वभावपरिणमनविलासमहित ज्ञान-चद्रमा आज मेरे स्वच्छ हृदयरूप आकाशमें उदयको प्राप्त हुआ है। मेरे अद्भुत चद्रकी चान्दीके सामने जिधर देखता हू पीतत्व पीतत्वही विदित होता है। कहा गए वे राग और द्वेष, जिनके व शमें पड़ा हुआ मै किसीको शुभ और किसीको अशुभ देखता था। धन्य है आजका समय ! जिन दुष्टोंने मुझे कभी पापी और कभी पुण्यात्मा कहलाया और मुझे अनादि कालसे अत्यन्त दुःख दिये उन्हींकी सूरत आज मै नहीं देख पाता हू। जो मै बहुत ध्यानसे देखता हू तो मै अपने चद्रमासे भिन्न अचेतन अवस्थामें पडे हुए और स्पर्श, रस, गध, वर्णको लिये हुए एक पुद्गलके समूह मात्रको देखता हू, जिस समूहका स्थूलसे स्थूल सुमेरु पर्वत सदृश टुकडा अथवा सूक्ष्मसे सूक्ष्म परमाणु समान अश मेरे चद्रमाके स्वभावसे सर्वथा भिन्न है। जिस पुद्गल समूहके किसी अदृश्य विभागको मै अपनेही अज्ञानसे पुण्य और पापके नामसे पुकारता था, वही विभाग आज मेरे ज्ञान-चद्रमाके निर्मल प्रकाशमें एक नामसे और एक रूपसे प्रतिभासित होता है। मेरे चद्रमाका विमान उज्ज्वल, निर्बाध, और चिन्मूर्तिमयी है। उसको कोई भी पुद्गल-समूहका विभाग मलीन

आच्छादित और विकारी नहीं कर सक्ता। जो ऐसे चद्रमासे विमुख होकर परपुद्गलोंको, धन, धान्य, स्त्री, कुटुम्बादिकोंको अपना बनाते हैं और उनकी सगतिमें अपना महत्व मानते हैं वे इन्द्रियाधीन प्राणी कर्म–पासीसे बधे हुए, बधमार्गमें ससरण करते हुए, ससारी, व्यवहारी, आत्मज्ञानविसारी रहकर, परमपदके पथसे विपरीत चलकर, आकुलताका असह्य दु ख प्राप्त करते हैं। मैं अपने चद्रमाको देखता हुआ आज निराकुलित रहकर परम सुख प्राप्त कर रहा हू। अनादि कालसे अनुभव–रसके पाए विना मैं अपनी तृषा शान्त नहीं कर सका था सो आज इस चद्रबिम्बसे झडते हुए अमृतको पीकर परम तृप्त हो रहा हू। इस अनुभव–रसकी मिष्टतामें पुष्टता भी विद्यमान है। मेरा तन जो सासारिक सकल्प विकल्पोंके गमनागमनसे दुर्बल हो रहा था आज इस अनुभव–रसको पीकर पुष्ट और बलवान् हो रहा है। मेरे तनकी आभा जो विभाव गुणोंकी सगतिके कारण क्षीण हो गई थी, सो आज इस अमल रसके पान करनेसे समय २ वृद्धिको प्राप्त हो रही है। मेरे चक्षुओंमें मेरे तनकी क्षीणताके कारण देखनेकी शक्ति मन्द और विरूप पड गई थी सो आज तनकी पुष्टताने मेरे चक्षुओंको तीव्र और अविकारी बनाकर मेरे साथ बडा भारी उपकार किया है। मैं इन चक्षुओंसे जिधर देखता हू उधर ही वीतरागताका प्रसार पाता हू। यद्यपि जगतमें अनन्ते ज्ञेय पदार्थ हैं, तथापि मेरी दृष्टिमें कोई भी समाते नहीं। मुझे सब एक अचेतनका पिंड विदित होता है। मेरी दृष्टिकी समानता और अविकारता उन पदार्थोंमे अविमोहित रह अपने चैतन्यके अभिमानको कदापि त्या

गती नहीं । ऐसी निर्मल दृष्टि और निर्मल तनका धारी होकर आज मै शिव-कन्याके वरनेको उद्यमी हुआ हू । मैं अपने विवेकदूतको भेजकर शिव-कन्याके साथ सगाई कर चुका हू । भेदज्ञान-अश्वपर आरूढ हो, उत्तम क्षमादि दश धर्मरूप वरातियोंको सग ले, सोहं सोहं ध्वनियोंकी ध्वनिको प्रकट करता हुआ, स्याद्वाद जिनवाणीकी विजयरूप पताकाओंको लहराता हुआ, निर्मल भावरूप श्वेत रेशमी वस्त्रोंको पहने हुए, मोह-विजयरूप मौडको बाधे हुए, मगल गान गानेवाले अध्यात्मिक प्रयरूप भजन-मडलीके साथ अनुपम वैराग्य-रसकी मनोहर छटाको विस्तारता हुआ मैं श्री शिवमतीके गृहद्वारपर आ गया हू । श्री शिवदेवीकी जननी वीतराग-विज्ञानता अपने घरके द्वारपर आकर मेरे ऊपर मगलीक परिणामरूपी अक्षतोंको क्षेपण करती है और निर्मल ज्योतिको जगा-कर मेरी आरती उतारती हुई योग्य स्वागत करती है । समुचित समयपर मै भेदज्ञान-अश्वसे उतरकर आत्मज्ञानरूप शिवमतीके मोहमें भरा हुआ उसके निर्मल शुद्ध स्वभावरूप आगनमें आता हू और शातताकी स्वरूपवती वेदिकाकी छायाके नीचे सुखासन पूर्वक विराजता हू । मेरी भावी पटरानी मेरे दक्षिण भागमें आकर सुशोभित होती है । उसकी निर्मल दृष्टि मेरी भी निर्मल दृष्टिसे सर्व लज्जाको छोड ज्यों ही यकायक आकर भिड जाती है त्यों ही एक अतीन्द्रिय आनन्द-रसकी धारा हृदयमें बहने लग जाती है । शिवदेवी तत्काल मेरे कठमें स्वानुभवकी सुन्दर पुष्प-माला क्षेपण करती है । शिवदेवीका पिता वीतराग-विज्ञानताका स्वामी चैतन्यप्रभु

और उसके सर्व सद्गुण सम्बन्धी मुझे अपनी कन्याके प्रदान करनेकी इच्छा प्रकाशित करते हैं । मैं परम शातता और परम कोमलता-से इस अपूर्व लाभको ग्रहण करनेकी स्वीकारता देता हू । वे फिर कहते हैं तुम मेरी कन्याको स्वधर्मसे प्रतिपालन करना । मैं इसके उत्तरमें स्वधर्मसे पालना स्वीकार करता हू । सर्व समागण आनन्दमें प्रफुल्लित हो शिव देवीके साथ मेरा लग्न होना योग्य समझकर श्री सिद्धात्मस्वरूपकी भाव पूजाका समारम और आरम कराते हैं । ऐसी पूजामें ध्यानाग्नि जलती है । कर्म ईंधनोंकी आहुति देकर होम होता है । अन्तमें उस निर्मल वेदिकाके मध्य विराजित परम सिद्धस्वरूपके चहुओर सप्त अतिम गुणस्थानरूप प्रदक्षिणाओंको करके वह शिव देवी आज मेरी पटरानी होती है । मैं उसको पाकर अत्यन्त मग्न हो गया हू, मेरा स्वभाव उससे तन्मय हो गया है । मैं अपनी प्रिया शिवसुन्दरीके भोगका अनुपम विलास लेता हुआ सर्व क्षणिक आनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दके परम विशाल सुस्वादको ग्रहण करता हू ।

दशलाक्षणिक धर्म ।

(८)

दर्शन विशुद्धिधारी, अविकारी, निर्बंधदशा—विस्तारी, परमपूज्य, परमेश्वर, आत्माराम विहारी, चैतन्य भूपति आज निज अनन्त गुण समूहरूप परिवारको साथ ले शुद्ध भावरूप जिन मदिरमें प्रवेश

कर, श्रीपरमात्म देवका दर्शन प्राप्तकर आल्हादित हो गया है, जिसके तेजके सन्मुख अनत कोटि सूर्य्य भी तिमिराच्छन्न भासते हैं। जिसकी शात ज्योतिके सामने अनत कोटि चन्द्र भी नक्षत्रवत् मद्र कान्ति प्रतिभाषित होते हैं, जिसकी निर्मलता और शुद्धताईके समक्ष स्फटिकमणि, मलरहित जल और सर्वार्थसिद्ध विमानवासी अहमिंद्रोंके शुक्ल लेश्यायुक्त परिणाम भी सम्मिलित मालूम होते हैं। ऐसे शात, मनोज्ञ, परमोत्कृष्ट प्रभुके दर्शन प्राप्तकर आज यह सतृप्त हो गया है। दिगम्बर जैन मुद्रा उत्तमक्षमादि दशलक्षण-धर्मरूप आभरणोंसे सुशोभित, रत्नत्रय जडित एकाकार ज्ञानरूप मुकुटसे विराजित, शिव रमणीरमणके रागरूप रक्त मुख-रभसे उल्लसित, ज्ञान दर्शननिर्मल चक्षुओंसे दीप्तिमान् शुद्ध श्वेताम्बर मुद्रारूप ही प्रकाशित हो रही है। जिस मुद्राका मोही यह चैतन्य भूपति अभेद चिन्तामें पड समुद्र कल्लोलवत् आचरण कर रहा है। इसका दृश्य दर्शकको अद्भुत आनन्द प्रदान कर रहा है। इसके स्वरूपके हतनेको अनत कर्म वर्गणाएं इसके निकट आती हैं, परन्तु यह क्रोधको न प्राप्त हो अपने आत्मरूप उत्तम क्षमा गुणमें तल्लीन है। अनत अनुपम गुणोंका स्वामी होकर भी मान-कषायरहित, परममार्दव अधिकारी, जो कोई भावे, तिसे ही सुखकारी हो रहा है। अपनी सरलतामें तन्मय हो, कपटरहित, परवस्तु ग्रहणसे विरामी आर्जवगुणधारी, समता-विहारी हो रहा है। सत्यस्वभावधारी, असत्यता-निवारी, परम यथार्थ सम्य क्गुण-विराजित, नित्यसत्यता-प्रचारी, सत्य-अधिकारी हो रहा है। द्रव्य-भाव-मल-त्यागी, आत्मशुचितासों पागी, वीतरागी, निर्मल चैतन्य

चरित् स्नानकर्ता, परम शौच्य गुणसम्पन्न हो रहा है। अपनी शक्तियोंको परधर्मसे सकोच, परमार्गको मोच, निजधर्मको एकाकार तन्मयतामें धार उत्कृष्ट सजमधर्म प्रतिपालक हो रहा है। शुद्धो-पयोग—अग्नि निज चहुओर जला, निजआत्मको तपा, परतापरहित, स्वगुण अविरहित, परमतप धर्ममें तन्मय हो रहा है। भव-विकार-त्यागी, परमाणुसे विरागी, निजधन अनुरागी, आत्म विश्रामकारी, परम त्याग धर्ममें सावधान हो रहा है। षट्द्रव्य—लोक—ज्ञाता, निजद्रव्यमें विख्याता, निजनिज अपनाता, परम आकिञ्चिन्यपदधारी हो रहा है। परम ब्रह्मपद—भोगी, शिवनारिसे सयोगी, परथान-चरण-त्यागी निज ब्रह्म आचरणकारी, ब्रह्मचर्य्य धर्मानुयायी हो रहा है। ऐसे दशधर्मको सवारे चैतन्य भूपति धर्ममूर्ति ही प्रमाणित हो रहा है।

दर्शक इस धर्ममूर्तिको देख अधर्मको भुला निजधर्ममें अनुरागी होकर चैतन्य भूपतिकी सेवा करनेको उद्यत हो गया है। जोकि थोड़ी देर पहिले विषय वासनाके क्षणमय सुखमें आनन्द मानता था और इच्छित विषयोंकी लालसामें ससार—भ्रमण करनेमें उत्साही था वही इस समय अनादि भूलको मिटा, निज स्वरूप—साध्यके निज आत्मज्ञान साधकको प्राप्तकर, स्वाधीन आनन्द—स्वादका रसिक हो अपनी - पूर्ण रुचिके बलसे उपाधिजन्य आनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका सम्यक् स्वाद ले रहा है।

आगारी साधु ।

(९)

स्वसमयरहित, स्वकुलमामावलम्बी, स्वमर्य्योद-प्रवाही, स्वस्वभावा नुरागी, सुधासमूह, आत्मसाधु आत्मव्यक्तताके साक्षात् साधनमें उ न्मत्त हुआ, त्रिलोकको विस्मरण किये हुए मनोहर आत्मबागके भीतर रमन कर रहा है। मैं ज्ञाता, द्रष्टा सत्यस्वरूप हू, मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूं, स्वरूपानन्दी मेरा इष्ट है। आत्मसाधुकी यही अवि-चल श्रद्धा, यही गाढ रुचि, यही सचा छेम इस साधुका परमप्रिय मित्र सम्यग्दर्शन है। स्वरूपकी शुद्धता स्वस्वरूप परिणमनसे ही प्राप्त होती है, त्रिलोक प्रभु अविनाशी सिद्धात्मा मेरा ही वास्तविक रू प है। षट् द्रव्यमय लोकमें जीव द्रव्य उपादेय और अन्य ज्ञेय और हेय हैं। यही संशय, विमोह, विभ्रम रहित सच्चा ज्ञान मेरा प्रिय स होदर सम्यग्ज्ञान है। इंद्रिय और अनिंद्रय विषय वासनाओंसे दू-रवर्ती काम, क्रोध, लोभ, मान, माया, राग, द्वेष आदि विभावोंसे विलक्षण, एकाकार, सामान्य स्वसवेदन ज्ञानमें तल्लीन, तथा परम प वित्र आत्म विशुद्धतामें मगन, स्वसमयावरोही ब्रह्म आचरण मेरा सद्गुरु सम्यक् चारित्र है। इस रत्नत्रय स्वरूप परम धर्मका सगी आत्मसाधु प्रफुल्लित वदन आत्मप्रभावनाके हेतु सर्व आत्माओंकी स मानमें उपस्थित हो मोघराक्षसकी विपक्षिणी उत्तम क्षमारूप परम सुन्दर देवीकी उपासनाकर समाजको एक गुणस्थानमें विराजमान कराय सर्वके साथ स्वसुधारस निर्मित अद्भुत पक्वान्न और मिष्टान्नका

भक्षणकर परम वात्सल्य और प्रभावनागका वर्धक हो रहा है। इस प्रकारकी व्यावहारिक गार्हस्थ्य क्रिया इस दिगम्बर साधुको कैसे शोभती है यही एक आश्चर्य है। परन्तु जहा रत्नत्रय—ज्योतिका अनुपम प्रकाश है वहा कुछ आश्चर्य नहीं। वहा तो हर समय पराधीनतारहित स्वाधीन चिद्विलासका प्रसार है। मै ऐसे आगारी और अनागारी साधुके दर्शनकर परम तृप्त हो गया हूँ और एक बातकी बातमें उल्टे मार्गको छोड़ सीधे पथमें आ अनादि विस्मृत सर्वथा उपादेय अनुभवानन्दका स्वाद लेते हुए परम सतोपको प्राप्त हो गया हू। आज मेरा दिन सच्ची समाचनीसे परिपूर्ण है। जैसे मेरे अतरगमें परमोत्कृष्ट क्षमा है ऐसे सर्व जीवोंको उपलब्ध हो मेरी यह सच्ची दया भी मुझे अनुभवानन्द दिये विना रहती नहीं। धन्य है स्वस्वरूपका अनुभव। जो इसके मोही वे ही सच्चे मोही और आनन्दरूप हैं!!

वन—विहार।

(१०)

उत्तम सयमधारी, निर्जन स्थान—विहारी, स्वपरोपकार—कारी, परम सज्जन अतरात्मा आज परमात्मबागकी सैर करता हुआ जो विचारता है तो अपनेको सर्वसे शून्य देखता है। विभावभावोंकी तरग आती नहीं, आत्मरहित द्रव्योंकी परिणति समाती नहीं, तथा द्वैतभावकी रचमात्र भी झलक दिखाती नहीं। ऐसी एकान्तताका अनुरागी अपनी सैरमें अद्भुत गुणोंका विकाश देख रहा है। कहीं अनत ज्ञान है तो कहीं अनत दर्शन है, कहीं अनत वीर्य है तो

कहीं अनंत सुख है, कहीं क्षायक सम्यक्त्व है तो कहीं परम धैर्य्य है, कहीं निराकुलता है तो कहीं निरावलम्बत्व है, कहीं वीतरागता है तो कहीं शिवनारिसे सयोगता है, कहीं अनंत लाभ है तो कहीं अनंत भोग है, कहीं इन्द्रिय–भाव–वियोगता है तो कहीं अतीन्द्रिय–भाव–प्रगटता है, कहीं जगत् विस्मर्णत्व है तो कहीं जगत् स्मरणत्व है, कहीं त्रिलोकज्ञता है तो कहीं त्रिलोक–शून्यत्व है, कहीं उत्तम दया है तो कहीं उत्तम ब्रह्मचर्य्य है, कहीं उत्तम शौच है तो कहीं उत्तम आकिंचिन्य है, कहीं परद्रव्य–रस–रहितता है तो कहीं स्वद्रव्य–रस–प्रवाहिता है। इन गुणरूपी शाखोंकी शोभा और सुन्दर सुगन्धोंको लेता हुआ यह अंतरात्मा एक परम विस्तीर्ण निर्मल धर्म–ध्यानरूपी वृक्षकी छायामें विराजमान होता है। इस वृक्षके उत्तम मार्दव रूपी अत्यन्त कोमल और मनोहर पत्तोंका दृश्य इस अंतरात्माकी ज्ञान चक्षुओंको खूब ही तरावट कर रहा है। उत्तम सत्यकी सुगंधित पवन इस वृक्षसे भेंट करके ज्यों २ इस अंतरात्माके मस्तिष्कको लगती है त्यों २ इसके अंतरंगमें विवेकका रुधिर निर्मल होता जाता है। भेद–विज्ञानके मनोहर पुष्प जिस समय वायुके संचारसे टूटकर इस अंतरात्माके ऊपर पड़ते हैं इसका सारा शरीर उसकी खुशबूसे महक जाता है। जब इस अंतरात्माको भूख–प्यास लगती है यह उसी समय इस वृक्षके स्वानुभवरूप फलको तोड़ लेता है और उसके अंदर भरे हुए सुधा समूहका पान कर अपनी क्षुधा और तृषाको तृप्त करता है। इस सुधामें अपूर्व शक्ति है। इसका अमर रस अंतरात्माको परम पुष्ट करता है

अतरात्मा निरतर ही इस वृसकी सेवा करते रहकर और स्वानुभव-रूपी फलोंके रसको चाटते रहकर जो आनन्द भोगता है वह कथनसे बाहर है, बडे २ ज्ञानी भी जिस आनन्दकी व्याख्या नहीं कर सक्ते हैं। धन्य है यह अतरात्मा ! जो इस प्रकार वचनातीत सर्व क्षणमय आनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका स्वाद लेता है।

आत्मीक रामायण।

(११)

मोह—शत्रुके दु खसे क्लेशित, असह्य वेदनामें इलाजरहित, अत्यन्त निरुपाय होनेपर भी उपाय करनेका इच्छुक, आत्मा—राम भव—वनमें भटकते भटकते एक उच्चस्थानको देखता है। ज्यों ही दृष्टि फैलाता है और क्षणभर विचार करता है, त्यों ही धर्मोपदेशरूप सुग्रीवके शान्तमुखको देख साता प्राप्त करता है और चित्तका शोक मूल एकाएक मिल जाता है। समापणका आनन्द लेते हुए आत्माराम धर्मोपदेशके मुखपर मलीनता जान उसका कारण श्रवणकर उसके शत्रु मिथ्योपदेशरूप साहसगत नाम मायामई सुग्रीवको विजय करनेके लिये कमर कसता है। धर्मोपदेश और मिथ्योपदेश दोनोंका बाह्य एक रूप देख, परीक्षा लक्षणको दृष्टिमें रखते हुए आत्माराम और धर्मोपदेश दोनों मिथ्योपदेशको पराजय करते हैं। इस उपकारसे उपकृत हो धर्मोपदेश आत्मारामकी वियोगिनी अनु-

कहीं अनत सुख है, कहीं क्षायक सम्यक्त्व है तौ कहीं परम धैर्य्य है, कहीं निराकुलता है तो कहीं निरावलम्बत्व है, कहीं वीतरागता है तौ कहीं शिवनारिसे सयोगता है, कहीं अनत लाभ है तो कहीं अनंत भोग है, कहीं इन्द्रिय-भाव-वियोगता है तौ कहीं अतीन्द्रिय-भाव-प्रगटता है, कहीं जगत् विस्मर्णत्व है तौ कहीं जगत् स्मरणत्व है, कहीं त्रिलोकज्ञता है तो कहीं त्रिलोक-शू न्यत्व है, कहीं उत्तम दया है तो कहीं उत्तम ब्रह्मचर्य्य है, कहीं उत्तम शौच है तो कहीं उत्तम आकिंचिन्य है, कहीं परद्रव्य-रस-रहितता है तौ कहीं स्वद्रव्य-रस-प्रवाहिता है। इन गुणरूपी झाडोंकी शोभा औ सुन्दर सुगधोंको लेता हुआ यह अतरात्मा एक परम विस्तीर्ण निर्म धर्म-ध्यानरूपी वृक्षकी छायामें विराजमान होता है। इस वृ उत्तम मार्दव रूपी अत्यन्त कोमल और मनोहर पत्तोंका दृश्य अतरात्माकी ज्ञान चक्षुओंको खूब ही तरावट कर रहा है। उ सत्यकी सुगन्धित पवन इस वृक्षसे भेंट करके ज्यों २ इस अंतरात मस्तिष्कको लगती है त्यों २ इसके अतरगमें विवेकका रुधिर ि होता जाता है। भेद-विज्ञानके मनोहर पुष्प जिस समय व सचारसे टूटकर इस अतरात्माके ऊपर पडते हैं इसका शरीर उसकी खुशबूसे महक जाता है। जब इस अतरा भूख-प्यास लगती है यह उसी समय इस वृक्षके स्वानु फलको तोड लेता है और उसके अदर भरे हुए सुधा समूहक कर अपनी क्षुधा और तृषाको तृप्त करता है। इस सुधामें शक्ति है। इसका अमर रस अतरात्माको परम पुष्ट क

योग्य चक्रमें सज्जित करता है। सोऽहंके युद्धबाजित्र बजते हैं और सेना एकाएक मोहके बाह्य मनोहर, अभ्यतर महाभयानक औगुणोंसे भरपूर विषयपुर रूप लंका नगरके बाहर आ उपस्थित होती है। सोऽहंकी स्याद्वादमय गर्जनाको श्रवणकर मोह एकाएक कांप उठता है और तब साहस बांध युद्धकी तय्यारी करता है। मोह-रावणका भाई शुभोपयोग रूप विभीषण अपने भाईको समझाता है कि, अनुभूति आत्मारामको दे दी जाय। परन्तु मोहके मोहान्ध आग्रहको देख शुभोपयोग ऐसे कुसंगको तजना योग्य समझ शीघ्र आत्मारामके चरणोंमें लोटता है और आत्मारामकी प्रियतमाको आत्मारामको दिलानेवाले न्यायरूप कार्य्येमें परिणमन करनेकी चेष्टा कर आत्मारामको पूरी २ सहायता करता है। मोह रावण अपने भ्राता अशुभोपयोगरूप कुंभकरण और राग-द्वेष रूप इंद्रजीत और मेघनाद पुत्रोंसे सलाहकर चार कषायरूप प्रचंड सेनापतियोंको आज्ञा देता है कि, सर्व औगुणोंकी सेना तैयार की जाय। मिथ्याज्ञानरूप सेनाधिपति सर्वको चक्रमें सज्जितकर युद्ध-क्षेत्रमें आजाता है।

मोह-रावण और आत्मा-रामका युद्ध होता है। कभी औगुणोंकी, कभी गुणोंकी हार होती है। दोनों तरफके योद्धा एकाग्रचित्त हो युद्ध करते हैं। सत्यपथानुयायी आत्मा-रामका साहस बढ़ता जाता है। अन्याय-मार्गी मोह-रावण अपनी सेनाको दबी देख साहसहीन होता जाता है। आत्मारामका सहोदर संयमरूप लक्ष्मण भाई अपने

भूति-सीताका पता लगानेका उद्यम करता है और शीघ्र ही श्रुति नाम विद्याधरसे खबर पाता है कि, मोह-रावण अनुभूतिको चुरा ले गया है। पश्चात् धर्मोपदेश परम वीर, निर्भय, अद्भुत विद्याधारी सनोंके लिये परमकामदेव श्री सम्यक्त-हनूमानसे भेंट कराता है। सम्यक्त योद्धा आत्मारामसे इस प्रकार मिलता है जैसे दूधमें दूध मिलता है। दोनोंमें एकाग्र प्रीति होती है। अपने मित्रकी वियोगिनी अनुभूति रानीसे मिलनेका प्रणकर सम्यक्त तय्यार होता है। और अपनी अपूर्व विद्याके बलसे शीघ्रही देख लेता है कि, उस अनुभूतिरानीको मोह-रावण कलंकित करना चाहता है। परन्तु परमसती, आत्माराममें आशक्त अनुभूति मोहके बिछाए हुए माया जालोंमें नहीं फंसकर आत्मारामके नाम और गुणोंको स्मरण करती हुई अपने शीलकी रक्षा कर रही है। शीघ्र ही सम्यक्त-हनुमान् अनुभूतिसे मिलते हैं और आत्मारामकी खबर सुनाते हैं और विश्वासार्थ आत्मारामकी विवेक-मुद्रिका प्रदान करते हैं। इस सुखसम्वादरूपी अमृतको पाकर अनुभूतिके अंगका प्रदेश हर्षांकुरसे अंकुरित हो जाता है। अनुभूति अपने भेदविज्ञान-चूड़ामणि देकर शीघ्र सम्यक्तको आत्मारामके पास भेजती है। आत्माराम अपने सम्यक्त-मित्र द्वारा अपनी प्रिया अनुभूतिकी खबर पाकर परमानंदित होते हैं और परम साहस कर अपनी अनुभूतिको ग्रहण करनेके लिये तय्यार हो जाते हैं। धर्मोपदेश और सम्यक्त दशलक्षणरूप सेनापतियोंको आज्ञा देते हैं कि, वे अपनी २ चमत्कारिक गुण रूप सेनाको कार्य्य-क्षेत्रमें परिणत होनेकी आज्ञा देवें। सर्व सेना एकत्र होती है। सम्यग्ज्ञान मुख्य सेनापति सर्वको

योग्य चक्रमें सज्जित करता है। सोऽहंके युद्धवाजित्र बजते हैं और सेना एकाएक मोहके बाह्य मनोहर, अभ्यतर महाभयानक औगुणोंसे भरपूर विषयपुर रूप लका नगरके बाहर आ उपस्थित होती है। सोऽहकी स्याद्वादमय गर्जनाको श्रवणकर मोह एकाएक काप उठता है और तब साहस बाघ युद्धकी तय्यारी करता है। मोह-रावणका भाई शुभोपयोग रूप विभीषण अपने भाईको समझाता है कि, अनुभूति आत्मारामको दे दी जाय। परन्तु मोहके मोहान्ध आग्रहको देख शुभोपयोग ऐसे कुसगको तजना योग्य समझ शीघ्र आत्मारामके चरणोंमें लोटता है और आत्मारामकी प्रियतमाको आत्मारामको दिलानेवाले न्यायरूप कार्य्यमें परिणमन करनेकी चेष्टा कर आत्मारामको पूरी २ सहायता करता है। मोह रावण अपने भ्राता अशुभोपयोगरूप कुंभकरण और राग-द्वेष रूप इंद्रजीत और मेघनाद पुत्रोंसे सलाहकर चार कपायरूप प्रचड सेनापतियोंको आज्ञा देता है कि, सर्व औगुणोंकी सेना तैयार की जाय। मिथ्याज्ञानरूप सेनाधिपति सर्वको चक्रमें सज्जितकर युद्ध-क्षेत्रमें आजाता है।

मोह-रावण और आत्मा-रामका युद्ध होता है। कभी औगुणोंकी, कभी गुणोंकी हार होती है। दोनों तरफके योद्धा एकाग्रचित्त हो युद्ध करते हैं। सत्यपथानुयायी आत्मा-रामका साहस बढ़ता जाता है। अन्याय-मार्गी मोह-रावण अपनी सेनाको दबी देख साहसहीन होता जाता है। आत्मारामका सहोदर सयमरूप लक्ष्मण भाई अपने

एकत्व, अनेकत्व, अनित्यत्व आदि सुगंधित वृक्षोंमें इसको रमण कराता है । एक २ वृक्षके भीतर उपयोगकी चढन उतरन करता है। यह चढन उतरनका समय इस उपयोगको परम सुखस्वाद दिलाता है । इस अभ्यासमें पड़ा हुआ उपयोग क्रम २ से ऐसा दृढ हो जाता है कि स्ववस्तु-वाटिकामें रमण करनेको ही इसको मजा मालूम होता है । परवस्तु-वाटिकामें जो लाचारीवश उपयोग ले जाना भी पड़े तो वह उपयोग वहां तल्लीनता नहीं करता, झट अपना प्रयोजन कर स्ववस्तु-वाटिकामें आजाता है ।

इस प्रकारकी वृत्ति इस मनुष्य-देह-धारीको भी सिद्ध सुखकी झलक दिलाती है और परानुभवकी वासनाको त्याग करा स्वानुभवरूप रसआनन्दको प्राप्त कराती है । जो व्यक्ति पूर्व इस व्यवस्थाके परनिमित्तमें सुख मानता था वह व्यक्ति अब स्वानुभवके आनन्दमें तल्लीन हो जाता है ।

दोहा-महिमा भेद-विज्ञानकी, है अनुपम अविकार ।
जो याको निश्चय करै, पहुचे अनुभव-द्वार ।

सम्यक्तीकी अपूर्व सामायक ।

(१२)

पंचलब्धिविजयी आत्मा अनादि भ्रमणसे थककर और भव-वनमें किसी भी स्थलपर सुखशांति नहीं प्राप्तकर अपने ऊपर पड़ती हुई आपत्तियोंके सामर्थ्यसे यथार्थ निश्चयकर विचारता है कि मैं एक स्वतन्त्र ज्ञान स्वभावधारी, अविनाशी-अनंत-गुणसमूहरूप एक आत्मा-

वस्तु हू। मेरा सम्बन्ध उपाधिजन्य राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभावोंसे नहीं और न पुद्गलमई उपाधियोंसे है। द्रव्यकर्म और नोकर्म मेरे स्वभावसे भिन्न हैं। मै वास्तवमें अमूर्त चैतन्य-गुण-समूह हू। शुद्ध चैतन्यतामें स्थिर रहना मेरा कार्य्य है। पञ्चइन्द्रीके विषय और विषयोत्पादक पदार्थ मेरे अहितकारी हैं। जब मेरी परिणति इन्द्री-ग्रामोंके किसी भी कोनेमें जाती है, मेरे निज स्वरूपाचरणका घात होता है। मैं एक आनन्द धामसे पतित हो दु खके स्थानपर पहुच जाता हू। मेरे उपयोगमें इस जगत्के मायारूप प्रपचका राग कदापि उत्पन्न न हो-यही मेरी भावना है। मुझे पूर्ण निश्चय है कि यह शरीर-सराय, जिसमें मैं अब वास कर रहा हू, मुझसे छूटनेवाली है और इसीके सायमें इस तन-सम्बन्धी सर्व सम्बन्धी भी छूट जावेंगे। मुझे इसलिये व्यवहार-मार्गमें ऐसे कार्य्य नहीं करने जिनसे परजीवोंको सक्लेश हो, परके प्राणोंको पीडा हो। अन्यायरूप आचरण मेरेसे होना आश्चर्यरूप है। मैं तो निश्चय समझ चुका हू कि-यह सर्व सम्बन्ध क्षणिक है। जबतक है तबतक इसकी रक्षा स्वधर्मावरोहणके हेतु न्याय-मार्ग-द्वारा ही कर्तव्य है। मैंने वस्तुके सम्यक् स्वरूपको जाना है। जो मेरा ज्ञान अज्ञानरूप था-वह सुज्ञानरूप हो गया है। जो मेरी परि-णति रागरूप थी-वह विरागरूप हो गई। और ऐसा होना ही चाहिए, क्योंकि श्रीअमृतचद्र आचार्य्यके वचन हैं " सम्यग्दृ-ष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्तिः " मेरे परिणामोंकी चढ़न विद्यमान है। निश्चयसे मै चारित्रवान् होनेवाला हू। मेरी परिणति

उसी ओर मुझे प्रेरित कर रही है, मुझे उत्कट आकाक्षा है कि, मैं निज आत्मीकरसका स्वाद सदा लेता रहूं—यही मेरा परम सुखरूप भोग है। मैंने अभी मार्गको पहिचाना है, मुझे उस मार्गपर चलना है। विना चले मुझे स्वतत्रता नहीं, मुझे अद्भुत स्वाधीनता नहीं। यदि कोई ऐसा माने कि मैंने आपा—परको पहिचान लिया है, मैं स्वधाममें पहुच गया, मुझे अब मार्गपर चलनेका विकल्प क्यों करना, तो वह स्वमार्ग—ज्ञानसे विमुख है। उसका अभिमान उसे सम्यग्ज्ञानी और वैरागी नही बनाता है। जो अभिमानके वशीभूत हो अपनेको निर्बंध मानके आचरण करते हैं, वे सम्यक्त्वरहित हैं, जैसा कि श्रीअमृतचद्र आचार्य्य इस श्लोकमें कहते हैं।

" सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातुबंधो न मे स्यादित्युत्तानो त्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु। आलम्बं तां समिति परतां ते यतोऽद्यापि पापा। आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्य क्त्वरिक्ता ॥"

मेरी भावना मुझे ऐसा नहीं बनाएगी—यह मुझे पूरी खातरी है। क्योंकि यद्यपि मुझे भासमान होता है कि मैंने स्वरूपा-चरणको ही उपादेय माना और श्रद्धान किया है तथापि मैं निश्चयका स्तंभ नहीं गाड सका कि मैं सम्यग्दृष्टी हू ही। मैं सम्यक्ती हू या मिथ्यादृष्टी-यह बात निश्चयपूर्वक अर्हंत भगवान ही जानते हैं। मैं छद्मस्थ पराश्रित ज्ञानावलम्बी कैसे समझ सकता हू कि मेरे ऐसा कौनसा सूक्ष्म अश मिथ्या शल्यका विद्यमान है, जिससे मैं सम्य-क्तीसा दीखता संता भी सम्यक्ती न रहू। जो कुछ भी हो इस समय मुझे मेरा उपयोग आत्मगुणोंके सन्मुख कर रहा है, यही मुझे बडा

भारी लाभ है। जो रस कभी नहीं अनुभवमें आया था वह रस स्वादमें आ रहा है—यही मेरी स्थिरता जितनी देर तककी है उतनी देरके लिये मेरा अपूर्व सामयिक है। मैं राग—द्वेषसे दूर शुद्ध समता—सखीके रागमें उन्मत्त हो गया हूं। यही मेरी क्षणिक समवृत्ति मेरी ध्रुव समवृत्तिके लिये साधन है। यही कारण है और मेरी सर्व विमुक्त शान्त चिन्मय अवस्था मेरा कार्य्य है। जो आनन्द कारणके प्रयोगमें है वही आनन्द कार्य्यमें भी होगा। आज परमात्माकी कृपासे भवनिमज्जनकारी आनन्दोंसे दूरवर्ती और विजातीय अनुभवानन्दको लेता हुआ मैं कृतकृत्य हो रहा हूं।

आत्मीक माहात्म्य और अद्भुत कपाय।

(१४)

शिव—महलमें विराजनेवाली, स्वस्वरूपमानमें लवलीन, त्रिजग ऊपर अपना आसन रखनेवाली, निराली छटाको विस्तारनेवाली मुक्ति—स्त्रीके नेहमें आसक्त हो एक ससारी व्यवहारी धन, धान्य, पुत्र, कलित्र, मकान, मंदिरको छोड एकान्तमें जा अपनी प्रियतमासे मिलनेकी भावनामें लीन हो सर्व पर भावनाओंको टालता है और यह विचारकर कि तपसे ही राज्य मिलता है आप एकचित्त हो शिवनियाके स्वराज्यको लेनेकी इच्छासे अनेक कष्टोंको सहकर तप करनेके लिये उद्यत हो जाता है। अनशन तपारोही होकर अपने आत्माको किसी भी परभाव, परगुण, परपर्याय और परद्रव्यका भोजन नहीं कराता है। उसे

स्वरूपकी दृढतामें सिवाय आनन्दके कभी कोई क्लेश पानेका नहीं हू। धन्य है ये छःतप ! इनकी सहायता मुझे परम सन्तोषित और पुष्ट कर रही है। वास्तवमें यह बाह्य तप तप ही कहलानेके योग्य हैं, क्योंकि जहातक सकल्प सहित विचार हैं वहातक निर्विकल्प स्व संवेदन ज्ञान नहीं । निर्विकल्प स्वसवेदन ज्ञान ही साक्षात् अतरग भाव है । परन्तु जबतक इस भावकी प्राप्ति नहीं तबतक मुझे इन छ बाह्य तपोंको अवश्य निरन्तर तपना चाहिये । यद्यपि इनका सयोग मुझे निर्नाम नहीं बनाता, मुझे गुणस्थानोंसे अतीत नहीं रख ता, किन्तु मुझे षट् गुणस्थानवर्ती रखकर सज्वलन कषायावरोही साधुके नाममें गुंठित रखता है सो सत्य ही है । मेरेमें इतना लोभ है कि, मैं तीन लोक–विजयी शिव–तियाके राज्यको पाऊ। मेरेमें इतना क्रोध है कि मै स्वस्वरूप मग्न ध्यानाग्निसे पुद्गलीक कर्म वर्गणाओंको दग्ध करू। मेरेमें इतना मान है कि मैं अपनेको सिद्ध समान सर्वोत्कृष्ट पवित्रात्मा समझता रहू। मैं इस मानमें अपनी वर्त मान सासारिक अवस्थाको भूल जाता हू। मेरेमें इतनी माया है कि सिद्ध और अर्हत पदके अयोग्य ऐसे शुद्ध सकल्पों को करते हुए भी मैं ऐसा ही मानता हू कि मैं स्वय सिद्ध तथा अर्हतवत् आचरण कर रहा हू । मेरी मानता कुछ है और आचरण कुछ है–यही मेरी माया है । इन चार कषायोंका सगी होकर मैं निसगी कैसे कहला सक्ता हू ? यद्यपि ऐसा है तथापि मैं मुक्ति तियामें आशक्त होकर सर्व सासारिक और विनाशीक आनन्दोंसे करोडों कोस दूरवर्ती अनुभवानन्दका ही स्वाद लेता हू।

अध्यात्मीक अंतरंग तप।

(१९)

निजसत्वविलासी, परभावसे उदासी, सम्यग्दृष्टी, यथार्थ मोक्ष, मोक्षसुख और मोक्षके कारणका ज्ञाता, स्वरसस्वाद लेनेका उत्सुक, षष्ठम सप्तम गुणस्थानावरोही, विषयसुखको भवभव बाधाकारी, अनुपम गाढ विष सम श्रद्धा करनेवाला अंतरात्मा आज अंतरंग तप तपनेमें सलीन हो रहा है। शुद्धात्म वृत्तिका धारण ही शुद्ध चारित्र है। इस स्वरूपाचरण अनुभवसे जब इसकी वृत्ति हटकर और इतस्तत डगमगाकर परानुभवमें प्रवृत्त कर जाती है, तब यह अंतरात्मा अपना बडा भारी अपराध समझ शुद्धात्म स्वरूपमें दृढतासे आचरण करनेवाले आचार्योंकी अज्ञानुसार स्ववृत्तिको बलात्कार परसे फेर स्वमें स्थिरकर प्रायश्चित्त नाम अंतरंग तपका मनन करता है।

शुद्धात्म स्वरूप ही उपादेय है—ऐसी दृढ रुचि **सम्यग्दर्शन** है। स्वसवेदन ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। निर्विकल्प वीतराग स्वरूपानुभव ही **सम्यग्चारित्र** है। ये तीन होनेपर भी एक है। मेरा ही आत्मा इन तीन स्वरूप है। जहा निर्विकल्पता है वहा यह आत्मा अपने स्वरूपानुभवमें ठहरा हुआ परम आनन्द भोगता है। यह अंतरात्मा इस प्रकार निमूर्ति—स्वरूप ब्रह्म—पदका पूर्ण सत्कार करता हुआ निरन्तर स्वरुचिके विषयस्वरूपरत्नत्रय रूप स्वबोधिको अपने अंतरंग समाधि-पुटमें अत्यन्त रुचिसे रखनेका उद्यम करता है और इसी कारण जिन २ महात्माओंने इस बोधिका सेवन कर स्वकल्याण किया है

उनकी ओर भी परम रुचिभाव धारण करता है। इस तरह अंतरंग विनय तपका अभ्यास कर सुखी होता है। स्वरूप मनन करने वाले साधु समाजकी स्थिरतारूप परमभक्ति सहित बाह्य वैय्यावृत्यको आवश्यकतानुसार करते हुए भी अंतरंग वैय्यावृत्यको नहीं भूलता है। वीतराग विज्ञानता ही मोक्ष साधक है, इस भावपर दृढ़तासे आरूढ़ होते हुए भी जब किसी कारणवश इस भावसे उपयोग डगमगाता है तब यह अंतरात्मा शीघ्र सचेत हो निजउपयोगकी सेवा श्रुतज्ञान द्वारा करता हुआ मोक्ष-साधक भावको स्थिर करते हुए वैय्यावृत्य-तपमें प्रवीणता प्राप्त करता है।

अनादि कालपर अध्ययनकी खोटी टेवका तिरस्कार करके भेदज्ञानके द्वारा उन अविनाशी षट् द्रव्योंके गुण और पर्यायोंका विचार कर कि, जिनसे यह त्रिलोक अनादि कालसे अपना नाना प्रकारका रूप दिखला रहा है और अनंत काल तक दिखलाए जावेगा। यह अंतरात्मा अपने आत्मस्वरूपके शुद्ध जातीयत्वको आकर्षण करता है और एकाग्र चित्त हो रूपातीत ध्यानमें मग्न हो अपनी ही वस्तुका अध्ययनकर निश्चय स्वाध्यायमें लयता प्राप्त करता है। जब कभी परिणाम विचलित होते हैं तो शीघ्र ही जिनवाणीके मनोहर सूत्रोंका अध्ययनकर फिर अपने ही आसनमें अचल हो जाता है।

शरीर अशुचि और जड वस्तुओंसे निर्मित होकर और जड वस्तुओंसे पालित किये जानेपर अपने भीतर मल-समूहको अधिकतासे धारण करता हुआ नवद्वारोंसे मल ही को निकालता है तथा चैतन्य आत्माके संग हो करके भी कभी चेतन नहीं होता, अपने

जड़त्वको त्यागता नहीं है। बाह्य औदारिक शरीरके सिवाय तैजस और कार्माण शरीर,जो एक समयमात्र भी संसारी जीवका साथ नहीं छोड़ते, जड पुद्गलमय होकर चैतन्यकी संगति करते हुए भी जड ही रहते है। अंतरात्मा ऐसे शरीरोंके वास्तविक स्वरूपोंमें दृष्टि रख अपने अनादि भ्रमको टाल शरीरोंको अपनेसे सर्वथा भिन्न समझकर उनसे नेह त्यागता है और निर्मोह हो स्वरूपाचरणमें स्थिर होकर व्युत्सर्ग नाम तपका सम्यक् अभ्यास करता है।

पाच प्रकार अंतरंग तपोंको साधन रूप मानता हुआ अंतरात्मा निर्विकल्प समाधिके मध्यमें लीन होता है और सर्व जगत्से प्रयोजन छोड एकाग्र चित्त हो स्वानुभवरसास्वादको लेकर सर्वोत्कृष्ट ध्यान रूप महान तपको अंगीकारकर परमानंद भोगता है।

इस प्रकार उपर्युक्त षट् अंतरंग—तपोंमें सावधान, सम्यक् श्रद्धावान अंतरात्मा, जिस क्षणभंगुर सुखकी वासनामें अनादि काल खो चुका है, उस सुखको दु ख—बीज जान भवभ्रमणकारी आनन्दोंमे अतीत अनुभवानन्दका स्वाद लेता है।

गुफामे विश्राम।

(१६)

ज्ञान—सूर्यकी प्रभा अनादि मिथ्या भ्रमको एक समयमें नाशकर देती है। इस श्रद्धाका रखनेवाला अंतरात्मा आज कुमति-

नारीको सदाके लिये त्यागकर सुमतिके रागमें रजित हो गया है। मोहनीकर्मके द्वारा चढा हुआ बिलकुल आपेको भुलानेवाला इस अतरात्माका नशा उतर गया है। यद्यपि अभी इतना नशा विद्यमान है कि, जिससे अपने आपको न भूलता हुआ भी यह अतरात्मा पर पदोंमें थोडी थोडी देरके लिये प्रीति कर लेता है, कभी द्वेष भी कर लेता है, तौ भी स्वस्वरूप अनुभवकी रुचिको लिये हुए है। ऐसा अतरात्मा बहिरात्म–बुद्धिको त्याग परमात्मा होनेका इच्छुक सुमति–नारको सग लिये हुए परदेशमें अपनी क्षुधा तृप्ति होते न देख शिव–नगर नामक स्वदेशकी ओर प्रयाण करता है। रास्तेमें एक रमणीक बनमें आता है, जहा शुभभावनारूप बारह वृक्ष अत्यन्त मनोहर प्रचुर शात छायाको विस्तारनेवाले शील सुगधसे सारे बनको महकानेवाले बहुत ही सघन भावरूप पत्रोंके भारसे नम्रीभूत अपनी छटाको विस्तार रहे हैं। उस बनके निकट ही एक सरोवर बहुत लम्बा चौडा चौकोंण अत्यत उज्ज्वल, मिष्ट और अविकारी सम्यग्ज्ञानरूप सुधासे भरा हुआ मद मद लहरें ले रहा है। सरोवरके निकट ही एक अत्यन्त सुडौल और मनहरण स्वचारित्र नाम पर्वत है, जिसकी शोभाको देखते देखते अतरात्मा पर्वतके निकट जा उस अनुपम गिरकी एक निगुप्त रूप गुफामें जाता है और सुमतिनारीके साथमें बैठकर विश्राम लेता है। ससारके भ्रमण और इष्ट वियोग अनिष्ट-सयोग रूप विकल्प तथा इंद्रिय विषयोंकी प्राप्तिमें उल्झनरूप सकल्प आदि उपाधियोंके खेदसे दु खी हो यह अतरात्मा स्थिर चित्त करके विराजता है और अपने विवेकरूपी चाकरके द्वारा सरोवरका मिष्ट जल मगा पान करता

है और थकायक सम्पूर्ण थकनको दूरकर स्वानुभवकी शात निद्रामें शयन कर जाता है। इस शयनमें बेखबरी नहीं है। इस शयनमें अचेतता नहीं है। यह शयन चैतन्यताकी चादरसे आच्छादित है। यहा निरानन्द नहीं, किन्तु सदा आनन्द है। इस गुफामें ठहरनेवाले अतरात्माको न विषय चोर सताते और न कषाय-लुटेरे व्याकुल कर सक्ते हैं। स्वदेश गमन करनेवाले व्यक्तिको ऐसी गुफाकी प्राप्ति परम सौभाग्यकी बात है। यह अतरात्मा इस रमणीक स्थानमें विश्राम करता हुआ बाधाकारी आनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका स्वाद लेता है।

मिथ्यात्व गुणस्थानीकी दशा।

(१७)

निश्चय स्वपदभासी, निजदुर्गविलासी, जगत्प्रतिभासी एक पक्षी भवबन भ्रमणमें पडा कमलनालरूप जगमें लटकता हुआ, तिसके त्यागमें अपना–नाश विचारता हुआ भ्रम–बुद्धिसे उसको स्वय त्याग देनेकी निज शक्तिको विस्मरण किये हुए, उसको छोडके जानेकी इच्छा रखते हुए भी नहीं छोडता है और वृथा ही विपर्ययरूप औंधा लटका हुआ अपने पाखोंको बार बार झटकारता है और अनेक त्रास पाता है। इस मिथ्याबुद्धिका घरेया चेतनपक्षी अपनी अभत शक्तिको वृथा ही रख परके जालमें पडा विपत्तिग्रस्त हो रहा है। अपने निकट आनेवाले अन्य जीवरूप पक्षियोंको अपना हितुमान उनसे मोह करता

नर, नारक, देव, तिर्यञ्च सर्व ही इस भ्रमबुद्धिमें उलटे छक रहे हैं। अपनी २ जड देह, और उसमें बनी हुई इन्द्रियोंमें लवलीन हो रहे हैं। तिस देहकी साता व असाता ही के स्वादमें उस देहको छोड दूसरी देह धारते हैं। देहका नेह ही पुन देहके होनेका कारण है। ऐसे देह-बुद्धि चहुगतिके जीव निरन्तर तृष्णाकी आगमें जलते हैं और कभी भी निराकुल आनन्द नहीं पाते हैं। जो कोई ससारसे भयभीत हो इन्द्रिय सुखकी लालसाको दूर करना चाहता भी है, तो एकान्त पक्षको पकडकर यथार्थ निजस्वरूपको न जान मिथ्यादृष्टी ही रहता है। जबतक स्याद्वादकी कसौटीसे पदार्थोंका स्वरूप न जाने तबतक स्वनिधिको कैसे पावे? आप कौन और अपनी निधि कैसी? इसीकी यथार्थ समझ मिथ्याबुद्धिको तिरस्कार करनेवाली है। निज चैतन्यगुणका भंडार, दर्शन ज्ञानका धारी, स्वसत्तामें नित्यता रखनेवाला, स्वाभाविक गुणोंसे अभिन्न, ऐसे आत्माका यथार्थ स्वरूपका प्रतिभासना ही भ्रम बुद्धिको निर्मूल करनेवाला है।

जगके मोही जीवपक्षी मिथ्यात्व
समय गमाते हैं। कोई २ बाह्य चारित्रको
आत्मज्ञान रत्नकणिकाके विना ग्रैवेयक
रन्तु मिथ्यागुणस्थानको त्यागते नहीं।

यह गुणस्थान कुछ अपनेको पकडे
पडकर बावले हो रहे हैं। यदि हम
कमार्गसे राग त्याग सुमार्गपर आवें

बैठ विचार करें तो हम अपने ही बलसे कदाचित् इस गुणस्थानको त्यागनेके लिये सामर्थ्यवान हो जावें।

धन्य हैं! वे अनुभवी जीव जो इस गुणस्थानको उल्लघकर चौथे में जा पहुचे हैं और वहा बैठकर इद्रिय सुखोंको जीर्ण तृणवत् समझते हुए अतीन्द्रिय सुखको सुख मानते हुए अपने निर्मल भावोंके बलसे विनाशीक आनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका स्वाद लेकर अपने जातीयत्वका अनुभव करते हैं।

सासादन गुणस्थानीको बदना।

(१८)

मै निश्चयसे सिद्ध सदृश निर्मल परमात्मा हू। यद्यपि व्यवहारमें भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मकी गुफाओंके भीतर तिष्ठा हुआ अपनी शक्तिको व्यक्त नहीं कर सका हू, परन्तु मेरी शक्तिको सिद्धवत् प्रकाशित बनाना और अपने अनतसुखको प्राप्त करना मेरा अभीष्ट है। इससे मैं इस सम्यग्दृष्टिसे भरपूर हू कि निज शुद्धात्मा ही उपादेय है तथा यह भी मुझे निश्चय है कि अनेकातस्वरूप मेरा शुद्धात्मा अन्य सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, अनत ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य्यका धनी है। इसमें मुझे कुछ भी सशय नहीं है और न कुछ विपरीतता है तथा इस अपूर्व सम्यग्ज्ञानकी तरफ मेरा अनवध्यवसाय (यह कुछ होगा) भी नहीं है। मुझे इसमें भी पूर्ण श्रद्धा है कि अपने शुद्धात्म स्वरूपका अनुभव अर्थात् सर्व पदार्थोंसे अपनी

वृत्तिको खींचकर अपने स्वरूपमें लीन करना, यही इस बातका उपाय है कि मैं तीनों गुफाओंसे बाहर हो जाऊं और अपूर्व तेजको प्रकाशित करता हुआ शुद्धात्मा रहूं। इस निश्चयका धारी उपशम सम्यग्दृष्टी अपनी अनादि अविद्याके वश जब कभी अनन्तानुबंधी कषायके वश हो जाता है कि, उसी समय सम्यक् श्रद्धासे पतित हो मिथ्यात्व गुणस्थानमें आने लगता है। मध्यमें अधिकसे अधिक ६ आवली (असंख्यात समयोंकी एक आवली) और कमतीसे कमती एक समय ठहरकर सासादन गुणस्थानमें रहनेवाला कहलाता है। जिस समय सम्यक्तसे खिसकता है। इन्हीं विषयोंकी यह गह लता जो सम्यक्तमें नहीं थी पैदा होने लगती है। यह गहलता अनन्तानुबंधी लोभके वश इसी निश्चयमें पटकने लगती है कि—विषय सुख ही सुख है, इसकी प्राप्ति करना ही उपादेय है। इन इन्द्रिय विष- योंकी गहलता चित्तमें कभी मायाको भी पैदा कर देती है, जिससे यह विचार आने लगता है कि परका विश्वासघात हो व परको हानि हो, हमको तो पर-वञ्चनासे भी विषय [illegible]

अपने धनको इन्द्रिय-विषयोंका सहकारी जान अन्योंको निर्धन समझ आपेसे बाहर होने लग जाता है। अपनी आज्ञा यदि कुछ भी चलती हो तो उस अधिकारके कारण अपना बडप्पन मानने लग जाता है। यदि व्याकरण छद, अलकार, कविता व अन्य किसी विद्यामें चतुर है तो उससे अपनेको बडा मान अविद्या-धारकोंको तुच्छ समझना शुरू करता है और आप विद्याके मदमें भरकर अपनी स्वाभाविक केवलज्ञान–विद्याको भूलने लग जाता है। यदि व्रत, उपवास, जप, तप और ध्यान विशेष रीतिसे करता है तो इसी मदमें लवलीन होने लगता है कि हमारे सदृश दूसरा कौन इतना कष्ट उठा सक्ता है? जो जप, तप आदि कषाय घटानेके साधन हैं, वे ही इस सासादन गुणस्थान वालेके अभिमान बढानेके निमित्त कारण हो जाते हैं। इस गुणस्थानमें कभी २ अनन्तानुबंधी क्रोधकी तीव्रता भी सताती है, जिससे यह जीवात्मा इन्द्रिय विषयोंमें विघ्नकारक चेतन तथा अचेतन पदार्थोंकी ओर क्रोधकी झलकमें डूबने लग जाता है। इस तरह ऊपर लिखे चारों कषायोंमेंसे एकका भी उदय आजानेसे यह जीवात्मा तुरन्त चौथी सीढ़ीसे पहलीपर आजाता है और मार्गमें जैसे वृक्षसे गिरता हुआ फल कुछ देर ठहरता है, उसी तरह यह सम्यग्दृष्टी बीचमें कुछ काल लगाता है, उस समय इसको सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं। जैसे सूर्य्य सध्याकालके समय अस्त होते हुए अपनी ज्योतिको मदकर किंचित देर रक्तवर्णको दिखला तिमिराच्छन्न हो जाता है, उसी तरह यह जीवात्मा शुद्धात्मतत्त्वको ही उपादेय माननेवाला अ-

पने अपूर्व प्रकाशसे गिरकर ऐसे घोर अंधकारमें आजाता है कि फिर अपनी वस्तुको भूला और सच्चे सुखके उपायसे विमुख हो अपदोंमें तृप्त होता हुआ आकुल व्याकुल रहता है और स्वप्नमें भी स्वपदका ख्याल नहीं करता है। यद्यपि यह परमानंद स्वाधीन रसके स्वाद पानेके अवसरसे च्युत हो जाता है, परन्तु इसकी वृत्ति अनादि घोरानुघोर मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा कुछ जुदी जानिकी रहती है। जिससे इसकी वृत्ति दूसरा अवसर कभी न कभी पाकर फिर चौथी सीढ़ीमें चढ़कर परमानंद-स्वादको लेती है। यह निश्चय है कि यह जीवात्मा चौथी सीढ़ीमें चढ़ेगा। यदि बहुतसे बहुत समय लगे तो उतने कालका आधा ही काल खर्च होगा जितना काल एक जीवको जगतके समस्त पुद्गलोंको ग्रहण करते हुए बीत जाता है (अर्थात् अर्द्ध पुद्गल परावर्तन)। वास्तवमें यह पतन किया हुआ मिथ्यादृष्टी भी सराहनीय है। तथा यह कभी न कभी श्रीसाधु अरहत और सिद्ध अवस्थाको अवश्य प्राप्त करेगा। इस अपेक्षासे उसी तरह नमस्कार करनेके योग्य है जैसे हम श्री श्रेणिक राजाके जीव भविष्य प्रथम तीर्थंकरको नमस्कार करते हैं। इस भव्यात्माने एक दफे शिवमंदिरकी झांकी कर ली है। वही आकर्षता इसको फिर अपनी ओर बुलाएगी, अवश्य बुलाएगी और क्रम क्रमसे शिवरूप बना देगी। हम इस समय इस त्रिलोकमें विराजित समस्त सासादन गुणस्थानवर्ती जीवोंको निश्चयसे सिद्धात्मा अनुभवकर उनके रूपको अपनेमें जोड़ते हैं और समस्त इन्द्रिय [illegible] विलक्षण परम स्वाधीन अनुभवानन्दका

मिश्रगुणस्थानका दिखाव।

(१९)

अपने पदमें आनन्द माननेवाला, स्वानुभूतिका कर्ता और भोक्ता, रागद्वेषादि परानुभूतिके कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्वसे पराङ्मुख समग्दृगात्मा अपने पासमें गुपचुप रहनेवाली सात (४ अनतानुबन्धी और ३ प्रकार मिथ्यात्व) कर्म प्रकृतियोंको दबाए हुए आत्म-उपवनकी सैर करता है और जगत्के पट् द्रव्यमई प्रपच जालमें नहीं फसकर अपने द्रव्यके गुण और पर्यायोंको सर्वसे भिन्न अवलोकन करता है। एकान्त मननके रसमें भीगा हुआ रहकर कुछ विश्राम लेता है कि दर्शन मोहनीय कर्मकी सम्यक्मिथ्यात्वनामा कर्म-प्रकृति अपने बलसे उठ आती है और जहा केवल प्रकाश था वहा अपनी परछाई डाल मलीनता करती है, जिससे निर्मल प्रकाश धुधला प्रकाश हो जाता है। जैसे बाल-सूर्यके निकलते समयका प्रकाश अथवा अस्ताचलपर पहुचनेवाले सूर्य्यका प्रकाश थोटी देरके लिये तिमिरसे मिलकर धुधला अर्थात् तम मिश्रित हो जाता है, ऐसे ही इस सम्यग्दृष्टीकी परम रुचि मिथ्यात्वसे होने वाली अरुचिके साथ मिलकर एक भिन्न ही जातिकी अवस्थाको प्रगट करने लगती है। अहा! जो ज्ञाता दृष्टा अभी अपनेको ज्ञाता दृष्टा ही मानता था, वही बातकी बातमें क्रोधादि परभावोंका कर्ता भी अपनेको मानने लगा। जो आत्मा अपने निश्चयमें दृढ था, वही एक समयके फेरसे ऐसे भ्रममें पटा कि अपनी शारीरिक पर्य्यायको भी उपादेय मानने लगा। जो भेद-ज्ञानी अपनी विवेक

बुद्धिसे इंद्रियजनित सुखकी जातिको अतीन्द्रिय सुखानुभवकी जा तिसे जुदा समझ चुका था, वही एक पलकके मारते ही क्षणभगुर और दु खबीज इन्द्रिय–सुखको भी सुख मानने लगा। यद्यपि प्रकाश अलग और अधेरा अलग, दोनों एक साथ नहीं रह सक्ते, तैसे स म्यक्तके उज्ज्वल परिणाम अलग और मिथ्यात्वके मलीन परिणाम अलग, दोनों एक स्थानमें नहीं रह सक्ते। तौ भी सबेरे और साझ दोनोंकी मिश्र अवस्था हो ही जाती है। ऐसे मिश्रगुणस्थान वाला अपने भावोंका वैसा ही स्वाद भोगता है जैसे कि, दही और खा-डको मिलाकर खानेवाला स्वाद लेवै। इस गुणस्थानमें ठहरता बहुत ही थोडी देर है। या तो शीघ्र अधेरेमें आकर मिथ्यात्वी होता या चट उजेलेमें जा सम्यक्ती होता है। इसमें जबतक रहता है तबतक किसी सयमको पालता नहीं, कोई आयु भी नहीं बाध ता और न मरता है। और न इसको मारणान्तिक समुद्घात करना पडता है। ऐसी मध्य अवस्थाका भोगी भी बन्दनीक है। चाहे यह अध-कारमें पडे, परन्तु अवश्य एक न एक दिन ऐसे प्रकाशमें थिर हो जायगा कि फिर इसको मध्यम स्थितिमें कभी भी आना नहीं होगा और यह यथार्थ ज्ञानी रहकर अपने सयम मित्रके साथ बातें करता हुआ मोक्ष–मार्गमें चलकर अपनी प्राणप्रिया शिव नारीके ध्यानमें लीन होता हुआ अवश्य शिवरमणीके महलमें पहुच जायगा और वहा अनिवार्य्य कालतक अपनी सुन्दरीसे कल्लोल करता हुआ अनु-भवानन्दका स्वाद लेगा।

अविरतगुणस्थानीको निज–निधि–दर्शन ।

(२०)

चिदानद राम अभिराम निजस्वरूपावगममें विलक्षण पदार्थोके यथार्थ लक्षणोंका ज्ञाता स्वात्मावरोही रहकर अपनेको कृतकृत्य मान रहा है । जिसके आत्म-बागमें शुद्ध ज्ञानकी हरियाली चारों ओर दीख रही है । शुष्कता, मलीनता, कठोरता, कटुकताका नाम निशान भी नहीं है । ऐसे मनोहर बागमें निर्मल स्वरसपूर्ण परम शोभायमान सरोवरके तटपर अपनी गाढ रुचिरूप प्राणप्रियाके साथ सुखासनपर बैठा हुआ सरोवरमें उठती हुई निर्मल कल्लोलोंमें रजायमान होता हुआ उस जलकी निर्मलतामें प्रदर्शित होनेवाले सन्मुखवर्ती अनेकानेक पदार्थोंके चित्रोंको जैसाका तैसा देख वीतरागी रहता है। ऐसे आत्माकी सपूर्ण वृत्ति जब स्वरूपानुभवमें तल्लीन हो जाती हे, तब नय, निक्षेप आदि विकल्पोंका अभाव हो जाता है। परिणति शात–रसमें ऐसी भीग जाती है कि उस आत्माके अनुभवमें आया हुआ समस्त ससारका आताप ठडा पड जाता है । यह जीव अपने निर्मल ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य–स्वभावको ही अपना मुख्य धन मानता हे । अपनेको सदा ज्ञाता दृष्टा, आनन्दमय और सप्तभय रहित अनुभव करता है। स्वप्नमें भी राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि भावोंका कर्ता बनता नहीं, भूलसे भी विषय लोलुपताका भोक्ता होता नहीं, अपने स्वभावमें राग और मोहकी स्निग्धताके अभावमें आश्रव और बधकी

परवाह करता नहीं । इस सम्यग्दृष्टीका स्वभाव स्वय संवररूप है, सभी परद्रव्योंसे निर्जेरित और मुक्त है। जब यथार्थ तामें विराजित है तब सात तत्त्वों और नौ पदार्थोंके प्रपन्च जालसे पृथक है, जुदा है, अत्यन्त विलक्षण है। इस स्वरूपके मोहमें मोहित हो मैं भी इस रूप अपनेको बनाता हू और चतुर्थगुणस्थानवर्ती होकर अपनी गत पर्यायोंकी प्रणालीको अपने भ्रमका फल मानता हुआ, शुद्धाचरण और स्वयसिद्धताको सर्वदा उपादेय निश्चय करता हुआ, उस ओर परम रुचि रखता हुआ, गृहस्थकी व्यवहारिक पौद्गलिक रचनामें चलता हुआ भी उस रचनासे अपनेको इसी तरह जुदा रखता हू, जैसे जलमें रहता हुआ कमल जलको अपनेसे जुदा रखता है। मेरी अवस्था उस कैदीके समान हो जाती है, जिसके लिये कैदमे छूटना तय हो चुका है। अनत ससारका कारण मिथ्यात्वकी सह चारी अनतानुबन्धी कषायकी ४ प्रकृति और मिथ्यात्वकी तीनों प्रकृति। मेरी सत्तासे श्रीकेवली और श्रुतकेवलीकी पाद सेवाके प्रसा दसे जब दूर हो जायगी तब मैं क्षायकसम्यक्तका भोगी होकर अधिकसे अधिक ३३ सागर ८ वर्ष कम २ कोड पूर्व और एक अतर्मूहूर्त पुद्गलको लाचारीवश इधरसे उधर करता हुआ अनमें सिद्ध निरजन परमात्मा हो जाउगा। यदि इन सातोंमेंसे छ के उपशम और एक सम्यग्प्रकृति मिथ्यात्वके उदयसे क्षयोपशम सम्यक्ती होऊगा तो भी उत्कृष्ट ६६ सागर ही जडके अखा-डेमें कसरत करता हुआ मोक्ष-महलमें पहुच जाउगा। यद्यपि इस दशामें मे चल-मल-अगाढ रूप रहूगा, तथापि अपनी

सम्यक्त भूमिका कभी त्याग नहीं करूंगा। परन्तु उपशम सम्यक्त मुझे एक अतमुर्हूत ही स्वरूप निश्चयावलम्बी रखता हुआ फिर अपनी निर्मल परिणतिसे गिराकर मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र अथवा क्षयोपशम सम्यक्तमें रख देगा। तथापि जो एक दफे मैंने अपने भडारके दर्शन कर लिये हैं तो गिरता, पड़ता, चढ़ता, उतरता, अवश्य मैं अपने भडारको अपना ही बनाऊगा और उसपर अचल अधिकार जमाकर परद्रव्य क्या, परद्रव्यकी सम्पूर्ण वासनाओंको दूर फेंक दूंगा। इस चौथे दर्जेकी जय हो, जिसमें आते ही यह जीव ससारसे अलग हो जाता है। जो जीव इस गुणस्थानमें ठहरते हैं वे अपनेको सिद्ध ही समझ लेते हैं। उनका स्वरूपानुभव उसी आनन्दको प्राप्त करता है, जो आनन्द सिद्ध परमात्माको है। ऐसे अद्भुत सुखका भोगी यह आत्मा मनुष्यगतिमें क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रके कर्म करता हुआ पशु-अवस्थामें सिंह, व्याघ्र, बैल, बदर, हाथीकी पर्यायमें जन्म बिताता हुआ नरकगतिमें नारकियों द्वारा निरतर मार धाड सहता हुआ व देव–गतिमें इन्द्रिय–जनित सुखोंको भोगता हुआ भी अपने स्वरूपकी परमभक्तिसे च्युत होता नहीं, अपने आत्माको अपनी देह और पुद्गल विकार रागद्वेषादिकोंसे आकाशवत् जुदा मानता हुआ उसके अनतगुणोंके भीतर रजायमान होता है और अपनी शिवरमणीमें आसक्तता धारता हुआ तथा उसीके स्मरणमें अन्य जगत्को तुच्छ गिनता हुआ यह आत्मा अनुभवानन्दका स्वाद लेता है।

श्रावकका मोक्ष-महलमें प्रवेश।

(२१)

आनन्द प्रदायिनी, साधु-मन-मोहन रूप धारिणी, अप्रमाण शात कला-स्वामिनी, अद्भुत स्वरूपा नारिके रूपमें मोहित हो एक जीवात्मा उसके शात सरोवर और सुगुण उपवनमंडित दस खने महल के द्वारपर आकर उस नारिसे मिलनेकी गाढ रुचिके कारण उद्यम शील हो रहा है। वह परम प्राणप्यारी दस खने महलके शिखरप विराजित है। जो कोई साहसकर महलके ऊपर तक चढ़ आ सक्ता है, वही इस नारिसे सम्मिलनका लाभ उठा सक्ता है। यह मोहि शिव-नारिमें आशक्त-चित्त सासारिक सर्व सयोगोंको हेय जानता हुअ तथा अपनी परिणतिमें वैराग्यकी क्रान्तिको विस्तारता हुआ इस महल पर चढनेकी भावना करके अपना पग आगे बढाता है। इस मह लके खन बहुत विकट और घुमाऊ बने हैं। जिसके सामनेसे अप्र त्याख्यानावरण कषाय अपने बलके चलानेमें असमर्थ हो जाती है वही इस महलके पहले खनमें जासक्ता है। इस महलके पहले खनमें ११ भाग हैं। यह आशक्त मन क्रम क्रमसे चढनेका व्यापार करत है। कषाय-अशोंकी ज्यों ज्यों घटन होती है, त्यों त्यों यह चढत हुआ ११ विभागोंको तय करता है। ज्यों ज्यों यह चढ़त जाता है, त्यों त्यों शिवनारिसे मिलनेकी आशाको बढाता जाता और त्यों त्यों शिवानदकी गाढ रुचि आनन्द प्रदान करती जाती है

अष्टमूलगुण-धारी और सप्तव्यसन-त्यागी होकर पच परम अ

स्मस्वरूप-अनुभव-कारकोंमें भक्ति रखता हुआ पहले भागको तय करता है। अतीचाररहित पच अणुव्रत और सात शीलोंका अभ्यास करता हुआ दूसरे भागका भागी होता है। इस भागमें चलनेवाला गृहस्थ षट् प्रकार आजीविकाको साधकर तथा अर्थ और काम पुरुपार्थकी भले प्रकार सिद्धि करता हुआ सामायिक, देवपूजा और स्वाध्यायके द्वारा इन्द्रिय विषयरहित आनन्दका स्वाद भी लिया करता है। महामुनि तथा त्यागियोंकी भक्ति और वैय्यावृत्यमें हुलसायमान रह अपनी ज्ञान वैराग्य--शक्तिको बढाता जाता है। तीसरे भागमें आकर त्रिकाल द्विघटिका समायिकका आरम्भकर आत्मीकरसको प्राप्त करता रहता है। जब चौथे भागमें जाता है, तब प्रति पर्वीमें उत्कृष्ठ १६ प्रहर गृह व्यापारारम त्याग शिवनारीका ध्यान किया करता है। पाचवेंमें आकर उदर पोपणार्थ सचित्त-भोजन-पानसे विरक्त हो जाता है। छठेमें जब जाता है, दया--चित्त रात्रिको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे चार प्रकार आहारका त्याग करता है। सातवें भागमें आकर जिस नारिको उदासीन वृत्तिसे भी अपने कषाय-अशोंकी अधिकतासे सेवन करता था, उस नारिको भी अपनी शिवनारिकी अत्यन्त आशक्तताके कारण त्याग देता है और ब्रह्मानंदमें आचरण करनेके लिये ब्रह्मचारी हो जाता है। आठवें भागके मैदानमें आ, जिस आरम्भके कारण थोडे समयके लिये ही स्वस्थ चित्त होता था, उस आरम्भको अपना विरोधी जान छोड देता है। नवमें भागमें परिग्रहकी गठडीको जुदाकर उसकी भी चिन्तासे रहित होता है। दसवें भागमें आ अपने मन, वचन,

कायसे किसी भी आरम्भिक क्रियामें सम्मति देना त्याग देता है। दसवीं मंजिल तयकर जब ग्यारहवें मार्गमें आता है, तब क्षुल्लक अथवा ऐल्लककी रीतिसे अपना जीवन विताता हुआ पहले खनमें रह अत्यन्त आनन्दित होता है और अपना अहोभाग्य मानता है कि धन्य हू मैं, अब मैं अपनी प्राणप्यारीसे शीघ्र ही मिलूंगा। इस खनपर चढना अति कठिन था। इस खनपर विश्रामकर पंचम गुणस्थानवर्ती रह आगेके खनमें जानेको उत्साही रहता है। निश्चय-साधक व्यवहारका पूर्ण सन्मान करता हुआ शिवतियामें आ शक्त, सम्यक्तधारी, स्वगुणविहारी जीवात्मा पहले खनकी अत्यन्त मनोहर शोभाको देखता है और हर समय अतीन्द्रिय आनन्दको उपादेय मानता हुआ उसीकी वासनामें दत्तचित्त रहता है। इस मोहीकी वृत्ति भी सासारिक वत्तिसे विलक्षण होती है। स्वात्मानुभवमें तल्लीनताकी रुचि बढती जाती है। अपनी स्वरूप शय्यापर शयन करता हुआ शिवनारिके ध्यानमें लीन होता हुआ, आत्मारामकी सैर करता हुआ, अपनी अतरदृष्टिसे तीनों लोककी वस्तुओंसे अपना स्वभाव जुदा करता हुआ, यह अतरात्मा अपने अनुपम हर्षके रगमें उन्मत्त हो ऐसा बन जाता है, मानों अपने स्वरूपके बाहिर किसीको जानता ही नहीं। ऐसा जगत्से अध, परन्तु स्वरूपका ज्ञाता, दृष्टा, सर्व बाह्य औपाधिक भावोंसे दूर रह, अपने निर्मल भावमें निजत्वको विस्तारता हुआ, स्वरूपावलम्वी रह अनुभवानन्दका स्वाद लेता है। धन्य है यह पुरुष! जो अपने पुरुषार्थके बलसे उच्चस्थानको प्राप्त कर लेता है। जो कोई व्यवहारी ऐसे स्वगुणस्वादीका हृदयत आदर

करते है वे भी कालान्तरमें स्वरस ग्राही होकर अनुभवानन्दका स्वाद लेवेंगे, इसमें कोई शका नहीं, इसमें कोई विरोधी नहीं। श्रीपरमात्माकी अनोखी कृपासे यह अनुभवानन्द जयवन्त रहे, जिसके प्रथम क्षन सन्मुखी स्वादकी इच्छा चौथे गुणस्थानवर्ती देव, नारक, नर और पशु किया करते हैं। जो जीव इस अनुभवानन्दके रसको एक क्षण भी प्राप्त करते हैं वे धन्य हैं, वे सराहनीय हैं, वे प्रशसनीय हैं।

प्रमत्तसंयमीकी आशक्तता।

(२२)

अनुभवानन्दका सागर, परमात्मस्वरूप शुद्धताका अवलम्बी, स्वगुण-समाधानी, आत्म ज्ञानी, अभेद रत्नत्रयस्वरूप मै हूं ऐसी मान्यताका प्रकाशी व्यवहार—पथमें अपने उपयोगका अधिक दुरुपयोग होता जान शात वैराग्य आत्म—ज्ञान मिश्रित उपयोगके विघ्नकारक द्रव्य और भावपर्यायोंसे मोह हटा पाचवीं श्रेणीसे सातवींमें आता है। और जैसे अत्यन्त मिष्ट जलके इच्छुकको पहले उतना मिष्ट जल नहीं मिलता था, अब अपने अभिप्रायके अनुसार मिष्ट जलको पाकर उसको अत्यन्त अनुरागसे दिलभरके पीता है, फिर हट जाता है, वैसे ही यह अतरात्मा अत्यन्त शुद्ध भावोंका इच्छुक जब सातवीं श्रेणीमें अपने अभिप्रायानुसार शुद्धभावोंका अवलम्ब पाता है तो अपनी शक्ति भर उन भावोंसे आत्म—रस पिये विना नहीं हटता है। शक्तिके अभावमें हटकर छठे **प्रमत्तगुणस्थानमें** आजाता है।

इस गुणस्थानवर्ती आत्माको गृह फन्दके मोह-जालमें न फसानेवाले तथा रागकी रगतसे दूर रखनेवाले भाव अनेक कारण विद्यमान हैं। शरीर भी यथाजात नग्न है। आकाश ही जिनके वस्त्र, शरीराच्छादक हैं। निर्मल भूमि, पाषाण-शिला तथा तृण-संस्तर मात्र ही जिनके शय्या और आसन हैं। वन-वृक्षोंके कोटर, तरु, वनखंड, पर्वत-गुफा, एकान्त उपवन तथा जिन चैत्यालय ही जिनके बसनेके स्थान हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे सर्वथा दूरवर्ती हैं। आत्म-मननको न भुलाते हुए भूमि निरखकर चलते, हितमित वचन बोलते, निर्दोष और निरन्तराय भोजन करते, पीछी, कमंडल, पुस्त कादिको निरीक्षणकर रखने, उठाते तथा मल मूत्र देख भालकर करते हैं। अपनी पाचों इन्द्रियोंको अपने काबूमें रख सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, वन्दना, स्तुति और कायोत्सर्ग-ऐसे छ आवश्यकोंको करते हुए एक बार बिना याचना किये खडे २ अपने हस्तरूपी पात्रमें स्वल्प भोजन करते हैं। स्नान दंत-मजन आदि शृंगारके कारण विकल्पोंको त्याग जन-बस्तीसे अलग रह सदा शुद्धताके धारक आवश्यकतानुसार स्वहस्तसे अपना केशलोंच करते हुए २८ मूलगुणको परम प्रीतिसे इसी कारण पालते हैं कि अपने अंतरंग निर्मल भावके विरोधी भावोंसे अपनी रक्षा हो।

ऐसे मूलगुण पालक निर्ग्रन्थ साधुकी वृत्ति परम आश्चर्यरूप है। कभी वह सिद्ध लोकमें जाता और कभी ससारके आगनमें आ विराजता है। थोडी २ देर बाद ही चढन उतरन हुआ करती है। कभी यह साधु सातवीं सीढीमें जा ध्यानस्थ हो जाता है। शक्ति हीनतासे

फिर छठीमें आ विराजता है। यद्यपि आहार, विहार, निहार, करता है, तथापि अपनेको कर्ता और भोक्ता न मानता हुआ रहता है। स्वस्व-भावरूप शक्तिका धारी अपने स्वाभाविक परिणामोंका ही कर्ता और भोक्ता बनता है। यही निर्लिप्त परिणाम जाति इसे निर्जरा अधिक कराती है और कर्म-बंधसे बचाती है। यदि संज्वलन कषायवश बंध होता भी है, तो वह शीघ्र छूटनेवाला निर्बंधके समान ही है। अपने शुद्ध वीतराग अभेद रत्नत्रयस्वरूप भावको ही अपने शुद्ध भावोंका साधक मानता हुआ यह साधु शरीर सम्बन्धी २२ परीषहोंको सहते हुए भी आनन्द मानता है। जनसमाजके कटुक वचन इसके आत्मीक उपयोगको भेदते नहीं। अज्ञानियों द्वारा प्रहार किये हुए शस्त्र, लोष्टादि यद्यपि इसके तनको छेदते हैं, परन्तु आत्मीक धर्मको विकारी बनाते नहीं। शिवनारीकी आसक्ततामें सर्व जगत्को भुलाए हुए लोगोंकी दृष्टिमें उन्मत्तसा दीखता हुआ परम साध्य भावका उद्यमी साधु निःशंक रह शिवनगरीकी ओर कदम बढ़ाए चला जाता है और सदा ही परम रुचिरूप सम्यक्तके बलसे स्वरूपाचरणमें तन्मय रह निज रसका स्वाद लेता हुआ पराधीन आनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका स्वाद लेता है।

अप्रमत्तविरतकी भावना।

(२३)

ज्ञानदीपको हृदय-करमें लिये हुए स्वस्वभावानुरागी जगत्के षट्-द्रव्यमय प्रपंचोंमें भ्रमण करते हुए तथा निज जातीयत्वको सर्वमें

इस गुणस्थानवर्ती आत्माको गृह फंदके मोह–जालमें न फसानेवाले तथा रागकी रगतसे दूर रखनेवाले बाह्य अनेक कारण विद्यमान हैं। शरीर भी यथाजात नग्न है। आकाश ही जिनके वस्त्र, शरीराच्छादक हैं। निर्मल भूमि, पाषाण–शिला तथा तृण–सस्तर मात्र ही जिनके शय्या और आसन हैं। वन–वृक्षोंके कोटर, तल, बनखंड, पर्वत–गुफा, एकान्त उपवन तथा जिन चैत्यालय ही जिनके बसनेके स्थान हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे सर्वथा दूरवर्ती हैं। आत्म–मननको न भुलाते हुए भूमि निरखकर चलते, हितमित वचन बोलते, निर्दोष और निरन्तराय भोजन करते, पीछी, कमंडल, पुस्तकादिको निरीक्षणकर रखते, उठाते तथा मल मूत्र देख भालकर करते हैं। अपनी पांचों इन्द्रियोंको अपने काबूमें रख सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, वन्दना, स्तुति और कायोत्सर्ग–ऐसे छ आवश्यकोंको करते हुए एक बार बिना याचना किये खडे २ अपने हस्तरूपी पात्रमें सन्तोष भोजन करते हैं। स्नान दंत–मजन आदि शृंगारके कारण विषयोंको त्याग जन–बस्तीसे अलग रह सदा शुद्धताके धारक आवश्यकतानुसार स्वहस्तसे अपना केशलोंच करते हुए २८ मूलगुणको परम प्रीतिसे इसी कारण पालते हैं कि अपने अंतरंग निर्मल भावके विरोधी भावोंसे अपनी रक्षा हो।

ऐसे मूलगुण पालक निर्ग्रन्थ साधुकी वृत्ति परम आश्चर्यरूप है। कभी वह सिद्ध लोकमें जाता और कभी ससारके आगनमें आ विराजता है। थोडी २ देर बाद ही चढन उतरन हुआ करती है। कभी यह साधु सातवीं सीढीमें जा ध्यानस्थ हो जाता है। शक्ति हीनतासे

फिर छठीमें आ विराजता है। यद्यपि आहार, विहार, निहार, करता है, तथापि अपनेको कर्ता और भोक्ता न मानता हुआ रहता है। स्वन्त्र-भावरूप शक्तिका धारी अपने स्वाभाविक परिणामोंका ही कर्ता और भोक्ता बनता है। यही निर्लिप्त परिणाम जाति इसे निर्जरा अधिक कराती है और कर्म-बंधसे बचाती है। यदि संज्वलन कषायवश बंध होता भी है, तो वह शीघ्र छूटनेवाला निर्बंधके समान ही है। अपने शुद्ध वीतराग अभेद रत्नत्रयस्वरूप भावको ही अपने शुद्ध भावोंका साधक मानता हुआ यह साधु शरीर सम्बन्धी २२ परीषहोंको सहते हुए भी आनन्द मानता है। जनसमाजके कटुक वचन इसके आत्मीक उपयोगको भेदते नहीं। अज्ञानियों द्वारा प्रहार किये हुए शस्त्र, लोष्टादि यद्यपि इसके तनको छेदते हैं, परन्तु आत्मीक धर्मको विकारी बनाते नहीं। शिवनारीकी आशक्ततामें सर्व जगत्‌को भुलाए हुए लोगोंकी दृष्टिमें उन्मत्तसा दीखता हुआ परम साध्य भावका उद्यमी साधु निःशंक रह शिवनगरीकी ओर कदम बढ़ाए चला जाता है और सदा ही परम रविरूप सम्यक्तके बलसे स्वरूपाचरणमें तन्मय रह निज रसका स्वाद लेता हुआ पराधीन आनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका स्वाद लेता है।

अप्रमत्तविरतकी भावना।

(२३)

ज्ञानदीपको हृदय-करमें लिये हुए स्वस्वभावानुरागी जगत्‌के षट्-द्रव्यमय प्रपंचोंमें भ्रमण करते हुए तथा निज जातीयत्वको सर्वसे

पृथक् अवलोकन करते हुए चैतन्य राजा भेद-ज्ञानकी अग्नि जलाकर अपनेको उस अग्निमें हर्ष पूर्वक डाल देता है और जैसे सुवर्ण अपने वाणिभेदके द्वारा अग्निमें दहते हुए समय २ अधिक २ शुद्धताको प्राप्त करता जाता है, उसी तरह यह चैतन्य राजा भी समय २ विशुद्धताकी वृद्धि करता हुआ स्वच्छताको प्राप्त करता है। आत्म ज्ञानरूपी दर्पणमें अपने उज्ज्वल मुखकी उज्ज्वलताईको देखता हुआ परम तृप्त रहता है। प्रमाद और आलस्यसे उपजनेवाली हतोत्साहिताका विध्वंशकर यह निःप्रमादी आत्मा स्वरूपानुभवमें निश्चल रहता है। वीतराग स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान-जनित समाधिमें स्थित होकर शुद्धात्माकी भावना करता है। परम सामायिकका लाभ लेता हुआ द्रव्य सामायिकके यत्नसे बेखबर है। धर्मध्यानकी उत्कृष्ट अवस्था इस सप्तम गुणस्थानवर्ती साधुके निरूट विद्यमान है। यद्यपि सज्वलन कषायके उदयके आधीन है तथापि वह कषाय इसके ध्यानमें निराकारक नहीं है। यह साधु इस निर्मल ध्यानके बलसे क्षपकश्रेणी अथवा उपशमश्रेणीमें चढ जाता है। परम अतिशयरूप सत्य ध्यानकी ऐसी ही महिमा है। जो अतिशयरूप निश्चलता न भी प्राप्त हुई और थोडी देर अंतरमहूर्तके भीतर ही तक ध्यानस्थ रहा तो यद्यपि छठी श्रणीमें आकर अपना नाम प्रमादी धरा लेता है, परन्तु शीघ्र ही फिर सातवेंमें जा विराजता है। इस तरह सानन्द ध्यानके अभावमें बार बार परिणतिको फेरता है। हजारों बार सातवेंसे छठे और छठेसे सातवेंमें जा विश्राम करता है। इसकी यह क्रिया परम निरंजन निःक्रिय परमात्माकी निराकुल

अवस्थासे विपरीत है, तथापि अवश्य निष्क्रियताकी साधक है। भावना क्रियारूप है। शुद्धोपयोगका परम निश्चल भाव कार्य्यरूप है। जो कोई जिसका मनन करे वह उस रूपमें क्यों नहीं हो जायगा? अवश्य ही हो जायगा। भावना स्वरूपकी कार्य्यकारी है। इस भावनामें चिज्ज्योतिका प्रकाश है। इस भावनामें आत्म-ज्ञानका विकाश है। इस भावनामें ज्ञान-सुधाका सरोवर है, जिसमें सन्तजन स्नानकर अपना विभाव मल दूर करते हैं। यह भावना निर्ग्रन्थ अवस्थाकी दिगम्बर मुद्राके बाह्य सहकारी कारणकी आधारिणी है। अनेक सत यथा जातरूप सेय सेय परीषह और उपसर्गको सहनकर स्वरूप समाधिमें अडिग रह स्वकल्याण करते रहे हैं। आपरूप पद आप ही है। अपनी पदवीमें रहना सहज बात है। वास्तवमें परपदवीमें रहना कठिन है। यह आत्मा अनेक बार अनेक परपदवियोंको लेकर उनके स्थिर रखनेकी कोशिश करता रहा, परन्तु अन्तमें असफलीभूत होकर हताश ही रहा। सो सत्य ही है। इसकी पदवी तो चैतन्यरूपही है। परपदवी इससे भिन्न जड़रूप ही है। यह बलात्कार जड़के परणमनको अपनी इच्छानुसार उसके परिणामनके विरुद्ध नहीं कर सका। स्वरूपज्ञानी निज शिव-प्राणप्रियाकी दृढ भावनामें अत्यन्त आशक्त हो उसकेही प्रेममें आल्हादित रह इन्द्रियाधीन सुखवासनओंको रज तुल्य तुच्छ समझता हुआ परम स्वाधीन अनुभवानन्दका स्वाद ले सन्तुष्ट रहता है।

अपूर्वकरणकी वारात ।

(२४)

निज स्वरूपानन्दी आत्मा अपनी शक्तिकी व्यक्ततामें अत्यन्त लीन हो अप्रमत्त गुणस्थानमें सातिशयताको उपलब्धकर अर्थात् संसारी जीव शत्रु मोह-कर्मकी चारित्र मोहनीकी इक्कीस प्रकृतीको क्षय अथवा उपशम करनेका प्रारम्भकर प्रथम अध.करणमें अंतर्मुहूर्त ठहरकर अपने परिणामोंकी विशुद्धता करता है । वीतराग सह ज्ञानदरूप भेदज्ञानके प्रभावसे समय २ अनतगुणी विशुद्धता को प्राप्त करते हुए कर्मबधकी स्थितिको घटाता है । अपने मोक्षानदके शुभरागके कारण समय २ पुण्यकर्मके रसको अनतगुणा बढाता और असातादिक पापकर्मके रसको अनत भागरूप कम करता है । इस अध करणके कालको व्यतीतकर ध्यान-मुद्रामें स्वलीन परमात्मरस वेदी अतरात्मा शीघ्र ही अपूर्वकरणमें जाकर अष्टम गुणस्थानवर्ती कहलाता है ।

इस श्रेणीमें स्थित हो स्वरूपावलम्बी समय २ अपूर्व विशुद्धता को उसी प्रकार प्राप्त करता है, जैसे सुवर्णकी शुद्धता अग्निमें पकते हुए समय २ अधिक २ अपूर्व होती जाती है । प्रथम शुक्ल ध्यानकी श्वेततामें रगा हुआ शुक्ल लेश्या सिवाय अन्य लेश्याओंका त्यागी श्रुतज्ञानके अर्थोका मनन और परिवर्तन करता हुआ अपने शुद्ध स्वरूपके रसको स्वादरूप करनेसे रुकता नहीं । परम अनीन्द्रिय शुद्धा त्मोत्पन्न परमानन्द सुखरसके श्रोतको उपादेय जान उसीके कारण और कार्य्यको विशेष पहिचान उसीकी शुद्धभावनामें अपना कल्याण

मान सम्यक्‌दर्शन—ज्ञान—चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्गमें तल्लीनता ठान शिवनारिका आशक्त स्वरूप मदोन्मत्त आत्मा निजरंगभूमिमें कल्लोल करता है। **संवर, निर्जरा,** और मोक्ष तत्त्वोंके बारम्बार रंगभूमिमें आकर नृत्यकरते हुए देखकर भी यह स्वरूप-वेदी उनकी कुछ भी परवाह न कर अपने यथार्थ रूपके ही दर्शन किया करता है। इन तीनों तत्त्वोंमें उसको नित्य अपना रूप ही झलकता है। यद्यपि इसकी रंगभूमिमें आश्रव और बंधतत्त्व भी अपना अत्यन्त ही मन्दरूप बनाये आते हैं और चले जाते हैं, परन्तु उनके पगकी अत्यन्त मन्द चाल चैतन्य राजाके चित्तको विकारी बनाती नहीं। यह चैतन्य राजा अप्रमत्तरूप रहता हुआ अपनी शिवनारिसे सम्मेलन करानेवाली अनुभूति सखीसे उसी तरह प्रेम प्रगट करता है जैसे कि, कोई पुरुष अपनी होनेवाली पत्नीके पाससे आई हुई सखीके साथ स्नेहकर उससे स्नेहपूर्वक वार्तालाप करै और उस नारिके गुण और रूपकी महिमाको श्रवण कर उस नारीमें समय २ अधिक २ स्नेहको वृद्धि करै। यह क्षपकश्रेणीमें चलनेवाला शीघ्र ही शिवमहलमें जायगा। अत इसके रूपकी मनोहारिता अवर्णनीय है। इस चैतन्य राजाकी बारात शीघ्रतासे शिव—वरको चली जा रही है। आत्माके उत्तमक्षमादि अनत गुण इस चैतन्य राजाके अनत बाराती है। सम्यग्दर्शनके वीतरागरूप वस्त्र पहने, सम्यग्ज्ञानके आभूषणोंसे सुशोभित, सम्यग्चारित्ररूपी गजपर आरूढ हो यह दूल्हा अपनी अद्भुत, विशाल और अपूर्व विभूतिके मदमें उन्मत्त होता हुआ, परमाल्हादित, हास्यादिक नोकषाय और संज्वलन क्रोधादिक चार कषायको अपनी अपूर्व चैतन्य शक्तिसे दबाकर निर्बल बनाए हुए

समय २ वीरातकी चालको बन्ताता हुआ बग चरा जा रहा है। भय-जीव-दर्शक इस दूल्हाकी मनमोहनी बारातको देखकर अत्यन्त हुल्सायमान होते हैं और अनुभूति सखीसे मिलनेकी कामना उत्पन्न करते हैं। धन्य है यह अतरात्मा! यह वीतरागी, परमयोगी योगीन्द्रोंके मनको अगोचर ऐसे परमात्मपदका दर्शन करता हुआ भवानन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका स्वाद ले परम तृप्त रहता है।

अनिवृत्तिकरण–स्वयवर।

(२९)

देखे, सुने, अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छारूप निदान आदि समस्त सङ्कल्प विकल्पोंको त्यागकर निर्विकल्प–निश्चल–परमात्म तत्त्वकी एकाग्र भावनारूप ध्यानमें तल्लीन होकर यह भव्यात्मा सम्यग्दृष्टी एक २ समयके ऐसे सूक्ष्म कालमें भी मोक्षमार्गके अनत कदमोंको तय करता हुआ अत्यन्त वेगसे चला जा रहा है। इस की एक २ समयवर्ती गतिमें भी इसको अपने आत्म–द्रव्यके अनन्त गुणोंका अनुभव अपनी भेदज्ञानरूपी विवेक परिणतिके बलसे हुआ करता है। जिस अनुभवकी तेजीको देखकर इसके अन्तरमें विराजित चैतन्य धनके चोर यद्यपि निर्बल हो गये हैं, तथापि विशेष बलहीन हो या तो गुप्तरूपसे कहीं छिपके बैठ जाते हैं या अनुभवा ग्निकी तेजीकी लपटोंसे बिल्कुल मृत हो जाते हैं। ससारियोंको स्वस्वरूप भावनासे पराङ्मुख रखनेवाले दर्शन-मोहके बलको न पाते हुए भी स्वद्रव्य तन्मयरूप यथाख्यात–चारित्रकी प्राप्तिमें बाधा डालने

वाले ११ कषाय और नौ नोकषाय तो बिल्कुल ही ठंडे पाले हो या तो मृतरूप पड़े रहते अथवा सम्पूर्णतया अन्त हो जाते हैं। जगत्का मोटा वैरी पापका बाप लोभ कषाय अपनी कठोरताके कारण इस भव्यात्माके अतर्मुहूर्त तक मोक्षमार्गमें चढनेके परिश्रमसे भी बिल्कुल उपशम या क्षयको न पाकर जगता रहता है और जब यह अपने सम्पूर्ण कषाय-भ्राताओंसे छूटकर अकेला रह जाता है तब इस भव्यात्माको सूक्ष्मसापराय गुणस्थानावरोही कर देता है। परन्तु यह भव्यात्मा इसके अनिवृत्तिकरण नाम नवमें गुणस्थानमें ठहरकर अपना बहुतसा मार्ग तय कर लेता है।

इस अनिवृत्तिकरण नाम गुणस्थानकी कुछ ऐसी महिमा है कि, जितने ध्यानी पुरुष इस श्रेणीमें मोक्ष-मार्गमें गमन करते हैं, सबकी समय २ चाल एकसी ही होती है चाहे उन सबके शरीराकार आदि सस्थानोंमें भिन्नता भी हो। आहार-निहार-विहार-त्यागी, स्व-द्रव्य-गुण-पर्य्याय-अनुरागी, स्वरसास्वादसागरमें रागी, ससारशरीरभोगोंसे अत्यन्त विरागी, परमात्मस्वरूप सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणकी एकत्वतामें पागी, क्षुत्पिपासादि द्वाविंशति परीषहों और उपसर्गोंके आक्रमणकी नि शकाका भागी, परम ऋषि, गृहारम्भ भागिनी स्त्रीका त्यागी होकर भी एक विलक्षण नारीमे अनुरागी है। यद्यपि बाह्यमें साधु है, परन्तु अतरगमें असाधुसा राग रखता हुआ भी जगत्पूज्य पदकी योग्यतासे वञ्चित होता नहीं। इसका राग आकाशकी सन्ध्याकी रक्तताके सदृश लाल नहीं है किन्तु श्वेतवर्ण है। शुक्लेश्याकी प्रबलतासे रागका रंग चढता नहीं, किन्तु समय २ यह राग

अधिक २ शुक्ल होता जाता है। सो वास्तवमें यह उचित ही है, कारण कि जिस नारीसे यह आसक्त है–यह उसीको ही चाहती है जो शुक्लताके वस्त्रोंसे तन्मय हो। उस नारीको अन्य वर्णोंके वस्त्रोंसे वैराग्य है, क्योंकि वह स्वयं भी शुक्लता और शुद्धताको धारती हुई अपने तनको सफेद वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत रखती है। सहृदयकी सदृशमें ही प्रीति होती है। जिस समय इस आसक्त पुरुषकी मुद्राको अपने समान अत्यन्त शुद्ध, सफेद और साफ देखती है, उसी समय यह नारी चिरस्थायी वज्रमणिमई अनन्त स्वाभाविक गुणरूपी दानोंसे पोयी हुई श्वेत परम शोभित और मनहरण परमाला उस पुरुषके गलेमें डालकर उसके साथ एकासनपर तिष्ठ जाती है। उस समयकी शोभा अवर्णनीय तथा अचिन्त्य है। धन्य है वे परम साधु जो ऐसी सुन्दर स्त्रीमें आसक्त चित्त हो उसकी भावनामें मगन हो परमाल्हादित रहते और अपनी इस प्रतीतिसे कि हम अवश्य शिव-तियाके वर होंगे, साहसके साथ उद्यम करते तथा इस उद्यममें नहीं थकते हुए स्वरूपसमाधिके अपूर्व बलसे विषय सुखोंको शून्य समझ अतींद्रिय अविनाशी अनुभवानंदका स्वाद लेते हैं।

सूक्ष्मसांपरायकी विजय।

(२६)

स्याद्वादरूप कर चिह्नित और सांसारिक दुःख परिपाटीके सचालक मोहनीकर्म और इसके अनुयायी ३ घातिया कर्मोंका नाशकर अनंतसुख, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य्यको प्राप्त करनेवाले श्री

उपशातमोहकी क्षणिकता।

(२७)

परम प्रतापी परमात्मा सूर्य्यके ज्ञान–तेजको सेवन करके और स्वसंवेदन ज्ञान निर्मल चन्द्रमाकी शांत कान्तिका दर्शन कर करके तथा स्वरूपतृष्णावारक स्वात्मजनित सुधाका सुधपान करके एक सम्यक्दृष्टी अंतरात्मा, अपने आत्मतनको दृढ बनाए हुए, वीतराग विज्ञानताके तीक्ष्ण भालेके अभ्याससे अपनेको मदिरा पिलाकर बेसुध करनेवाले मोह शत्रुके पुत्र पौत्र २८ कषायोंके आक्रमणोंको टालते हुए और उन सबको इधर उधर मूर्छित करते हुए तथा मोह शत्रुके स्वपुत्रोंकी मूर्च्छाके इलाजमें गेड आनंद भवनके सातवें खनमें चढ़ विश्राम लेता है। स्वरूप मननमें तन्मयता प्राप्तकर और अपने स्वभावका निर्मल अवलोकन कर यह स्वगुणानंदी यथाख्यात चारित्रकी पदवीको भोगता हुआ उपशांत मोह गुणस्थानी खहला कर मुक्ति कन्याके वरनेका उत्साह करता हुआ उसके रूपकी चिन्तामें उन्मग्न हो ज्योंही स्थिर होता है त्योंही एक अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही मूर्च्छा प्राप्त मोह शत्रुके पुत्रोंमेंका बड़ पुत्र सज्वलन लोभ मूर्च्छाको त्याग अत्यन्त वेगसे झपटता है और अपनी मोह–पासमें उसका गला फसा सातवें खनसे छठे खनमें ले आता है। इतनेमें अन्य पुत्रपौत्र भी जागृत होते हैं और इसके भालेकी चोटोंसे जर्जरित होकर क्रोधमें भरे हुए सारे ही धीरे धीरे इसको गिराते हुए आनन्द भवनके नीचे कर देते हैं। इतनेमें मिथ्यात्वनामा प्रबल

वैरी आकर इसको आपत्ति महलमें ले जाकर पटक देता है । सच है अग्निको और शत्रुको दबाकर रखनेसे वे अपना नाश करते ही है। इनका तो सर्वथा क्षय ही बाधाहारी है । ग्यारहवें रुद्र महादेवको इसी प्रकार दगा खाकर आनन्दभवनके सप्तम खनतक चढकर गिर ससार परिपाटीमें उलझकर अतीन्द्रिय आनन्दसे इंद्रियोंके क्षणिक सुखमें लुब्धता कर जगत्का अपमान और हास्य सहना पडा । धन्य है वे परम साधु, जो इस तरहके अपमानको बचाकर अपने बलसे फिर भी चढते हैं और अब अपने भेद-ज्ञानकी तीक्ष्ण खड्गसे मोहके क्षयको उद्यमी होते है । जिनको मुक्ति कन्याको वरकर अनन्तकाल तक सुधा-समुद्रमें ही डुस रहना है, वे तो हजार उपाय करके भी अपनी परिणतिको पुत्र, कलत्र, मित्र व शरीर सबसे बचा आत्माको परमात्मारूप देखनेमें ही लगाकर सासारिक सुखोंसे विपरीत अनुभवानन्दका स्वाद लेते हैं ।

क्षीणमोही-अर्जुनका विश्राम ।

(२८)

अन्ध धृतराष्ट्र-मोहके पुत्रोंका समरंगमें विध्वस कर चैतन्य-अर्जुन अपने ध्यान-बाणकी प्रशसा करता हुआ उसी ध्यान-बाणकी निराली एक तानमें तन्मय हो एकत्व-वितर्क-विचार नामा शुक्लध्यानको पाकर गत बने हुए बनावोंसे उपयोगको हटाकर शिव-महलके निर्विघ्न आठवें खनमें जा विश्राम लेता है । वीतरागताकी मनोहर

सुन्दरता उसके मुखकमलको प्रफुल्लित बना रही है। इसके मोहरूई अमित तेजके प्रभावसे जगत्के सम्पूर्ण सुगुण इसके आश्रय लेनेके परम उत्सुक हुए चले आ रहे हैं। त्रिलोकराज्यकी हस्तनापुर राजधानीके कपाट अर्थात् आवरण शीघ्र ही दूर होनेवाले हैं। इस महात्माकी शुक्लध्यानरूप बिजली अपने एक अंतर्मुहूर्त मात्रके परिश्रमसे ही सम्पूर्ण स्वात्मसुखविरोधकोंको विध्वंस कर देगी। यह महात्मा अपनी प्राणवल्लभा सुमतिरानी द्रौपदी सतीके अद्भुत शीलको निष्कलंक पाकर उससे परम सत्य प्रीति विस्तारता है और उसको बारबार धन्यवाद देता है कि, उसने इसके कुलकी जनरूप अनेक कुमति कुलटाके शत्रुओंद्वारा विघ्न आनेपर भी स्थिर रक्खा है। यह महात्मा अब संसार परिपाटी मोहकी फांसीमें अनन्त काल तक भी फसनेका नहीं है। अपने महान् परिश्रमके फलको पाकर परम संतुष्ट, परम कृतकृत्य, परम निष्कषायी, योगीश्वरोंमें श्रेष्ठ, क्षीणमोहगुणस्थान–धारी, स्वात्माराम–विहारी, परम अविकारी, निर्विकल्पलता–मंडप–सचारी, परमसाम्यिष्ट, आत्माधीन सुखभोग-अधिकारी, अपनी अपार महिमाको लिये सम्यक्ज्ञानकी मनोहर सेज पर लेटा हुआ यथाख्यात चारित्रकी अत्यन्त सूक्ष्म चादरको ओढे हुए, पचेन्द्रिय अतीत अतीन्द्रिय–रसके विश्राममें पुष्टता धारता हुआ यह ऋषि उत्तम सम्पूर्ण भवनीन आकुलतारूप सर्वांनि आनंदोंसे अतीत अनुभवानदका स्वाद लेता है।

सत्यार्थ अरहंतदेव।

(२९)

स्वसमय निर्विकल्प समाधिरूप कारण समयसारसे कार्य्य समयसारकी प्राप्ति कर अपने आत्मीक रसानुभवके विरोधी चार घातिया-कर्मोंके नाशसे पूर्ण प्रकाशका लाभ कर आत्म–सूर्य स्वतेजके प्रभाव और आकर्षणसे त्रिलोकके भव्य प्राणियोंके मुद्रित हृदय–कमलको प्रफुल्लित करता हुआ उनको अपना निकटवर्ती बनाता है। शत इन्द्र परमाल्हादसे इस अमिततेज भानुकी उष्णतासे पोषित होनेके लिये अपने परिवार सहित आकर सूर्यमंडल–समवशरणकी भूमिमें स्थित हो दिव्य–वचन किरणावलियोंका लाभ ले अपने अंतःकरणको पुष्ट करते हैं। इस तेरहवें गुणस्थानधारी जिनेन्द्र आत्माकी महिमा वचन अगोचर अगाध है। जिस निजात्म देवको यह बारहवें गुणस्थान तक परोक्ष दृष्टिसे देखता था, उसी देवाधिदेवको यह प्रभु अब साक्षात् अवलोकन कर प्रत्यक्षीभूत करता है। अहा! उस व्यक्तिको कितना आनन्द होगा जबकि उसकी वह प्राण–प्रिया जिसको प्रत्यक्ष देखनेकी कामना करता हुआ भी बहुत कालसे उसका परोक्ष ही विचार करता था यकायक उसके सन्मुख आकर खडी हो गई हो। इस त्रिलोकनाथके सुखकी महिमा अपार है। शिवकन्याके मनोहर महलके नवें खनमें यह पहुच गया है। मात्र एक खनको तय करके ही यह शिव–कन्यासे परम संयोगके आनन्दको अनंत काल तक एक ही स्थानमें विराजित रहता हुआ प्राप्त करेगा।

इस समय परमौदारिक शरीररूप घरमें अपनेको व्याप्त रख यह चिदानन्द प्रभु भव्यजीवोंके पुण्य-प्रभावसे विना अपनी इच्छाके ही आत्मीक धर्मश्रौतकी निर्मल अमृतरूप वृष्टिको करके जीवोंके अनादि अज्ञानतमको विध्वस करता है। इस समय इस प्रभुके अलौकिक अतिशयोंका समागम है। धन्य है यह आत्मानुभव, धन्य है यह परम शुद्ध ध्यान, धन्य है यह उत्कृष्ट निर्विकल्प समाधि कि जिसके प्रभावसे कोसों तकके जीवोंके परिणामोंमें द्वेषकी अग्नि शात होगई है। प्राकृतिक वैरी भी परस्पर मित्रताका व्यवहार कर रहे है। वनोंमें शुष्क और फलरहित वृक्ष भी इस समय हरे भरे और फूले फले विकसित प्रसन्नरूप दृष्टिगोचर हो रहे है। कोसों तक के जीवोंकी दरिद्रता प्रयाण कर गई है । इस आत्मप्रभुकी महिमा उन्हींके ज्ञानगोचर है, जो स्वय इस प्रभुमे अपनी अतरग लौ लगाकर पचेंद्रिय ग्रामोंको प्रलय कर समाधिके सागरमें निमग्न हो जाते हैं। यह ज्ञानसूर्य परमतेजसे लोकालोकके ज्ञानसे परिपूर्ण किसी भी जातिकी अज्ञानतासे रहित है । सच है जहा पूर्ण प्रकाश है वहा अधकारका अश नहीं। भव्यात्मा ऐसे ही आत्मदेवको सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी कहकर अपना आप्त अर्थात् पूजनेयोग्य देव मानते हैं तथा इसके सिवाय अन्य समस्त ससारमें रागी देवोंको मोक्ष-मार्गमें सहाई नहीं जानते हैं । स्वात्मानुभवके उत्कृष्ट फलके भोक्ता श्रीअरहतदेव परमात्मा जीवन्मुक्त अवस्थामें रहकर अनेकोंको कल्याण-पथ प्रदर्शित करते हुए अपनी प्रिय सखी अनुभूतिसे वार्तालाप करते हुए अनुपम निर्विकार स्वाधीन अनुभवानदको उपलब्ध करते हुए परमाल्हादित हो रहे हैं।

अयोग केवली।

(३०)

शिव–महलके दशवें खनमें विराजित चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अ इ उ ऋ ऌ–ऐसे पांच लघु अक्षर उच्चारण मात्र समय भर ठहर कर तृतीय और चतुर्थ शुक्ल ध्यानके बलसे प्रथम ७२ और फिर १३ कर्म प्रकृतियोंको अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे बिना किसी प्रयत्नके दूर करता हुआ यह शुद्धात्मा समस्त मलसे रहित हो निर्मल दर्पणसम परम सुन्दर होकर शिव–महलके टावरमें जाता है और शिवनारीसे मिलकर अकथनीय आनन्दको प्राप्त करता है। जिसके स्नेहके वशमें हो समस्त विषय सामग्रीको त्यागकर यह मुनि बन और पर्वतकी गुफाओंमें वास करता था और हर समय वही रटना और वही लय लगा रक्खी थी कि किसी भी तरहसे हो मुझे परम तृप्तताकारिणी, स्वाधीन सुख–विस्तारिणी, अनन्तकाल तक भी सयोगको नहीं छोड़नेवाली शिव–तियासे भेंट हो। आज उसी अद्भुत सूरत–धारिणी शिव–तियाको प्राप्तकर इस सिद्ध परमात्माको जो स्वमन्य सुखका अनुभव हो रहा, है उसकी तुलना करनेके लिये जगतमें कोई पदार्थ नहीं है। तीन लोककी प्रभुताको रखता हुआ परमात्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित हो निर्विकल्प प्रमाण, नय, निक्षेपके व्यवहारिक कथनोंसे अतीत शुद्ध सुवर्णके समान परम शुद्ध और निर्द्वन्द्व निराबाध हो जाता है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यमई मुख्य गुणोंका आधाररूप परम सूक्ष्म रसमई, स्वअवगाहना सयुक्त, परको अवगाहना देनेको समर्थ, अगुरुलघु गुणसे व्याप्त, परम अव्याबाधमई रह

अनन्त काल तक स्वभावजन्य परम तृप्तताका संभोग करता है। वह न तो पर वस्तुओंका कर्त्ता है, न जगत्का न्यायकर्त्ता है और न अपने शुद्ध प्रदेशोंसे लोक-व्यापक है। वह पवित्र आत्मा कर्माजनसे रहित हो अपनी शुद्ध परणति रानीसे ऐसा तन्मय हो जाता है कि द्वित्वका नाम तक भी नहीं रहता। परम मोक्ष पुरुषार्थका लाभकर अत्यन्त कृतकृत्य, कृतार्थ और स्वरस-मग्न हो जाता है। स्व समयरूप कार्य समयसारको प्राप्तकर अजर अमर हो पंच परावर्तनरूप संसारके संसरणसे रहित हो जाता है। परम ब्राह्मण ब्रह्मचारी होकर भी शिव-नारीको वर कर गृहस्थीका सा चरित्र करता है, षट् गुणी हानि वृद्धिके व्यापारको करके निरन्तर परम अमृत-रसमई धन का लाभ करता है और उस धनसे अपनेको और अपनेसे अप्रथक्भूत शिव-नारिको तृप्तता देनेवाले और परम आल्हादित करनेवाले स्वरूपसंभोगकी सामग्री उपलब्धकर निराकुल रहता है तथा शांत कोमल समताकी सेज्यापर शुद्ध गुणोंकी चादरको विछाये व शुद्ध परिणामोंकी सोटको ओढे अपनी निजरूपमई शिव-तियाके संग वहोऽ करता है और जगतके क्षणिक आनन्दोंसे अतीत परम अनुभवानंदका अनुभव करते हुए अपनेको अपनासा सर्वथा शुद्ध देखता हुआ उत्कृष्ट ब्रह्मचारीकी दशामें रह स्वाधीन आनंदका विलासी बन परमोत्साहित और परम गुणानंदी रहता है।

———

शिव-तिया-संगम ।

(३१)

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—इन पाच द्रव्योंमें छिपा और उनसे अलग यह आत्मा अपनी परमात्म—शक्तिका पूर्ण मान कर और अपने सहाई अपने आश्रयमें स्थित सपूर्ण गुणरूप सेनकोंको साथ लिये हुए अपने सत्ता मैदानमें उपस्थित हो अपनी ही बेखबरीसे उसमें प्रवेश किये हुए मोह—शत्रु और उसकी सेनाको भगानेके लिये उद्यमशील हो गया है। मोह—शत्रु कायर है, यह आत्मा बर वीर है, मोह शत्रु अज्ञानी है, यह आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, मोह—शत्रु अधीर है, यह आत्मा धीरवीर है, मोह शत्रु अतृप्त है, यह आत्मा अत्यन्त तृप्त सतोषित है, मोह—शत्रु आकुलताकारक है, आत्मा निराकुलताका ही साधक है, मोह—शत्रु नित्य बलसे हीन है, आत्मा नित्य बलवान् और वीर्यवान् है, मोह—शत्रु मिथ्यारूप है, आत्मा यथार्थ सम्यक्तवान है, मोह—शत्रु बाधा प्राप्त है, आत्मा अव्याबाध और निर्विघ्न है, मोह—शत्रु अपनी रगतको बाह्य दिखाकर स्थूलता प्रगट करनेवाला है, आत्मा अत्यन्त गुप्त मन, इन्द्रियोंसे अतीत रह सूक्ष्मताका सभोगी है। इस प्रकार इन दोनोंके बलोंमें अत्यन्त फेर है। यही कारण है कि सत्ता—मैदानमें आत्माकी सर्वाङ्ग सुन्दर शात मुद्रा देखकर मोह अपना मुँह छिपाये रहता है। उसका सारा तन भयसे कापा करता है और गुप्त रहकर ही अपनी ओरके योद्धाओंको आत्म—वीरका मुकाबला करनेको भेजता

है । परन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ४ सुभटोंमेंसे व हास्यादि नोकषाय—वीरोंमेंसे जो कोई आत्म—वीरके सन्मुख आता है—वही इस आत्माकी अभेद रत्नत्रयरूप परम सामायक भावकी पुकार खाते ही टर करके भाग जाता है । यह आत्मवीर सत्ता मैदानमें बहुत ही चौकन्ना होकर खड़ा रहता है । जो कोई इधर उधरसे निकट आ भी जाता है, तो उसे ही सम्यग्ज्ञानकी खड्गसे खंडित करता है तथा जो कोई विषय—इच्छारूपी डायन आत्मापर अपना दाव फेंकती है यह धीरवीर उसी समय वैराग्यकी नालसे उस चोटको पीछे पटक देता है । मन, वचन, काय निगुप्तिरूप सगरके अश्वपर सवार हो मैदानमें खड़ा २ यह आत्मा किसी भी कर्म शत्रुको अपने पास ठहरने नहीं देता, जो कोई आते हैं वे यों ही मुह लेकर चले जाते हैं । अपने सत्ता—मैदानमें छिपे छिपाये बैरियोंको दग्ध करनेके लिये ऐसे अद्भुत निर्मल ध्यानकी अग्नि लगा देता है, कि जिसकी लपट अपने आत्मा और उसके अनंत गुणोंको दग्ध करती नहीं, किन्तु उस मैदानकी अनेक झाड़ियोंमें छिपे छिपाये शत्रुओंको जला डालती है । इस तरह मैदानसे परकी वासना भी न रख—यह आत्म वीर अपने तेज अत्यन्त तीव्रगामी सवर अश्वपर चढ़े हुए अपनी प्रिया मगलमती मुक्ता—तियाके द्वारपर पहुचता है और झट उस अश्वसे उतर शिवनारीसे मिलता है और परस्पर ज्ञानानंदकी गोष्टी कर सम्पूर्ण विकल्पोंसे अतीत सहज स्वाभाविक अनुभवानन्दका स्वाद लेता है ।

मेरा भाग्योदय ।

(३२)

हा ! आज मैं बडे आश्चर्य्यमें हू, वनों और पर्वतोंकी गुफाओंमें रहते हुए तथा शिलाओंमें तप करते हुए मुझको कितने वर्ष बीत गये, परन्तु अभीतक कष्ट ही कष्ट मालूम पडा । दूसरोंको तो अनेक ऋद्धि सिद्ध हो जाती हैं । मैं अबतक क्यों रीता रहा ? अहा ! सच है, जिस स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा यह जीव सर्व जगत्को अपनेसे पृथक् करता है, जिस सम्यग्ज्ञानके द्वारा यह जीव परस्व रूपसे अपने भावको हटाता है, जिस आत्मज्ञानके द्वारा यह जीव स्वस्वरूपावलम्बी होता है, जिस आत्मानुभवके द्वारा यह जीव स्वाधीन, सहज स्वाभाविक, निर्मल और भयरहित अमृतमय सुखका स्वाद लेता है तथा जिस स्वभाव परिणतिके द्वारा यह जीव इन्द्रादिक और चक्र-वर्तियोंकी सम्पदा और इन्द्री–जनित भोगोंको भी अपने मननके विरोधी और बाधकारक समझता है, ऐसा आत्मज्ञान रूपी–दीपक अबतक मेरे हृदय–मन्दिरमें नहीं जागा । मुझे लौकिक ऋद्धियोंमें क्या मतलब ? वे होवें या न होवें, क्योंकि जिन आत्मज्ञानी योगि-योंको यह ऋद्धिया हो भी जाती हैं, तो भी वे इनकी कुछ भी पर्वाह नहीं करते और न इनसे कोई काम लेना चाहते हैं । सच है, यह मेरी बडी मूर्खता है, जो मैं ऋद्धियोंकी अभिलाषा करके गृहस्थावस्था त्यागकर भी गृहस्थके समान ऋद्धिधारी धनवान् होना चाहता हू । यह क्षणिक विभूति मेरे आत्मावलोकनसे विलक्षण है । मुझे अब सचेत होना चाहिये और शीघ्र ही इस जगत्की सपदा और इन्द्रि-

योंकी आशा व अपनी असत् मायताकी तृष्णाको हटाना चाहिये और निर्विकल्प समाधिके आगनमें आकर कल्लोल करना चाहिये। उस निर्मल आगनमें नाना प्रकार नयोंके विकल्परूप-काटे व ककड नहीं हैं, नयोंकी पक्षका अभाव है और न वहा गुणस्थानरूप ऊच नीचपना है। स्वच्छ निर्मल आगनमें ही रमण करना मेरा हित है। उस आगनमें जाते ही स्वानुभूति मेरी प्रिया मेरे निकट आ जाती है, जिसकी सगतिमें अनेक प्रकार सभाषण और परस्पर प्रीतिका प्रादुभाव अद्भुत आनन्दका दायक है। उस परम सामायिकमें मेरा आत्म-शरीर सम्पूर्ण ज्ञान-ज्योतिका पुञ्ज-रूप ही हुआ मानों झलक्ता है। यद्यपि ज्ञेय पदार्थ झलक्ते हैं, परन्तु भिन्न २ ही रहते हैं और मैं भिन्न २ ही रहता हू, मेरा स्वरूप वास्तवमें अव्याबाध है। यदि त्रिलोकके तीव्र और मन्द शब्द, तीव्र और मन्द गन्ध, तीव्र और मन्द रस, तीव्र और मन्द स्पर्श, तथा भारी व हल्के पुद्गल स्कन्ध सर्व ही मेरे आगनमें अपने स्वाभाविक वेगको लिये हुए चले आवें तथापि मेरे आगनमें कोई धक्का नहीं लगता, कोई मलीनता नहीं आती, कोई उद्वेग नहीं खडा होता। यह मेरी अनुभूतिका ही प्रताप है कि जिससे मुझे कोई लाख बाधा देनेको आवे, परन्तु मैं स्वभाव दृढ रहकर निजानन्दका स्वाद लेता हू। असलमें मेरी ज्ञान दृष्टी अब खुली है। अब मेरे भाग्यका उदय आया, अब मेरे अत रंगकी सम्पूर्ण व्यथा दूर हुई। अहा! अब मैं अवश्य ही भवकारण दुःखरूप आनन्दोंसे अतीत अनुभवानदका स्वाद ले सदा स्वरूप-उन्मत्त रहूगा।

वीर पुत्र ।

(३२)

ज्ञानामृतका पीनेवाला भव्यात्मा सम्पूर्ण विकारोंसे रहित स्वाधीन निजसुखका अवलोकन अपने ज्ञान दर्पणमें प्राप्तकर अत्यन्त सुख अवस्थाको प्राप्त हो रहा है। यह ज्ञानी असख्यात लोकप्रमाण कषाय परिणामोंके रागसे विरोध-रूप होकर वैराग खड्गसे हरएक मोह-वैरीके प्यादेका विध्वस कर रहा है और वीतरागताके शात मनोहर जलमें नहा नहा कर मोह-युद्धके खेदको मिटा रहा है । यह तत्वज्ञानी जब २ किसी भी कषाय वैरीको ठढा करता है तब तब जयके आनन्दमें भरकर निलोक आगनमें अपनी भेदज्ञान परिणतिको नृत्य कराकर और उसके अद्भुत चित्रादको श्रवणकर परम आल्हादित होता है। यह स्वरूप अनुभवानन्दी दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी सम्यक्ता और एकताका एक ही काल अनुभव कर स्वरूप-उन्मत्त हो रहा है तथा इस विकट आत्मज्ञान-रूपी मदमें झूलता हुआ ज्ञेयरूप परवस्तुओंके आने न आने, दिखने न दिखनेकी कुछ भी परवाह नहीं करता है। इस परमात्मरस वेदीकी वेदन शक्ति परोक्ष श्रुतज्ञानके द्वारा ही शुद्धात्म-रसके स्वादमें मुग्ध हो गई है और यह इस स्वादको लेते हुए अवधिज्ञान, मनपर्ययज्ञानकी कुछ भी इच्छा नहीं करता और न केवलज्ञानको अपनेसे भिन्न जानता है। यह तो अपने विद्यमान श्रुतज्ञानको ही केवलज्ञान मानता है। क्योंकि एक परोक्षताका पर्दा पडा है। उसको उठाते ही वही

है। वास्तवमें जो अपने ही धनमें संतुष्ट रहे और उसीसे स्वयोग्य व्यापार करे, वह एक निरपराधी साहूकार है। इसके विरुद्ध जो परनिधिको व उसके अशमात्रको ग्रहण करे, वह सापराधी और चोर है। जो निरपराधी वीतरागी है, वह कर्मबंधको प्राप्त न होकर कभी भी चोरकी तरह दुखी नहीं होता, किन्तु अनादि कालसे चोरीकी हुई वस्तुओंको अपने पाससे इस कारण फेंकता जाता है कि उनका सम्बन्ध ही उस ज्ञानीको चोर और परवस्तु ग्राहकके अपयशमें रखनेवाला है। वह सम्यग्ज्ञानी अपनी भाव परिणति–रूपी रेलसे आत्म–अनुभव–रूपी ऐन्जिनको जोड़े हुए चला रहा है और आप उसमें बैठा हुआ शिव–नगरको चला जा रहा है। मार्गमें शास्त्र–स्वाध्याय–रूपी जल उस आत्मानुभवरूपी ऐन्जिनको पिलाता जाता है, जिससे वह अपनी तेजीमें शिथिल न हो। वैराग्यरूपी कोयला इस एनजिनमें ध्यान–अग्निरूप हो रहा है। यह रेल शिव–नगरके ऐसे लम्बे सफरमें मार्गमें देवगति व अन्य मनुष्यगति–रूपी स्टेशनोंपर ठहरती जाती है। कहीं अधिक, कहीं कम विश्राम लेती है। जब जब ऐन्जिनमें शिथिलता आती है, दृढ किया जाता है। यह रेलमें बैठा हुआ भावावलम्बी जीव विश्रान्तिके स्थानमें इस रेलसे उतरकर विभाव स्थानमें बैठ क्षुधा तृषादिकी वेदना मेटता है, परन्तु शीघ्र शिव–नगरमें पहुंचनेके उत्साहसे इस वेदनाको और इसके उपायको भी एक सन्टरूप ही समझता है। धन्य है! यह शिवतिय–आसक्त सम्यग्दृष्टी। यह अपने स्वरूपके स्वादको लेकर उन्मत्त हो रहा है और भववासी आनन्दोंसे अतीत अनुभवानन्दका रस ले तृप्त हो रहा है।

तत्त्वरूपी अंजन।

(३९)

आत्माराम अभिराम केवलधाम स्वकल्याणके सन्मुख हो सर्व अपने उन वेरियोंसे मुह मोड रहा हे, जिनको कि थोडी देर पहले अपना मित्र समझ रहा था। अनादिकी भूल मिटाके अब यह स्वपथका अवलम्बी हुआ है। इसने अपनी सब उन्मत्तता बहा डाली है तथा शम दम और यमसे परम शात, विवेकी और स्वआचारवान् बन गया है। जिनेन्द्र कथित स्याद्वादरूप परमागम द्वारा प्रदर्शित तत्त्वरूपी अजनको लगाकर अब इसने अपनी मिथ्यादृष्टिको सम्यग्दृष्टि कर दिया है। मोक्ष–मार्गमें साधक और बाधक ऐसे दोनों प्रकारके तत्त्वोंका सत्य स्वरूप इसने पहिचान लिया है। इसके अंतरगमें भवरुचि टूट गई, इन्द्रिय–सुखोंकी तृष्णा बिगट गई तथा कषायोंकी प्रसरता सिमट गई है। यह अब अपने रूपको देख चुका है। इसने अपनी गुप्त निधिको पहिचान लिया है। अब यह सर्व परका कर्जा चुकाकार अपने ही मूल धनसे, अपनी ही नगरीमें, अपनी ही निधिके द्वारा व्यापार करना चाहता है। मोक्ष–सुखका पिपासु हो, अतीन्द्रिय ग्राममें पहुचना ही इसका मन्तव्य है। वीतरागताका सुहावना भोजन ही इसको प्रिय है। यह आत्माराम अपने शुद्ध स्वरूपकी ओर देखता २ अघाता नहीं हे। दृष्टि निर्बल है, इससे बहुत देर तक एकसा देख नहीं सकता। यद्यपि ठहर २ कर पुन २ अवलोकन करता है तथापि, एकरूप अवस्थाको न होनेसे किंचित् आकुलित रहता है। परन्तु इसका बारम्वार देखना इसकी ज्योतिकी शक्तिको

बगता है। यहा तक कि कालान्तरमें इसकी ज्योति उस हृदयमें ऐसी स्थिर हो जाती है कि यह फिर उस स्थानसे पीछे गिरनेका नहीं है। जब यह आत्माराम अपनी दृढ शक्तिको पकड़ लेगा, उस समय यह मोहादि कर्म शत्रुओंके आक्रमणोंकी कुछ परवाह नहीं करेगा और सबको भगाता हुआ स्वस्थानपर ध्यानके विमानमें बैठा हुआ सीधा चला जावेगा और सिद्ध-शिलामें एकाग्र तिष्ठकर अनत कालके लिये सुखी हो जावेगा। उसके परिवारके अनत गुण उसका साथ कभी छोड़ेंगे नहीं। यह वीर-आत्मा स्वाभाविक मनोज्ञताको प्राप्तकर शिव-नारीको मोहित करके अपनेमें तन्मई कर लेवेगा और उसके सहज विलासमें आनन्दित हो स्वानुभवके परमामृतको परम सतुष्ट हो आस्वादन करेगा।

भेदज्ञान-साबुन।

(३६)

समस्त सकल्प विकल्पोंको दूरकर निर्विकल्प दशामें रह, जो कोई स्वानुभूति रानीके मोहमें तल्लीन हो अपने आपको इन्द्रिय-विषय ग्रामोंसे हटाकर अतींद्रिय परम मनोहर नगरमें विराजित करता है-वही पुरुष वीरोंका वीर, अतिवीर, महावीर है। यह उसीकी शक्तिमें है, जो आठ महाकर्म शत्रुओंका विजय करे तथा उस कामदेवका सत्यानाश कर डाले कि जिसके वशमें पडे हुए ससारी जीव आकुल व्याकुल रहते हैं और अपने निश्चय ब्रह्म-स्वरूपमें चर्या नहीं कर सके। स्वस्वरूप, उसके अनतगुण तथा उसकी अनतपर्याय एक ही

काल, जिस परमात्माकी ज्ञान–दृष्टिमें शोभायमान होते हैं उसी परमात्माके परम मनोहर मगल आननका जो अवलोकन कर तृप्त रहते हैं, वे ही सुधा–समूह चद्रमाकी अनुपम कलाको पाकर स्वामृतका पान करते है। ऐसे सुखसमुद्र चिन्मय परम तपस्वी निज निर्विकल्प समाधिमें जब आरोहण करते हैं, तब तीन लोकको अपनेसे पृथक् देख और स्वय एकाकी अनुभवकर स्वय ही परमात्मा हैं–ऐसा सम्यक् विचार करते है। यह विचार उनको ससार काननसे हटा हरे भरे चित्ताल्हादरूप उपवनमें ले जाता है। जहा अनन्तगुण रूप वृक्षोंको देखता हुआ उनकी वैराग्य–रूप सुगधको प्राप्तकर अतिशय तृप्त होता हुआ सम्यक् दृगात्मा समरस–सरोवरमें निमज्जन होता है और चिर विराजित कर्म कालिमाको भेद ज्ञान साबुनसे धोता हुआ अपने अतर्मुख कमलको प्रफुल्लित करता है तथा परम पवित्रता प्राप्तकर ऐसा आल्हाद करता है कि मानो मैं स्वय-सिद्ध, निरजन, निराकार, ज्ञानपुज और सुख–धाराधर हू। यह आल्हाद इस तत्त्वज्ञानीके आत्म–तनको पुष्टि देता है और यह जीव अपने बहुतसे रोग हटाकर आत्म–पुष्ट हो अपने रागादि शत्रुओंसे लडता है और प्रत्येक चोटमें उनकी शक्तिको हीनकर विजयानन्दरूप अनुभवानदका स्वाद लेता है।

आत्मीक हलवाई।

(३७)

निजस्वरूपानन्दी, परम स्वभाव ग्राहक, भवविलास हेय अभ्यासी, सिद्धसुख–दर्शनाकाक्षी आज सम्पूर्ण भव–नारियोंसे उदास हो शिव–

नारीके मोहमें मोहित हो गया है। बडे आश्चर्यकी बात है कि इसकी दशा बहुत ही विलक्षणसी हो रही है। स्वात्ममनन रसकी बनी अत्यन्त तीव्र मदिराको पीकर अपने अतरग आपेमें बेसुद हो रहा है। जगत्‌के ससारी नरनारी जिसकी चेष्टा देख हँसते हैं और उसे अपने काममें उत्सुक नहीं देख घृणा भी करते हैं, परन्तु उस ज्ञान-सतोषीको इस बातकी कुछ भी परवाह नहीं है। यह निज आत्मीक व्यापारमें चतुर हो, अपने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका अवलम्बन कर, अपनी शुद्ध भावनाकी भट्टी जला, ज्ञान-वैराग्य-रसको पका पकाकर स्वात्मृत-मय मनोहर व्यञ्जन तय्यार कर करके स्वय भी खाकर अपनी अनादिकी क्षुधा-वेदना मिटाता है और अन्योंको भी वह सुदर सलोने शब्दरूपी दोनोंमें धर कर देता है और उसके बदलेमें पाने वाले भी अपनी भाव-भक्तिके सुन्दर शब्दोंके द्वारा उसे प्रदान करते हैं। इस व्यापारके करते रहनेसे इस अंतरात्माको बहुत बडा अभ्यास हो जाता है, जिससे यह जगतमें ज्ञानवानोंकी श्रेणीमें मान्य हो जाता है। इस उद्यमके बलसे यह जब प्रचुर आत्मीक धनका धनी हो जाता है तब देन लेनके व्यापारसे छुट्टी पाकर परम सतोषित हो अपने स्वधनके मानमें उन्मग्न हो जाता है, फिर किसीकी इच्छा न रख अपनी स्वाभाविक सम्पत्तिके बलसे शिव-तियाको ही रजायमान करनेकी कोशिष करता है। इस तरह चेष्टित हो विघ्न कारक कर्मोंको अतिशयरूप धर्मध्यानके बलसे क्षय करता हुआ शुक्लध्यानमें पहुँच जाता है और प्रथम शुक्लध्यानके तीव्रतम बलसे मोहशत्रुका क्षयकर द्वितीय शुक्लध्यानके द्वारा

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अतराय कर्मोंका नाशकर, स्वाभाविक सुखको पाकर तथा शिवरमणीसे समापण कर जीवन्मुक्त हो अनुभवानन्दका अनुपम स्वाद लेता है।

निजगुण गणना।

(३८)

परम पुरुपार्थधारी, शिव--विहारी, ज्ञानानन्द-रस-सचारी, सम्यग्दृष्टी आत्मा जब अपने आत्मीक धनकी गणना करता है तब गणना करते करते कभी भी अतको प्रास नहीं होता। अपनी शक्तिकी हीन प्रगटताके कारण थोडीसी ही गणना करके थक जाता है और आराम लेनेके लिये अपने शुभ गुणोंसे अन्य अनेक शुभ भावोंकी गणनामें लग-जाता है, परन्तु ऐसा करते हुए भी इसको अपने आत्मीक धनकी गणनाका ख्याल छूटता नहीं। इस कारण तुरत ही निज शक्तिको सम्हार निज धनकी गणनामें लवलीन हो जाता है। यही जाप भवताप-को शात कर देती है और अपने प्रत्येक सम्मेलनमें शात कर देती है और अपने प्रत्येक सम्मेलनमें इस जापी आत्माको स्वामृत--रसकी एक बूद प्रदान करती है। जिस बूदका स्वाद ले यह स्वस्वादी दूसरी बूदके लिये फिर उत्सुक हो जाता है जैसे ससार--कूपमें पडा हुआ पथिक मधुमच्छिकाके छत्तेसे गिरे हुए एक विन्दुको चखकर उसकी आशामें फिर मुँह फैलाए रहता है और आप भयानक अजगर-के मुखमें गिरनेको है, इस बात को नहीं गिनता है, उसी तरह

यह स्वरस-वेदी संसार पतनसे निर्भय रह निज रस विन्दुकी आशा करता है, परन्तु यह सम्यक् पुरुषार्थी है, इससे मात्र आशा ही करके चुप नहीं हो जाता है। इसकी रुचि इसको शीघ्र ही स्वसवेद-रसका अनुभव कराती है। त्रिलोकके षट्द्रव्यमय पदार्थोंको सम्यक् श्रद्धानमें रखनेवाला यह सुधी उन सम्पूर्ण पदार्थोंमें किसी तरहका भी सांसारिक राग और द्वेष नहीं करता है, कि जिन पदार्थोंको मिथ्यादृष्टी सम्बन्ध करके अपने मान लेता है तथा मनको प्यारे पदार्थोंमें राग और असुहावने पदार्थोंमें द्वेष करता है। यथार्थ वेदी ही वास्तवमें आत्मज्ञानी और सुखमई है। वही वीतराग-विज्ञानतारूपी अपूर्व शक्तिमई देवीका सच्चा उपासक है। वही परम उत्सवमई आत्मीक अखाडेमें समस्त त्रिलोक जन-समूहके सन्मुख ज्ञानानन्द नाम नृत्य करके उसी तरह अपने मोक्ष-राजाको रिझाता है, जिस तरह इन्द्र जन्मोत्सवके समय श्रीतीर्थंकर प्रभु और उनके माता पिताके सन्मुख आकर आनंद नाटक करके आनन्द करता है। यह समयसारका नाटक परमसुखरूप है। जो इस नाटकके रसिया हैं—वे इस दुःखरूप भवातापके अन्दर निवास करते हुए भी मोक्ष वासकेसे परमाल्हादके भोक्ता है। यह बात बिल्कुल सत्य है कि अनंत गुण पर्यायधारी आत्माका स्वरूप स्याद्वादके द्वारा सम्यक् निश्चय कर जो कोई जीवात्मा स्वात्म स्वभावमें लवलीन होकर विषय कषायोंसे हटता है और पुनः पुनः शुद्धात्मानुभवको भावना करता है, वही जीव स्वात्मानुभव करके अनुभवानन्दका स्वाद लेता है।

न कर्त्ता हूं न भोक्ता हूं।

(३९)

मैं बंधा हूं व खुला, मैं संसारी हूं व सिद्ध, मैं क्रियावान हूं व अक्रिय, मैं सरागी हूं व वीतरागी, मैं मूढ़ हूं व चतुर, मैं दुष्ट हूं व सज्जन, मैं कर्त्ता हूं व अकर्त्ता, मैं भोक्ता हूं व अभोक्ता, मैं सूक्ष्म हूं व स्थूल, मैं अनेक हूं व एक, मैं क्रोधी हूं व शान्त, मैं नित्य हूं व अनित्य, मैं दृश्य हूं व अदृश्य, मैं आगमज्ञ हूं व स्वभावज्ञ, मैं लोभी हूं व संतोषी, मैं जन्मा हूं व अजन्मा, मैं सुखी हूं व दुखी, मैं वर्णवान हूं व अवर्णवान इत्यादि अनेक वचनके जालोंको इन्द्रजालकासा फैलाव समझकर जो कोई उन्हें दूर करता है और इन विकल्प-जालोंसे अतीत निजरसमय साक्षात् स्वभावमें स्फुरायमान ज्ञान ज्योतिको ही ग्रहणकर सम्पूर्ण लोकालोकके पदार्थोंके सम्यक् कारण और कार्यका ज्ञाता होता हुआ अपनी शुद्ध चैतन्यमयी जातिसे ही नाता करता है और उनसे स्वरस-वेदनका आनन्द परस्पर लेता देता है वही आत्मा तत्त्वज्ञानी और आसन्न-भव्य है। यही स्वभाव-खोजी अपनी उपयोग परिणतिरूपी जलको त्रिलोक-वनसे समेटकर अपने स्वरूपके ज्ञानमई नीचे खाडेमें भरकर अटूट अमृतके भंडारका धनी होता है और उस धनके सुखमय मदमें ऐसा उन्मत्त हो जाता है कि रंच मात्र भी अन्यकी परवाह नहीं करता। एक निज अनुभूतिका ही प्यारा रहता है और उसीमें रति करता है। दृढ़ सम्यक्त्वकी अचल महिमा उसके स्वरूपमें

प्रतिभा समान होती है । यह ज्ञानी अपने आनद अनुभवरूपी राज्यका राज करता है और स्वतंत्र अतींद्रिय होकर इंद्रिय विषयोंकी परवाह रखता नहीं । स्वमनको स्वमननमें मगन कर स्वरूपावलम्बी रहता है । इस ध्यानी भेद-ज्ञानीकी शक्ति जैसे स्वात्मश्रेणीके आरोहणमें उत्साहित होती है, ऐसे ही परको स्वात्मसुधारमें स्थिरीभूत करनेके लिये इसकी वचन-प्रणाली बहुत ही दृढ कार्य करती है । जैसे वचनमें दृढता अपूर्वता प्रगट करती है, ऐसे ही इसके शरीरसे प्रतिपादन किये हुए समस्त कार्य सम्यक् परको अबाधाकारी और न्याय मार्गकी ओर झुके हुए होते हैं । व्यवहार प्रवृत्ति भी ज्ञान वैराग्यसे पूर्ण होती है, जिस निमित्तसे इस आत्माको अपराधी बननेका बहुत कम भय रहता है । वास्तवमें यह बात सत्य है, जो ज्ञाता दृष्टा रहता है और कर्तापनेके अथवा भोक्तापनेके अहंकारको नहीं करता है, उसको बधनमें पडनेकी शका ही क्यों हो ? जो पर क्रियाको आपकी क्रिया-श्रद्धान करता है वही अपनी मिथ्याबुद्धिसे परका कर्ता और भोक्ता बनता है तथा इस अपनी असत् बुद्धिसे वृथा सक्लेश उठाता और कर्मोंको बाधता है । शुद्ध नयकी डोरको दृढतासे पकडे हुए, जो जगत्में क्रिया करता है वह क्रिया करता हुआ भी अक्रिय है । भेद-ज्ञानका निर्मल जल उसके अतरगमें निरतर बहा करता है । धन्य है! यह शात जल कि जिसकी ठडक इसको ससारके क्षणिक आतापोंसे पृथक रखती है । तथा इसके आत्माको वैसी ही आल्हादता देती है कि जैसे पूर्णमासीके चद्रमाकी कला दर्शकको हर्ष उत्पन्न करती है । इस परमानन्दके

विरासमें तल्लीन होकर यह अतरात्मा वीतराग-विज्ञानी रहकर तथा शिव तियाके मोहमें रति करके निरतर अनुभवानदका स्वाद लेता है।

गतिमार्गणामे मैं ही हूं।

(४०)

त्रिलोकका स्वामी, शिव रमनीका वर, आत्मीक अनत गुणरूप धनका धनी वास्तवमें मैं ही तो हू। मेरा अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख, अनतवीर्य्य मेरे ही में हैं। मेरे निवासका स्थान मेरे ही आत्माका असख्यात प्रदेशमयी चैतन्य नगर है। मैं गतिमार्गणासे भिन्न हू। मुझे कोई चारों गतियोंके स्वागोंमें ढूंढा चाहे तो मैं कहीं भी नहीं मिल सक्ता हू। इन गतियोंका हेतु, स्वरूप, कार्य्य, और फल समस्त ही मेरी निर्मल शुद्ध परिणतिसे विपरीत है। अहमिन्द्र, इन्द्र तथा सुर असुर सर्व ही निज स्वभावसे भिन्न पर पुद्गल कर्मरूपी वर्गणाओंके निमित्तसे अपने २ रूप, पद, कार्य्य और स्थानमें तल्लीन हैं। उनकी सारी क्रीडा, उनका सारा भ्रमण, उनकी सारी धर्मक्रिया मेरी शुद्ध पारिणामिक क्रियासे सर्वथा विरुद्ध है। चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, कामदेव आदि सर्व ही नर अपने २ पुद्गलोंके अहकारमें अथवा यदि वैराग्य हुआ तो उनसे वैराग्य भाव मननेमें परकी ही चिन्ता करते हुए मेरी स्वाभाविक निश्चलतासे पराङ्मुख हैं। अष्टापद सिंह, गज, अश्व, मयूर, महामत्स्यादि थलचर, नभचर, जलचर तथा समस्त ही द्वीन्द्रियादि विकलत्रय व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, तथा साधारण निगोदरादी आदि प्राणधारियोंके शरीर और

चेष्टाओंमें झाककर देखा जाय तो सर्व ही पुद्गलका नाट्य कर रहे है। उनका यह नाट्य मेरे समयसारके अद्भुत नाट्यसे सर्वथा निराला है। सातों नरकके नारकी निरन्तर अशुभ शरीर, अशुभ विक्रिया, अशुभ परिणाम और कषायके वशीभूत हो परस्पर मारण, ताडन आदिकी कुक्रिया करते व दु खसे विलाप करते हैं तथा परस्पर छेदे भेदे जाते हुए भी अपने स्थूल शरीरको नहीं त्याग सकते हैं। ऐसे नारकियोंकी आकुलतामई चेष्टायें मेरी निराकुल स्वानन्दरूप स्वधाम अभिराम गुणग्रामकी स्वभाव भोगनरूप क्रियासे बिलकुल अनोखी है। चारों गतियोंमें मार्गणा करनेसे मेरा पता किसीको भी मिलना दुस्वार है। यद्यपि मैं गतिसे भिन्न सुगतिरूप और निर्द्वन्द्व हू तथापि यदि कोई चर्म दृष्टि बन्दकर सम्यग्ज्ञानकी दृष्टिसे इन चारों गतियोंमें भी मुझे देखना चाहे तो मैं अवश्य दिखलाई दिया जा सकता हू। यद्यपि चारों गतियोंके प्राणधारियोंकी भिन्न २ आकृति और क्रियायें हैं, परन्तु सम्यक्त्वीको तो मैं इन गतियोंके भीतर भी एक रूप शुद्ध ही दृष्टि गोचर हूगा। वास्तवमें मेरा आकार, मेरा गुण, मेरा स्वरूप, मेरी पर्य्याय यथार्थमें जैसीकी तैसी ही रहती है। क्या कभी सूर्य्यका तेज मेघाडम्बरके आनेसे जाता है? क्या कभी रत्नकी ज्योति मिट्टीसे लिप्त हो जानेपर मटियाली होती है? क्या कभी सालिका चॉवल भूसीमें लिप्त रहनेसे भूसीरूप होता है? क्या कभी तैजस शरीर समस्त ससारियोंमें लीन रहनेपर भी अतैजसरूप परिणमता है? क्या कभी चंदनका काष्ठ अन्य काष्ठके साथ जलनेपर भी अपनी निराली सुगन्धको त्यागता है। निश्चयसे मेरी शुद्ध

अनुभूति नित्य ही मेरे साथ रहती है। मेरी अनुभवशक्तिका घात कोई कर नहीं सकता। चाहे मै चारों गतियोंकी ८४ लाख योनि और १९७॥ कोडकुल कोडीमें भ्रमण कर आऊं, परन्तु मेरे गुणोंको कोई क्षीण करनेवाला नहीं है। मैं अपनी स्वाभाविक सम्पदाको लिये हुए नित्य ही संतुष्ट रहता हुआ और अपनी अनुभूति सखीसे गोष्टी करता हुआ स्वभावसे ही अनुभवानन्दका स्वाद लेता हूं।

इन्द्रियमार्गणाकी ओछी शक्ति।

(४१)

अतीन्द्रिय आत्मारामका रचा हुआ आराम अत्यन्त मनोहर, सुखप्रद, गुणशाली और चिंतातीत है। इस मनोहर आराममें परमात्माराम विश्राम करता हुआ शिव-नारीके सातामय स्पर्शका भोगकर अटूट अमृतके स्वादको लेता हुआ इन्द्रियग्रामोंमें परिभ्रमण करके उनकी सैर देखनेका कभी विचार ही नहीं करता। वास्तवमें आत्माराम इन्द्रियमार्गणासे सर्वथा भिन्न है। मतिज्ञानावरणीयकर्मके और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमको अनादि कर्मबंधकी संतानका भोग नेवाला संसारी जीव कारण पाकर एकेन्द्रीकी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतीकी कायमें मात्र एक स्पर्श इन्द्री प्राप्तकर उत्कृष्ट ४०० धनुप दूर (४ हाथका धनुप) क्षेत्र तकके पदार्थोंके कोमल, कठोर, हलका, भारी, रूखा, चिकना, उष्ण, शीत इन आठ स्पर्शित विषयोंको मूर्च्छा बुद्धिसे ग्रहण करता हुआ दुखी सुखी होता है। धन्य है! यह अतीन्द्रिय आत्मा, जिसको यह आकुलतामई पराधीन क्षणिक

सुख दुःख नहीं है। दो इन्द्रीकी त्रस पर्यायको धारते हुए विकले-न्द्रिय जीव उपरोक्त कर्मके क्षयोपशमसे उत्कृष्ट स्पर्श करने योग्य पदार्थोंके विषयोंको ८०० धनुषक्षेत्र तक की दूरीसे तथा स्वादने योग्य पदार्थोंके रस विषयको ६४ धनुषतककी दूरीसे जानकर मोहित हो अपने आत्मीक अनुभवके ज्ञानसे पराङ्मुख रहते हैं। धन्य है शिवरमणीका वर कि जिसको इस पराधीन ताके जाळसे मुक्ति होगई है। तीन इन्द्रीधारी चींटी आदि त्रसजीव निज कृत कर्माधीन पडे हुए मानों कर्मके मदसे स्वयं चकनाचूर हुए स्पर्शने योग्य पदार्थोंको उत्कृष्ट १६०० धनुष तकके क्षेत्रसे स्वादने योग्य पदार्थोंको उत्कृष्ट १२८ धनुष तकके क्षेत्रसे तथा सूंघने योग्य पदार्थोंको उत्कृष्ट १०० धनुष तकके क्षेत्रसे जानकर तन्मय हो अपनी पर्यायको शीघ्र पूर्णकर पर्यायांतर होते हैं। खेद है, इन विचारे विषय–ग्रहणमें रात्रिदिवस परिश्रम करनेवाले जीवोंको स्वात्म तन्मयताकी गंध भी प्राप्त नहीं होती। चार इन्द्रीवाले मक्खिका, भ्रमर आदि जीव आत्मरुचि-कारण मानसिक वृत्तिको न प्राप्त किये हुए उत्कृष्टतासे स्पर्शने योग्य पदार्थोंको ३२०० धनुष दूर क्षेत्रसे, स्वादने योग्य वस्तुओंको २५६ धनुष दूर क्षेत्रसे, सूंघने योग्य वस्तुओंको २०० धनुष दूर क्षेत्रसे तथा देखने योग्य पदार्थोंको २९५४ योजन दूर क्षेत्रसे मालूमकर उनके मोहमें आपेकी किसी समय भी खबर न रखते हुए क्षोभित होते हैं। धन्य है! निजानन्दी जीव जिनको इस क्षोभके फन्देमें पडनेकी आवश्यक्ता नहीं है। पांच इन्द्रीवाले जीव सत्यासत्य हिताहित विचारशक्ति–धारक मनको न पाकर और

त्रैलोकालोक ज्ञाता परमात्माके दर्शनसे विमुख रह उत्कृष्टतया स्पर्शने योग्य पदार्थोंको ६४०० धनुष दूर क्षेत्रसे, रस लेने योग्य पदार्थोंको ५१२ धनुष दूर क्षेत्रसे, सूंघने योग्य पदार्थोंको ४०० धनुष दूर क्षेत्रसे, देखने योग्य पदार्थोंको ५९०८ योजन दूर क्षेत्रसे तथा सुनने योग्य पदार्थोंको ८०० धनुष दूर क्षेत्रसे जान मूर्छित बुद्धिकर उनके रागमें तन्मय रहते हुए स्वरस-स्वादका लाभ नहीं करते हैं। परन्तु पंचेन्द्री जीव मनका धारी होकर भी अर्थात् उत्कृष्ट तीर्थंकर चक्रवर्ती जीव होकर भी तथा स्पर्शने योग्य, स्वादने योग्य, और सूंघने योग्य पदार्थोंको नौ नौ योजन दूर क्षेत्रसे तथा देखने योग्य पदार्थोंको ४७२६३ ७/२० योजन दूर क्षेत्रसे*, तथा सुनने योग्य पदार्थोंको १२ योजन दूर क्षेत्रसे मालूम करके भी तृप्त नहीं होते और अपने मनमें इस बातकी ईर्षा करते हैं कि श्रीअरहंत सिद्धपरमात्माके सदृश हमारेमें ऐसी शक्ति क्यों नहीं पैदा हो जाती है? जिससे हम तीन लोकके समस्त पदार्थोंको एक ही समयमें बिना इन्द्रियोंकी सहायताके ही उनके समस्त विषयोंसहित जान लेवें और इस कारण आकुलताओंके प्रपंचोंसे दूर नहीं होते। वास्तवमें क्षयोपशम ज्ञान और क्षयोपशम वीर्यकी गम्य कहां तक हो? पुद्गलके विकारोंका सम्बन्ध आत्माको विकारी बनाता है। ऐसे सम्बन्धका मोह ही आत्माको पराधीन, दुःखी, रागी, द्वेषी और आकुलित करता है।

---

*नोट—तीर्थंकर चक्रवर्ती जब अयोध्याजीके महल ऊपर खड़े हों तो सूर्यको निषिध पर्वतके ऊपर सदा स्थानमें स्थित देख सकते हैं, इसकी दूरी अयोध्यासे ४७२६३ ७/२० योजन होती है।

दु खका अनुभव नहीं है । जो भेद–विज्ञानके शस्त्रको धोर हुए शूर वीरताका जल पीते हैं, उनको कायकी सुरूपता व कुरूपता कुछ भी असर नहीं करती । सनतकुमार चक्रवर्ती और उनके रूपके मोही देवोंके समान यौवनकी क्षणभगुरताका विचार कर अपूर्व यौवनधारी निज जीव तत्त्वके विलासमें आनन्दित रहते हुए समता–नदीके जलको पीते हुए राग द्वेष शत्रुओंको वैराग्य मत्रसे दूर दूर रखते हुए स्वरूपगुप्त हो हर्षित होते हुए सदा अनुभवानदका स्वाद ले चिरसुखी रहते हैं ।

मैं अकाय हूं ।

(४३)

निज रस–कूप, शिवनगरी–भूप, चैतन्यरूप, अविनाशी परमात्मा के मननमें मोहित हो भव्य अतरात्मा आत्मसत्ताके रमणीय काननमें पहुच जाता है और उस काननके अगरूप अनत गुणमई अनेक वृक्षोंको क्रम क्रमसे अवलोकन करता हुआ अपनी स्थिति अपना आचरण ऐसे मनोहर बनमें जान जान अपने चित्तको प्रसन्न करता है। प्रसन्नताके साथ एक आश्चर्य भी करता है कि इस आत्म–बनमें एक २ गुणरूप वृक्षके प्रदेश अर्थात् स्थानमें अपने अन्य सम्पूर्ण गुण–तरुओंकी सत्ता मौजूद है । एक वृक्षकी सुन्दरतामें अनत वृक्षोंकी सुन्दरता झलक्ती है । इस अतिशयरूप बनके प्रभावसे इस अंतरात्माको आत्माका ही विचार है, उसीमें अपने परिणमनको करे हुए है । मेरे कार्माण, तैजस व औदारिक शरीर है कि नहीं, इस बातके

विकल्पसे अलग रहता है। वास्तवमें यह शरीर पुद्गलकी वर्गणाओंसे ही उत्पन्न हैं। जिस पुद्गलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णके २० गुण हैं वे गुण आत्मामें कोई भी नहीं हैं, न यह क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य शूद्र है । यह सब नाम शरीर ही के हैं, आत्माके नहीं । जिस शरीरका निरन्तर पूरण गलन स्वभाव है, जो भीतर मलमूत्र आदिसे भरा है, जो स्वयं अपवित्र और जो इसका स्पर्श करे उसको अपवित्र करनेवाला है, ऐसे तनमें निस्पृह हो जो चैतन्य तनकी पवित्रतामें तन्मय रहता है, अकषायी रहकर स्वसमयके स्वादमें मग्न रहता है, ऐसे अनुभवीको अहमिन्द्रोंका वैक्रियक शरीर भी भिन्न ही प्रतीत होता है और वह तीन कालमें भी ऐसे तनकी कामना नहीं करता। जब जड तन ही भिन्न है तब तनके सम्बन्धी माता, पिता, भाई, बन्धु, पुत्र, स्त्री, पुत्री, धन, धान्य, क्षेत्र, महल, आदि सर्व ही आत्मस्वरूपसे पृथक् हैं। जो मोही इनके मोहमें पट अपने स्वरूपको भुलाता है—वह अपना ही शत्रु, द्रोही और अपना ही अकल्याण करनेवाला है। निज रस–रसियाको कोई पर रसके स्वादकी चिन्ता नहीं होती—वह रसिक स्वसंवेदन ज्ञान, अमल, गुणवान्, भवदधि–तारण-यानपर आरूढ हो समय २ विशुद्ध भावोंमें बढ़ता जाता है, और अपने सुखरूप स्वरूपमें लवलीन रह शिव–नारीको मोहनेवाले अद्भुत आकर्षणमें प्रवेशकर क्षणिक सुखोंसे अतीत सार समता स्वरूप अनुभवानन्दका ध्यान करता है।

योगमार्गणामें डगमगाहट ।

(४४)

भवाटवी–भ्रमणकारी, ससारी, परम समताधारी, स्वपदरुचि-विस्तारी, भवहारी, सर्वज्ञ, वीतराग गुणधारीको न पाकर, भव–जालमें फसा रह कर, चारों गतियोंमें अपने योग्य शरीर धार, योगोंकी परणतिमें उलझा हुआ, अयोग, अलिप्त, अनत, अमिट, अपूर्व तथा आनन्दमय पर्य्यायको नहीं प्राप्त करता है । यही इसकी गफलत इसको सदा ही दु ख देनेवाली है । योगमार्गणामें पडा हुआ पर पदार्थको अपनेमें आकर्षण करता है और अपने स्नेह व अस्नेह भावके निमित्त स्वय कर्मबधका रोग पीछे लगा रोगी बनता है । परिपाटी रूप अनादि और सम्बन्ध वियोगकी अपेक्षा सादि पुद्गलविपाकी नामकर्मके उदयसे ससारी जीव अपनेमें जो ज्ञानावरणादि कर्म और औदारिकादि नोकर्मकी वर्गणाओंको ग्रहण करनेकी शक्ति रूप **भावयोग** और ऐसे आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्द नाम हलन चलनरूप द्रव्ययोग रखता है । तथा जिस योगके १५ भेदोंमें फस जाता है, इस कारण वह अपनी स्वतन्त्रतासे विमुख हो आप ही दु ख उठाता है । सत्यार्थ ज्ञानको पैदा करनेकी शक्तिरूप मानसिक भाव व वचन, तथा इसका विरोधी भाव व वचन, सत्यासत्य मिश्रित भाव व वचन, तथा सत्यासत्य कहे जानेकी शक्तिसे रहित अवक्तव्य, ऐसे सत्य, असत्य, उभय, अनुभय चार भेदरूप, मन व वचन योगके ८ भेद तथा औदारिक, औदारिकमिश्र (अपर्याप्त अवस्थामें), वैक्रियक, वैक्रियकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और

कार्मोण ऐसे ७ काय सम्बन्धी योगोंकी विक्रियासे वृथा ही पर पदार्थ द्वारा अपने आत्म-प्रदेशोंको डगमगाता है। सत्य और अनुभय वचनयोगसे प्रगट की हुई दिव्यध्वनिके द्वारा आत्मधर्मकी प्रगटता होती है, जिसको व्यवहारी जन पाकर व्यवहारकी सीढीसे निश्चयकी ओर मुख करते हुए चढते हैं और योगोंके हलन चलनसे रहितपना पाकर अयोगी हो सिद्धालयमें निवास करते हैं। प्रकृति और प्रदेशबंधका कारण योग है, ऐसा जानते हुए भी इसकी कुछ परवाह न कर योगीश्वर ध्यानके द्वारा निश्चलता प्राप्त करते हुए स्वरूप मगन रहते हैं तथा परम प्रतापी आत्मारामके सद्गुण पुष्पोंकी सुगंधता लेते हुए ऐसे मोहित हो जाते हैं कि फिर जगत्‌के पौद्गलिक पुष्पोंकी कभी परवाह रखते नहीं। निज अद्भुत सत्तामें निवास करते हुए उसी भूमिमें ही चलना योग्य समझते हैं, तथा उससे बाहर किसी भी पर वस्तुकी सत्तामें गमन करते नहीं। निज सत्ता गुणरत्नोंसे जडित परम सुखदाई है, यही इसका स्वपद और स्वरूप है। जो इस स्व पदमें निरालम्ब हो ठहरते हैं वे महा रमणीक सुख भाजन वीतरागमई पर्वतपर आत्मज्ञान सिंहासनपर बैठ जाते हैं और अष्ट कर्म-जालसे रहित तैजस वर्गणा विहीन आत्मस्वरूपकी शुद्धताका मनन करते हुए विनाशीक रसोंसे रहित अरस, अगंध, अस्पर्श, अवर्ण और अशब्द स्वरस सुधापुंज समूहका विलास करते हुए, पर अनुभवसे रहित सत्य अनुभवानंदका स्वाद लेते हुए परम तृप्त रहते हैं।

वेदमार्गणाकी आकुलता।

(४९)

शशि सम उज्ज्वल गुणधारी, अविकारी, अत्यन्त निकट भव्य जीव कुमुद विस्तारी, अज्ञान–निशि–तम–हारी, भवाताप–सतप्त, सत्व शमनकारी, परवन्तु आधाररहित निराधार परिणति आकाश विहारी, अनत गुणकला भडारी, परमात्मा सदृश अतरात्मा आज सम्पूर्ण निर्वेदरूप तीन सक्लेशतासे रहित हो वेदरहित मुक्त–तियाके स्मरणमें दत्तचित्त हो रहा है और अपनेको ससारमें रहते हुए भी ससारावस्थासे पृथक् मान रहा है, जिस वेदमार्गणामें भ्रमण करके यह अज्ञानी जीव अपना ससार बनाता है, उस वेदके विचारको जब हेय निरीक्षित किया जाता है तब स्वत स्वभाव ही अन्तरात्माका पग मोक्ष–मार्गमें बढता चला जाता है। जिस पुरुष वेदकी तीव्रताने त्रिखंडी रावणको विध्वस कर नर्कवास दिया, व ग्यारहवें रुद्र सात्विकका स्वर्ग चिन्ह छिदवा भ्रष्ट करा, नर्क पहुचाया, व दु:शासनको सभामें अपमानित करा कुगति धाम बसाया, तथा जिस पुरुष वेदके मोहमें पडे ससारी जन स्त्रीमें लुब्ध हो निज–शीलरत्नको मलीन करते है, उस पुरुष वेदको निज अरि मान जो त्यागते और ब्रह्मस्वरूपमें रमन करते–वे सच्चे अतरात्मा ब्राह्मण और ब्रह्मचारी हैं। जिस स्त्री वेदकी उत्कटताने चन्द्रनखाका मन एकाएक पुत्र शोकमे हटा उसे श्रीरामचन्द्र महात्माके रूपमें लुब्ध करा अपमानित और यहा तक क्रोधित कराया कि उसका यही क्रोध महासती सीतापर उपसर्ग पडने, राक्षसवशके क्षय होने तथा असख्यात वीरोंके युद्धमें नाश

होनेका कारण हुआ व जिस स्त्रीवेदकी तीव्रतासे चम्पापुरकी रानीने श्रीसुदर्शन सेठ ऐसे शीलवान्को शूलीपर बिठवाया व जिस वेदके तीव्र मोहमें पड स्त्री–समाज कामवेदनासे आकुल हो निज निजानन्द अविनाशी शिवनाथके मोहसे छूटी रह सासारिक पुरुषोंकी इच्छा कर नर्क, तिर्यंच योनि वास करती हैं, उस स्त्रीवेदको हेय समझ जो जीवात्मा त्याग करते हैं वे ही निर्वेद अवस्था प्राप्तकर स्वात्म स्वरूपमें मगन होते हैं। जिस नपुंसक वेदमें पडे नारकी, नर और तिर्यंच कामकी तीव्र ज्वालासे दग्धायमान होते हुए सम्यग्दृष्टिका लाभ न कर आत्मस्वरूपको नहीं पहिचानते उस खंड वेदको सर्वथा हेय समझ अंतरात्मा आतंरिक मनोहर वृत्तिका अवलम्बन ले सुखिया स्वभाव धारण करते हैं। जो इस शरीर, शरीरके अवयव और इन्द्री विषय रागद्वेषादि कषाय–इन सर्वको अपने स्वरूपसे पृथक् जानने, मानते और अनुभव करते हैं, वे जीव भवक्षारी निराकुलताहारी सुखोंसे अतीत भवहारी निराकुलताकारी अनुभवानंदका सुधामय रस पी अत्यन्त तृप्त रह कृतकृत्यका अम्बर ओढ दिगम्बरपनेकी महत्त्वता प्रगट करते हैं।

कषायोंकी वचकता।

(४१)

परब्रह्म–स्वरूप–विकाशी, सम्यक् आनन्द–अभिलाषी, ज्ञान, दर्शन, सुखवीर्य्यपद–प्रकाशी, भवतमनाशीकी सुधामय मूर्तिका अवलोकन भव्यजीव सम्यक्दृष्टीके तनमें रोमाञ्चितता उदयमान

करता हुआ एक ऐसा शान्त जलका प्रवाह बहाता है कि, जिसकी अमलधारा कर्मवर्गणाओंके शिथिल और ध्वस्त समूहको आत्म प्रदेशोंकी बंध अवस्थासे एकाएक हटाती हुई, आत्माको हल्का करती हुई मोक्ष विमानमें निज निष्कटक राज्य करनेके लिये योग्य बनाती जाती है। वीतराग विज्ञान पवित्र स्पर्श अनुभूति नारीको ऐसा अनुपम बल प्रदान करता है कि, मोह राजाके चाकर चार कषाय सब योद्धाओंको आक्रमण और उनका भ्रमजाल इस अनुभूतिको अचेत नहीं करता तथा सचेत अवस्थामें रखकर मोहके जालोंसे बचनेका अपूर्व बल प्रगट करता है। ससारासक्त जीवोंका भ्रमण कषायमार्गणामें ऐसा प्रबल रहता है कि बाह्यमें कषाय-रहित वैरागी दीखनेपर भी अनतानुबंधी किसी भी कषायकी उत्कटता–उस जीवका पीछा नहीं छोडती। द्रव्य लिंगी मुनि व्यवहार चारित्रको शास्त्रोक्त यथार्थ पालते हुए तथा यथार्थ मार्गका उपदेश दे हजारोंको सम्यक् मोक्ष–पथपर चलाते हुए भी कषाय वैरी द्वारा ऐसे दबाये जाते हैं कि श्रावक धर्मकी प्रथम सीढ़ी सम्यक्त अवस्थाको न पा भवविपिनके त्रासोंको नहीं दूर कर सके। देवोंको तीव्र लोभ तथा नारकियोंको तीव्र क्रोध अन्य कषायोंकी अपेक्षा अधिक विह्वल रखते और पौद्गलिक वासनाओंसे परिणामोंको हटने नहीं देते। परन्तु जिन देव व नारकियोंके अतरगमें भेदज्ञानका दीपक जलता है, उनको कषायोंकी पवन अधकारमें नहीं कर सकी। वे स्वात्म–प्रकाशमें स्वरूप तन्मयतारूपी मोक्षमार्गको पा आनन्दकी झलकसे अलग नहीं होते। नारकी जीव लोभको

जिस अंतर्मुहूर्त काल तक रखते हैं, उससे सख्यात २ गुणा अधिक काल तक क्रमसे माया, मान तथा क्रोधका अनुभव करते तथा देव क्रोधको जिस अंतर्मुहूर्त तक भोगते, उससे सख्यात २ गुणा काल तक क्रमसे मान, माया और लोभको धारण करते हैं। और मनुष्य तिर्यंच जिस अंतर्मुहूर्त काल तक लोभ कषायको रखते है, उससे सख्यात २ गुणा काल तक क्रमसे माया, क्रोध और मानके हमलेको सहन करते हैं। वास्तवमें चार गतिमें उत्पन्न नाना प्रकारके सुखदु:ख रूप धान्योंको पैदा करनेवाला इस ससारी वैश्यका चाकर–भृत्य कषाय ही है। यही बन्धरूप क्षेत्रको तैयार करता और मिथ्यादर्शन रूप जीवके सक्लेश परिणामरूप बीजको बोता है जिसके कभी कडुवे कभी मीठे फल भोग २ यह जीव मीठे फलोंके लोभमें तरसा करता है, परन्तु अमृतमई स्वरूप भोग्य फलोंको न पाकर वृथा परमें सुख कल्प आकुलित होता है और अतरात्माकी तरह नि कषाय भावसे रचित शान्त भावकी सुखप्रद अमृतियोंको नहीं पा अनुभवानन्दके रससे वंचित रह भव–भ्रमण करता है। धन्य है कषाय–विजयी वीर आत्मा जिनकी आत्मभूमिको कषायोंका वेग किसी भी तरह मलीन नहीं कर सक्ता, जो निरन्तर आत्मज्ञानका सुधारूप रस पान करते हैं वे ही भवकेक्षणिक सुखोंसे अतीत, अतीन्द्रिय, अविनाशी अनुभवानन्दको भोग तृप्त रहते हैं।

करता हुआ एक ऐसा शान्त जलका प्रवाह बहाता है कि, जिसकी अमलधारा कर्मवर्गणाओंके शिथिल और ध्वस्त समूहको आत्म प्रदेशोंकी बंध अवस्थासे एकाएक हटाती हुई, आत्माको हल्का करती हुई मोक्ष विमानमें निज निष्कंटक राज्य करनेके लिये योग्य बनाती जाती है। वीतराग विज्ञान पतिका स्पर्श अनुभूति नारीको ऐसा अनुपम बल प्रदान करता है कि, मोह राजाके चाकर चार कषाय सब योद्धाओंको आक्रमण और उनका भ्रमजाल इस अनुभूतिको अचेत नहीं करता तथा सचेत अवस्थामें रखकर मोहके जालोंसे बचनेका अपूर्व बल प्रगट करता है। ससारासक्त जीवोंका भ्रमण कषायमार्गणामें ऐसा प्रबल रहता है कि बाह्यमें कषाय-रहित वैरागी दीखनेपर भी अनंतानुबंधी किसी भी कषायकी उत्कटता–उस जीवका पीछा नहीं छोडती। द्रव्य लिंगी मुनि व्यवहार चारित्रको शास्त्रोक्त यथार्थ पालते हुए तथा यथार्थ मार्गका उपदेश दे हजारोंको सम्यक् मोक्ष–पथपर चलाते हुए भी कषाय वैरी द्वारा ऐसे दबाये जाते हैं कि श्रावक धर्मकी प्रथम सीढी सम्यक्त अवस्थाको न पा भवविपिनके श्रासोंको नहीं दूर कर सके। देवोंको तीव्र लोभ तथा नारकियोंको तीव्र क्रोध अन्य कषायोंकी अपेक्षा अधिक विह्वल रखते और पौद्गलिक वासनाओंसे परिणामोंको हटने नहीं देते। परन्तु जिन देव व नारकियोंके अतरगमें भेदज्ञानका दीपक जलता है, उनको कषायोंकी पवन अधकारमें नहीं कर सकी। वे स्वात्म–प्रकाशमें स्वरूप तन्मयतारूपी मोक्षमार्गको पा आनन्दकी झलकसे अलग नहीं होते। नारकी जीव लोभको

शुद्धात्मानुभवकी सहायता कुछ भी पाते नहीं। जिस अनुभवके लिये उनको गुणवान् सुखयान श्रुतज्ञान हीकी शरण लेनी पटती है। इन्द्री और विषयके सयोगके पीछे होनेवाले समयमें वस्तुका सत्तामात्र सामान्य निर्विकल्प अवलोकन दर्शन है। तत्पश्चात् देखे हुए पदार्थका वर्ण सस्थानादि विशेषका ग्रहण सो अवग्रह नामा मतिज्ञान है। उसीके विशेष रूपको जानते हुए निश्चयपर आना, और उसे कालान्तरमें न भुलाना सो सर्व मतिज्ञान है। ९ इन्द्रिय और मनके द्वारा पदार्थके विषयका ज्ञानमात्र होना मतिज्ञान है, परन्तु उस ज्ञानसे सुखरूप व दुखरूप होना अथवा स्वप्रयोजनको पहिचान, हेय उपादेय समझना सो सम्पूर्ण महिमा श्रुतज्ञान हीकी है। वृक्षादि एकेंद्री भी स्पर्श इन्द्रियद्वारा मात्र स्पर्श विषय मालूमकर अपने साथमें रहे हुए अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके कारण ही दुख-सुखका वेदन करते हैं। धन्य है। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, जिसके अपुनरुक्त अक्षर हैं द्विरूपवर्गधारा-१ अर्थात् (१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५) २० अक प्रमाण सख्याको लिये हैं। तथा इनके बने हुए आचारागादि द्वादशागमें समाये हुए पद (११२८३५८००५) दस अक प्रमाण है। एक पदमें (१६३४८३०७८८८) ११ अक प्रमाण अपुनरुक्त अक्षर हैं। अब शेष अग बाह्य (८०१०८१७५) ८ अक प्रमाण अक्षरोंमें सामायिक आदि १४ प्रकीर्णक होते हैं। इतने विस्तार किये जाने पर भी यद्यपि सम्पूर्ण श्रुतज्ञानके धारी श्रुतकेवली सर्व वस्तु-स्वरूपको जानते है, तथापि अगाध केवलज्ञानरूप समुद्रका श्रुत ज्ञान एक

ज्ञानमार्गणाकी महत्त्वता।

(४७)

स्वसंवेदनज्ञानद्वारा मनन योग्य, सदा शुद्ध निरंजन, परम पारिणामिक भावका स्वामी, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक, एक-स्वभाव, सहज समाधिलीन, निर्विकार पदधारी, निराकुल ध्यान-व्रतधारी, भवहारी सतनके सुखकारी, अत्यंत प्यारी मनोहारी छबियाँ अल्पहारी जिस समय अंतरात्माके उदासीन तन प्रदेशोंपर आयाँ हो जाती है तब ऐसा ही प्रतिभासता है, मानो आसमानी वस्त्रपर हीरे-रत्नके छोटे २ टुकडे जड दिये गये हों। चन्द्रकान्तमणिकी प्रभा सदृश प्रभावान् आत्मद्रव्य जब शशि सम उज्ज्वल परमात्मासे भेंट करता है तब उसके अंग २ से अमृतकी धारा बरसने लग जाती है जब श्रुतज्ञानकी पवनसे दीप्तिवान धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूपी अग्नि अनादि कालसे आत्मारामको अचेत करनेवाले कर्मोंको जलाती है तो एकाएक स्वप्रभा लोकालोकको देखनेवाली उदयमान हो जाती है। इस केवलज्ञानमई प्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञानमें विराजित आत्मा सकल परमात्मा हो, अपने विहारसे जगत्के निकट भव्योंको मार्ग दिखाता हुआ अटल स्वभावमें रहकर अनंतसुखको भोगता है। यद्यपि योगीराज निज तपकी शुद्ध भावनासे रहित, शुभ अनुरागकी उज्ज्वलतासे अवधिज्ञान प्राप्तकर रूपी पदार्थोंको देखते हैं और पिछले अगले भवोंके चरित्रोंको जान लेते हैं। अथवा मन पर्य्ययज्ञान उपलब्धकर अन्योंके मनमें वर्तनेवाले सूक्ष्म रूपी विषयोंका ज्ञान सरल व वक्र रूपसे कर लेते हैं, परन्तु इन दोनों ज्ञानोंसे अपने

प्रवेशरूप संयमका उत्साही हो ज्यों ही अपनी रक्षाके यत्नमें लग जाता है त्यों ही पंचेन्द्रिय विषयोंकी ओर मनकी विषयप्रवृत्ति रुक जाती है तथा षट्कायके जीव उस अंतरात्मासे अभयदानको पाने लग जाते हैं। असंयम भावमें स्थित हुआ जीव भी यद्यपि विषय निरोध और पर दयाकी प्रगटतासे वञ्चित होता है तथापि जब शुद्ध बुद्ध ज्ञायकाकार टंकोत्कीर्ण एक निजस्वरूपानन्दमें अनंतानुबन्धी कषायके दबनेसे स्वरूपाचरण चारित्रके द्वारा एक निमेष मात्रके लिये भी मग्न हो जाता है, तो स्वतः स्वभाव ही निश्चय संयमको पाकर आनन्दका अनुभव कर लेता है। अप्रत्याख्यानावरणी कषायोंके उपशम होनेसे इस अंतरात्माको ऐसी शक्ति होजाती है कि यह इन्द्रिय विषयोंके रोकनेमें और परजीवोंकी रक्षामें अपने परिणामोंको बढ़ाता हुआ देशसंयमको पाकर एक प्रतिमासे ग्यारह प्रतिमा तकमें आरोहण कर ऐसा शीघ्र २ शुद्धात्म गुफामें प्रवेश करनेका उत्साह और उद्यम करता है कि मानों इसको भव-थितिकारी परिणामोंसे ग्लानि ही पैदा हो गई है। यह श्रावकपद-धारी आवश्यकतानुसार कहीं २ अधिक व कम आरम्भ भी करता है व परिग्रह पोट भी धरता है, परन्तु यह सब कार्य उस अपराधी चोरके समान करता है जो मुक्त होनेकी इच्छा होनेपर दूसरोंके द्वारा कार्य्य बजानेके लिये प्रेरित किया जाता है। सञ्ज्वलन कषायकी स्थूल तथा मंद अवस्थाको पाकर जब यह अंतरात्मा सकलसंयममें प्रविष्ट होता है तो छठेसे नौमें गुणस्थान तक सामायक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि संयमोंके द्वारा ऐसा स्वरूप मगन होता है कि ध्यानावस्थासे विचलित

बिन्दु मात्र ही ज्ञान है। जिस ज्ञानमार्गणामें वस्तुकी अनेकान्तता प्रतिभासती है उस ज्ञानमार्गणाके धनी एक अकेले आत्माराममें अपूर्व ज्ञाता दृष्टापनेकी शक्ति है। धन्य है आत्मा जिसके एक २ शुद्ध निर्मल प्रदेशमें यह अपूर्व शक्ति व्यक्त भावको भज रही है। शुद्ध निश्चय नयसे ऐसा ही स्वभाव सम्पूर्ण विश्वके अनतानत आत्माओंका है। जो कोई अतरात्मा इस शुद्ध निश्चय नयकी एकत्त्व दृष्टिसे सर्व जीवोंके शुद्ध स्वभावकी एकताका अनुभव करते हैं वे एक ब्रह्ममई शात–समुद्रमें डूबकर, अद्वैत–रसकी शीतलता उपलब्ध करते हुए, परमानदमई सुधास्वरूप अनुभवानन्दका अनुपम स्वाद ले, परम तृप्तताके पात्र बन अजर अमर पदवीके भोगी होते हैं।

संयममार्गणामें स्वरूप विकाश।

(४८)

सुग–समुद्र–अवगाही, गुणसमूह–प्रवाही, निराकुल पद–व्यापी, चैतन्यता समुदाई, शिवराई चेतनराम जब निज अनुभवके विलासमें झुल्लायमान होता है तब परपदार्थोंके समूह अपनी सम्पूर्ण चंचलता और विकटताको लिये हुए आत्मारामकी वीतराग भूमिसे विदा हो जाते हैं और उनके जाते ही उस वीतरागमई पृथ्वीमें ऐसी स्वच्छता प्रतिभा समान होती है कि, उस आत्माके ज्ञानके सन्मुख स्वभावसे ही आए हुए पदार्थ अपनी यथार्थताको दिखलाते हुए माया और कपटके परदोंमें छिपे रहते हुए भी कभी भी चतुर चैतन्यको अचैतन्य नहीं कर सक्ते। ससारी अतरात्मा निज शुद्धात्म गुफा

जो स्वाभाविक धर्म है वह धर्मीसे भिन्न नहीं होता । अनत दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य्य आत्माराममें सदा ही विद्यमान हैं । न कभी आवर्णित होते और न कभी खुलते हैं । स्वपदकी शुद्धताको ग्रहण करनेवाली शुद्धनय मुमुक्षुओंको ऐसा ही उपदेश करती है । यद्यपि व्यवहारनय इसी आत्माको कर्मसम्बन्धजनित भावोंमे लिप्त व कभी अलिप्त कहती है, परन्तु जो स्वसमाधिमें लीन हो उपयोगरूप चुल्लुओंसे निज सुधामय सरोवरसे स्वामृतका पान करते हैं उनको नयोंका विकल्प आकुलित नहीं करता । अनत धर्मोंका धनी जो आत्माराम है उसका प्रत्येक समयमें उसके अनत गुणों करके सहित अनुभवका रस वेदना उसी प्रकारसे हुआ करता है, जिस तरह एक सहस्रजडी बूटियोंसे बनी गोलीका रस किसी औषधि सेवीको हो । जबतक अद्वैतताका परम स्वास्थ्य प्राप्त नहीं होता तबतक यह ध्याता ध्येयको ध्याता हुआ औषधि सेवीके रसानुभवके समान आचरण करता है । परम स्वास्थ्य लाभ करनेपर यह स्वय रस-सागर हो जाता है और अपनी अव्यक्त तरगोंमें आप ही रजित रहता हुआ कभी भी अपने सत्वको स्वभावसे प्रतिकूल नहीं करता । यद्यपि अनतदर्शन आत्माका स्वभाव है तथापि संसारी आत्माओंके चारित्रोंको देखते हुए, उनके इस स्वभावकी प्रगटता भिन्न २ रूपसे हो रही है । चौइन्द्री और पंचेन्द्री जीव तो चक्षुदर्शनावरणीकर्मके क्षयोपशमद्वारा चक्षुदर्शनसे अपने नेत्रोंसे रूपी पदार्थोंका सामान्य अवलोकन करते हुए भी उसका विशेष समाचार अपने मतिज्ञानके द्वारा ही जानते हैं । वस्तु सामान्य—विशे-

होना एक बड़ा कष्ट समझता है और अपने प्रशंसनीय संयम-भावसे शुक्लध्यानको ध्याता हुआ निश्चय स्वरूपके स्वादमें आनन्दित हुआ करता है। मात्र एक सज्वलन लोभ की झलक अन्तरात्माके निकट रह जाती है, तब यह सूक्ष्म सांपराय सयमको हासिलकर ध्यानकी दृढ़तासे मोहवीरको हनन-कर यथाख्यात सयमको प्राप्त कर लेता है और तब जो निजध्येय में द्वैततारहित आ स्थित हो जाता है तो फिर अनतानत कालके लिये भी निज स्वभावको छोड़ता नहीं है। त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य विकल्पोंसे अलग रह यह आत्मद्रव्य स्वात्माको ही निजा त्माके द्वारा निजानन्द अनुभवके लिये ध्याता हुआ निजसे निजकी प्रगटताको निजमें पाता हुआ ऐसा जगके प्रसारोंसे गुप्त हो जाता है कि फिर कभी भी नहीं लौटता है तथा निर्मल स्फटिकमई वीतरागमय शय्यापर लेटा हुआ ऐसा आत्मनिद्रित हो जाता है कि हरएक सम यहीमें विच्छेदरहित अनुभवानन्दको भोग सदाके लिये अतृप्त रहता है।

दर्शनमार्गणाका अवलोकन।

(४९)

परपद-उन्मुखता-धारी, निज सन्मुखताकारी, अविकारी, मनमथ मद-हरतारीकी शांतिमय प्रतिमा भव-तिमिरको नष्ट करती हुई निज गुण पर्यायोंमें ऐसी चमत्कारिता प्रदर्शित कर रही है कि जिसकी आभाके सामने कोटि सूर्य्य और चन्द्र लज्जायमान होते हैं। जिसक

जो स्वाभाविक धर्म है वह धर्मीमे भिन्न नहीं होता । अनत दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य्य आत्माराममें सदा ही विद्यमान हैं । न कभी आवर्णित होते और न कभी खुलते हैं। स्वपदकी शुद्धताको ग्रहण करनेवाली शुद्धनय मुमुक्षुओंको ऐसा ही उपदेश करती है । यद्यपि व्यवहारनय इसी आत्माको कर्मसम्बन्धजनित भावोंसे लिप्त व कभी अलिप्त कहती है, परन्तु जो स्वसमाधिमें लीन हो उपयोगका चुल्लुओंसे निज सुधामय सरोवरसे स्वामृतका पान करते हैं उनको नयोंका विकल्प आकुलित नहीं करता । अनत धर्मोंका धनी जो आत्माराम है उसका प्रत्येक समयमें उसके अनत गुणों करके सहित अनुभवका रस वेदना उसी प्रकारसे हुआ करता है, जिस तरह एक सहस्रजडी बूटियोंसे बनी गोलीका रस किसी औषधि सेवीको हो । जबतक अद्वैतताका परम स्वास्थ्य प्राप्त नहीं होता तबतक यह ध्याता ध्येयको ध्याता हुआ औषधि सेवीके रसानुभवके समान आचरण करता है । परम स्वास्थ्य लाभ करनेपर यह स्वय रस-सागर हो जाता है और अपनी अन्यक्त तरगोंमें आप ही रजित रहता हुआ कभी भी अपने सत्वको स्वभावसे प्रतिकूल नहीं करता । यद्यपि अनतदर्शन आत्माका स्वभाव है तथापि संसारी आत्माओंके चारित्रोंको देखते हुए, उनके इस स्वभावकी प्रगटता भिन्न २ रूपसे हो रही है । चौइन्द्री और पचेन्द्री जीव तो चक्षुदर्शनावरणीकर्मके क्षयोपशमद्वारा चक्षुदर्शनसे अपने नेत्रोंसे रूपी पदार्थोंका सामान्य अवलोकन करते हुए भी उसका विशेष समाचार अपने मतिज्ञान और फिर श्रुतज्ञानके द्वारा ही जानते हैं । वस्तु सामान्य–विशेष

पात्मक है। सामान्यरा अवलोकनरूप ग्रहण आत्माका दर्शन गुण करता है और विशेषका जानना ज्ञानगुणके आधीन है। खेद है, यह चक्षुदर्शन अरूपी आत्मारामके अवलोकनमें थकित रहता है। एकेन्द्रीसे पचेन्द्री असैनी तकके जीव अचक्षुदर्शनावरणा कर्मके क्षयोपशमके कारण अचक्षुदर्शनके द्वारा रूपी पदार्थोंका स्पर्श, रस घ्राण और श्रोत्रइन्द्रियोंसे अवलोकन कर लेते हैं, परन्तु अरूपी निजवस्तुके दर्शनमें अपनी गतिको नहीं पाते। जो पंचेन्द्री मन-सहित होते हैं—वे अरूपी पदार्थोंके दर्शनमें भी शक्तिमान् होते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन—मित्रकी सहाय विना अपने आत्मस्वरूपको देख नहीं सक्ते। जो जीव अवधिदर्शनकी लब्धिसहित होते हैं, वे दूरवर्ती परमाणुसे महास्कंध पर्यन्त रूपी पदार्थोंको ही ही देख सक्ते हैं, परन्तु उसके द्वारा अरूपी आत्माके दर्शन करनेमें शक्तिमान नहीं होते। धन्य है! केवलदर्शन, जो एक समयमें लोक अलोकको देखता है। यह केवलज्ञानी अरहतकी शक्तिकी अपूर्वता ही है जो केवलीके अनतगुण एक समयमें ही अपना कार्य्य करते हैं। जिस समय केवलदर्शन देखता और केवलज्ञान जानता है उसी समय केवली निजस्वरूपानन्दी वस्तुका स्वाद लेते रहते हैं। दर्शनमार्गणामें भेदोंकी कल्पनारूप आत्माओंका अवलोकन होता है, परन्तु दर्शनमार्गणारहित अवस्थामें इस मार्गणाका कहीं भी चिन्ह नहीं होता। शुद्धबुद्ध निराकुल पद—आरोही आत्मा अभेदरूप रह निज स्वसंवेदन सिंहासनपर तिष्ठा हुआ अपनी मनोहारी यथार्थताका अनुभव करता हुआ ऐसा स्वरूप मगन रहता है कि निज अनुभवानन्दके लाभको कभी भी त्यागता नहीं।

लेश्यामार्गणामें भवभ्रमण ।

(९०)

निष्कषाय, निरावरण, निर्लेप, निर्लेश्य, निर्द्वन्द्व, निराकार, सत सुखी, समाधि–तल्लीन, सर्व दोषहीन, अक्षीण, निजगुण–रत्नाकराधीन, समीचीन चैतन्य स्वरूपके अनुभवकी रागनी इस भव्य जीवके रोए रोएको प्रफुल्लित कर रही है और आत्माको सकप करती हुई समाधि भक्तिमें ऐसी अनुरागिणी कर रही है कि, यह आत्मा पुण्य कर्मोंको अतिशय रूपबध करता हुआ भी अबध, अकर्म, सिद्ध-स्वरूपकी उपलब्धिमें अत्यन्त विव्हल हो रहा है । यह स्वरूप खोजी ससारके सकल्प, विकल्प स्वरूप कटकमय वृक्षोंके वनोंसे भागकर आम्रफलोंसे पूरित सघन स्वगुण वृक्षोंकी आत्मसत्तारूप वाटिकाकी छायामें जाता है और एकान्तताकी अनुपम सुगन्धको लेता हुआ ऐसा मग्न हो जाता है कि सर्व ससारको भुलाकर एक अपूर्व ससारातीत वस्तुकी भावना करता हुआ परमानन्द रसका वेदन करता है । धन्य है। यह सतोषी आत्मा जो बडी कठिनतासे निज सुधा–समुद्रके तटपर आया है । इसकी आत्मपरिणति ऐसे मद कषायसे लिप्त है कि शुक्ललेश्याकी महिमाको प्रगट कर रही है । जो जीव बैरधारी, भडाक्रिया–स्वभावी, हिंसापरायण, दुष्ट, हठी, स्वतत्रमार्गी पर नाशमें हर्षित चित्त होते हैं वे कृष्णलेश्याके धारी होकर मात्र आम्रफलकी इच्छासे सम्पूर्ण आम वृक्षको जड मूलसे उखाडनेवालेके समान परिणाम धारकर तीव्र कर्मका बधकर तिर्यंच व कभी दुष्ट नर [illegible] हो जाते है ।

इनको आनन्द धाम, शिवराम, अभिरामकी खबर तक नहीं होती और यदि सम्यक्तके कारण किसी की श्रद्धामें कमी होती भी है तो वह निरतर अनुभवमें प्रवृत्ति नहीं कराती। जो जीव निर्बुद्धि, विषयलोलुपी, मानी, मायाचारी आलसी, निद्रालु, धन, धान्यके तीव्रानुरागी आम्रफलके लिये आम्रवृक्षके स्कन्धको तोडनेके उत्सुकके समान परिणामधारी होते हैं। ये जीव नीललेश्या स्वभावी होकर तिर्यच दुष्ट मनुष्य व भवनत्रिक देव हो वा पचम नरक तक जाकर दुःख ही को भोगते हैं, परन्तु स्वात्माधीन सुखके नित्य अनुभवसे छूटे रहते हैं। जो जीव रोष-धारी, परनिन्दक, पर दोष, आरोपक-शोकी, भयभीत, आत्मप्रशसी अश्रद्धालु, खुशामद-प्रिय, हानि वृद्धिअज्ञान, स्तुति किये जानेपर रणमें मरणको उद्यत तथा अपना सर्वस्व दे देनेवाले व निज कार्य्य अकार्य्यको न गिननेवाले होते हैं। ये जीव आम्रवृक्षके लिये आम्रफल युक्त बडी शाखाके तोडनेके अभिलाषीके समान परिणामकर कापोत-लेश्यासे कर्मबंद करते हुए भवनत्रिक देव, नर, तिर्यचसे ले तीसरे नरक तक जाकर दुःख ही का अनुभव करते हैं और जो कोई जीव काललब्धिकी निकटतासे सम्यक्तधारी असयत होते हैं, वे कुछ आत्मसुखकी श्रद्धासे साता भावका भी उपयोग कर लेते हैं। पुण्यके उदयसे जो जीव कार्य्य, अकार्य्य, सेव्य, असेव्यके ज्ञाता होते, सर्वको समदृष्टिसे देखते, दयादानमें रत और कोमल स्वभावी होते हैं, वे जीव आम्रफलके आम्रकी छोटी डाली तोडनेके उत्सुकके समान तेजोलेश्याके धारी हो पुण्य बाध चौथे स्वर्ग तक जाकर इन्द्र व ऋद्धिधारी देव होते व

मनुष्योंमें बलभद्र, चक्रवर्ती तक होते हैं । परन्तु जो सम्यग्दृष्टि होतेहैं—वे ही साक्षात् आत्मानदका रस वेदते हैं । जो जीव त्यागी, भद्रपरिणामी, सुकर्मकर्त्ता, क्षमाशील तथा साधु पुरुषोंकी भक्तिमें रत होते हैं, वे जीव आम्रफलोंको तोडकर खानेवालेके समान पद्मले-श्यावान् हो सुकृत बाध मर कर तीसरे स्वर्गसे १२ वें स्वर्ग पर्यंत पैदा होते हैं । सम्यक्त्वकी कृपा हुई तो सहजानंदकी मिठाई भी खाते हैं । जो जीव पक्षपात और निदानरहित स्नेह होते हुए भी राग द्वेषके त्यागी सर्व पर समभावी होते हैं, वे जीव जमीनपर पडे हुए आम्रोंको खानेके इच्छुकके समान शुक्ले-श्यावान् हो ११ वें स्वर्गसे सर्वार्थसिद्ध तकमें जाकर ९ ग्रीवकके ऊपर तो सदा ही निरन्तर स्वात्मानंदका स्वाद लेते हुए द्रव्योंकी चर्चामें रत रहते हैं । धन्य हैं वे जीव जो क्षपकश्रेणी चढ शुक्ले-श्याधार १४ वें गुणस्थानमें अलेश्य हो पर्य्याय त्याग लोकाग्र जा सिद्ध भावके अमड अतीन्द्रिय सुखको भोगते हुए लेश्यामार्गणासे सर्वथा सर्व कालके लिये भिन्न हो निर्मल फटिक पटमें भरित निज-सुधाका स्वाद ले परम अनुभवानदमें तृप्त रहते हैं ।

भव्याभव्य विकल्प न करना ।

(९१)

भरतवि—नौकाचारी, स्वप्रताप—निस्तारी अविकारी आज अत्यन्त प्रसन्न वदन हो शीघ्र ••• भवसमुद्रके दुस्तरूप खार

रता हुआ नगशिवद्वीपको चला जा रहा है । इसका भवसमु द्र इसीके घटरूप मध्यठोरमें विराजित है, सम्यक्‌रूपी नौकाके द्वारा यह भव्यात्मा पाप पुण्यरूप जलको हटाता हुआ भावोंकी विशुद्धतारूप शीघ्र गतिसे भवन्धि-तटके निकट चला जा रहा हैं। इसकी वीतराग स्वसंवेदमनन्य अनुभूति तिया इसके कंठमें मुक्तको क्षेपे हुए आनन्दरूप मद सुगम्‍ पवनकी गतियोंसे इसको उन्मत्तताकी दशामें देख तथा आप भी उन्मादी होती हुई एकाग्रताके भावमें सम्पूर्ण जगत्‌को विस्मरण करती न कराती हुई चिदानन्दका आल्हाद मना रही है । मध्य मध्यमें परम मिष्ट ध्वनिके साथ अनुभूति तिया "सोहं" का गान गाती है और चेतनाराम स्वरूप भावनाका हारमोनियम बजा तानमें तान मिला एक तान गतिकी महिमाको विस्तार कर रहे हैं । अनुभूति तियाकी सखियें उपशमता, संवेगता, वैराग्यता, आस्तिक्यता, भक्ति, वात्सल्यता, अनुकंपा, क्षमा आदि चेतनाराम और अनुभूतिकी रक्षामें भले प्रकार दत्तचित्त हैं, बारम्बार सेवा और वैय्यावृत्य करके अपनी हार्दिक प्रीति प्रगट कर रही हैं। धन्य हैं! वे जीव जो दु:ख सागरमें स्वधनको लूटनेवाले पचेन्द्रिय विषयरूपी चोरोंके बृहत् जन्मय-जहाजके आक्रमणसे अपने यानकी रक्षा करते हुए तीव्र कषायोंकी पवनोंसे उसे बचाते हुए परम हर्षमें स्वकार्य्यके सन्मुख हो रहे हैं । यही अत्यन्त निकट भव्य जीव हैं। इनके आत्माओंमें शुद्ध होनेकी योग्यता अनादिकालसे थी और वह योग्यता अब अपने कार्य्यकी प्रगटतामें उद्यमवंत हो रही है तथा शीघ्रही पंचम धामके आनन्दको प्राप्त करायेगी । यद्यपि अभ

न्य जीव राशि युक्तानन्तकी सख्यारूप ही है और शेष भव्यराशि है तथापि अनन्तानन्त भव्य जीवोंमेंसे निकट भव्यता पाना अत्यन्त दुर्लभ है। क्या शुद्ध सुवर्ण होनेकी योग्यता रखनेवाला सर्व ही सुवर्णका पाषाण सुवर्ण हो जाता है? कभी नहीं, उसी प्रकार आसन्न भव्योंका परिमाण लघु है। सर्वज्ञ वीतरागके वचन प्रमाणभूत हैं, क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ अन्यथावादी नहीं हो सक्ते है। इस आगम प्रमाणके द्वारा भव्यमार्गणाका स्वरूप जानकर जो इस बातके विकल्पमें नहीं पडते कि हम भव्य हैं या अभव्य, किन्तु पुरुषार्थकी डोर हाथमें ले धर्म अश्वपर आरूढ हो चले जाते है। वे ही वीर पुरुषार्थी हैं। वे यदि अभव्य भी हुए तो भी ग्रीवक तककी सैर कर आते हैं और जो भव्य हुए तो साक्षात् आत्माधीन आनन्दका विलास पाते हुए अनमें अनत सुखके धनी हो जाते हैं। बाहरमें मुनि सदृश व्रत पालते हुए यथार्थ परोपदेश करते हुए, मैं आत्मभावना करता हू यह भी ज्ञान रखते हुए, जो अन्तरगमें मिथ्यात्व कर्मकी प्रबलतासे विषय लालसाका रग नहीं छुडा सक्ते तथा अतीन्द्रिय सुखकी जातिको नहीं पहिचान सक्ते वे द्रव्यलिंगी मुनि अपने पुण्यके फलसे ही अपनी विषय खाज खुजाया करते है। परन्तु धन्य हैं! भावलिंगी भव्य साधु जो भव्यमार्गणा आदि विभाव विकल्पोंसे सर्वथा पृथक् रह निज रससुधा–समुद्रमें मग्न हो तीन–रत्नको निकाल अपने अनुभव मुकुटमें जडकर ऐसे शोभायमान होने हैं कि मानो मोक्षकन्याके वरनेके उत्सुक वर ही हैं। जो भव्य सुरस समाधिमें प्रवीण हैं वे ही सर्व क्षणभगुर सुखोंसे बाह्य अविनाशी अनुभवानन्दका स्वाद ले परम सतोषित रहते हैं।

सम्यक्त मार्गणाकी झलक।

९२

परम धरम–धारी, निजाराम–विहारी, अविकारी, शुद्धस्वरूप सचारी, भवहारी, गुणसमूह–आधारी, रमित शिवनारी, आत्मानन्द कारी भव्य आज धर्म ध्यान मेघ द्वारा वर्षित सुधा–सदृश जलका पान कर अनादि तृषाको मेट निज प्रियाकी भेंटको उद्यमवन्त हो रहा है। धन्य है! यह जीव जो मनसहित पर्याप्त जागृत सदूलेश्यावान् और ज्ञानी हो पापसे चित्त मोड़ जिनवाणीसे अनादिके अज्ञान बंधनको तोड अपने कर्मोंकी स्थितिको अंत कोडाकोडी सागर कर प्रायोग्य लब्धिद्वारा प्राप्त समय २ अनंत गुण विशुद्धता करनेवाली करण लब्धिकी महिमासे सम्यक्तको प्राप्तकर चुका है। इसको संसारमें अनादिसे रुलानेवाली मिथ्यात्व प्रकृति अपने चार सहकारी योद्धा अनंतानुबंधी कषायोंके साथ इसके पाससे दुबककर अलग बैठ गई है, परन्तु बैठे २ इसने अपने एक रूपके तीन रूप कर लिये हैं और दोके दो नाम भी रख लिये हैं जैसे मिश्रमोहनी और सम्यक्तमोहनी। यद्यपि मिथ्यात्व प्रकृति उपशम होगई है तथापि उसकी यह स्थिरता कमसे कम एक आवली और एक समय और अधिकसे अधिक एक समय कम ४८ मिनट ही रहती है। इस अंतरमुहूर्तके समाप्त होते होतेही मिथ्यात्वके तीनों रूप और सहकारी चारों योद्धा आ आ २ उस बिचारे आत्माके निर्मल परिणामको आक्रमण करनेकी चेष्टा करते हैं। यदि मिथ्यात्वका जोर लग गया तो वह

विचारा तुरत मिथ्यादृष्टी होता है। यदि चारों योद्धाओंमेंसे किसीका दाव पड गया तो सासादन अवस्थामें आ कमसे कम एक समय उत्कृष्ट छ आवलीके बीचमें गिरता पडता मिथ्यात्त्वकी भूमिमें चला जाता है। यदि मिश्रमोहनीका वश चल पडा तो वह उपशम सम्यक्ती दही गुडके समान मिले हुए सम्यक्त मिथ्यात्व श्रद्धानमें अन्तर्मुहूर्तके लिये आजाता है और यदि कुछ मदतम पापके उदयसे सम्यक्त-मोहनीने ही पकड लिया तो सम्यक्तसे सर्वथा न गिरकर निर्मलभावसे चलमल अगाढ रूप श्रद्धाभावमें आजाता है और तब अपना नाम क्षयोपशम सम्यक्ती कहलाता है तथा इस भावको अधिकमें अधिक ६६ सागर और जघन्य एक अंतमहूर्त तक नहीं छोडता है। शुद्ध निश्चय-नय करके इस आत्माका सम्यक्दर्शन गुण स्वाभाविक है। परन्तु व्यवहारनय करके यही दर्शन-गुण अनादि व सादि दर्शन-मोहनीके द्वारा सर्वथा आवर्णित रहनेसे मिथ्यात्त्वके नामसे कहलाता है। इसी तरह इसी एक दर्शनगुणके ही नाम सासादन, मिश्र, उपशम, और क्षयोपशम हो जाते हैं। और जब किसी क्षयोपशम सम्यक्तीको कर्म-भूमिके अन्दर पैदा होकर मनुष्यभवमें केवली व श्रुतकेवलीकी पर-मकार्यकारी सगति प्राप्ति होती है, तो वही दर्शन गुण मलीनता त्याग क्षायिक सम्यक्त कहलाता है। वास्तवमें यही गुण आत्माका व्यक्तरूप सम्यक्त गुण है। आश्चर्य है कि एक ही गुण पर द्रव्यके सम्बन्धके वशसे अपने छ नाम धरकर अपनी छ प्रकारकी अव-स्थाको बतलाता है। परन्तु धन्य है! इसका स्वाभाविक दर्शनगुण, जब यह क्षायिक सम्यक्तकी अवस्थामें निर्मल हो जाता है तो फिर

इस शिवतिया आशक्त जीवको अपनी प्राण-प्यारीके साक्षात् दर्शन करनेमें और उसके समागमका आनंद लेनेमें बहुत देर लगती नहीं। शिव-तिया सम्बन्धको मिलानेवाली स्वरूप स्वसम्वेदनरूप अद्भुत गुणको धारनेवाली अनुभूति सखी उसके ही साथ चिरकालके लिये हो जाती है और जघन्य-तया उसी ही भवसे अथवा तीसरे व चौथे भवसे उत्कृष्ट तेतीस सागर कुछ अधिकके भीतर ही उसे अटल धाममें पहुचा मगल्मई हर्षनाद बजा शिव तियाको प्रफुल्लित करा अनुपम अपतित अमिट सम्बन्ध करा विश्राम लेती है। चेतनराम शुद्ध कानर्नमें जा अपनी प्रियासहित ऐसे तन्मय होते है कि फिर अनन्तकालमें भी उसकी एकताको त्यागते नहीं और सम्यक्तमार्गणाके जालसे रहित हो अपनी शुद्ध श्रद्धासे उत्पन्न भवानन्दोंसे अतीत अनुभवानंदका स्वाद ले परम तृप्त हो जाते है और ससार सन्मुख भावोंकी परिपाटीसे छुट्टी पा लेते हैं।

सञ्ज्ञी असञ्ज्ञीकी कल्पना।

(९१)

परम-सुखकारी, समता आराम-विहारी, निज मुक्ति-तिय अटल भक्ति धारी, स्वसत्ता प्रेम सचारी चैतन्यनाथ अपने विमल स्फटिक मणिमय विशाल महलके ऊपर बैठा हुआ त्रिलोकमई आकाशकी छवि इस अनुपम वीतराग दृष्टिसे देख रहा है कि जो विचित्र पदार्थ ससारी इन्द्रिय-विषयाधीन व्यक्तियोंको कभी रागी, कभी द्वेषी, कभी मोही कभी शोकित, कभी आतुर, और कभी आकुलित बनाते हैं—वे ही पदार्थ

इस समदृष्टि धारीको अपनी एकाग्र दृष्टिसे हटा नहीं सक्ते। जो
स्वरूप परिणतिकी अटल सुदर्शन मेरुवत् अडिग श्रद्धामें लीन
उनको न चक्रवर्तीकी सपदा और न अनेक उपसर्ग और परी
की युगपत् आपदा कभी विकारी बनाती है। अनेक सेवकों
गाई हुई प्रशसा व अनेक द्वेषियों द्वारा की हुई निन्दा उनके
पर्वत समान उपयोगके ऊपरसे मेघधाराके समान बहकर चली
है। ये साधु महात्मा भव भव भ्रमणकारी कर्मचक्रके भीतर
प्रवेश होनेसे उन्मुख रहते हैं। इनके अतरगमें स्वरूप रस
धाराधर नित्य अमन्द अनुपम अमृतकी वर्षा किया करता है।
वर्षासे भवतापको हरते हुए ये भव्य जीव अपनी अंत करणकी
भूमिमें भेदज्ञान–बीज डाल आत्मध्यानरूपी अकुरको फुटा स्वा
धर्मरूपी वृक्षको बढाते हैं, जिसके उत्तम क्षमारूपी शाखाओंमें
मार्दवगुणरूपी पत्तोंको देख आर्जवगुणरूपी रगकी बहार ले शौच
रूपी निर्मलताईपर मोहित हो सत्यता पवनकी मद हिलोरोंसे
सयम–परिणतिरूपी वृक्षकी सुडोल सघनताई देख, तपरूप म
पुष्पोंसे निकली हुई त्यागरूपी सुगधकी वास ले, आकिंचन्य
भ्रमरोंकी मोहनेवाली तान सुन तथा ब्रह्मचर्यमई शीतल
बैठ मुमुक्षु जीव रोमाञ्चवदन होते और ऐसे वृक्षकी सगतिसे परम
कार्य्य समयसारके मिष्ट फलोंको पा उनका स्वाद ले अपनेको नि
निजयी जानते हैं। परन्तु खेद है कि, ऐसे सुखदाई वृक्षकी
हमारे भ्राता अनतानत मन रहित असंज्ञी जीव किसीभी तरह
चनेकी योग्यता नहीं रखते। न वे शिक्षा ले सकते, न विचार

क्रिया कर सक्ते, न उपदेश सुन समझ सक्ते, न वार्तालाप कर अभि-प्रायोंको बतला व जान सक्ते, न कार्य्य करनेके पहिले सुकार्य्य व अकार्य्यकी तर्कद्वारा पहिचानकर सके, न तत्व कुतत्त्वको मालूम कर सक्ते और न नामके द्वारा पुकारनेसे आसक्ने, बरनतो इन्द्रियावरण कर्मके आधीन रहकर इसी अज्ञान अवस्थामें पर्य्याय पूरी करते हैं। जो देव, नारकी, पशु तथा मनुष्य नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे इन सब कार्य्योंकी योग्यता रखते हुए मनसहित सज्ञी कहलाते हैं, उनमेंसे भी घनेरे मिथ्यात्वके वश पडे उस धर्म-वृक्षके निकट नहीं जाते। धन्य हैं! वे अत्यन्त निकटभव्य, जो अपनी मानसिक शक्तिका सच्चा उपयोग विचार परमधर्मरूपी वृक्षकी सेवा करते २ ऐसे बेहोश होजाते हैं कि सज्ञी होते हुए भी सज्ञी असंज्ञी विकल्पसे दूर रह सज्ञीमार्गणासे अतीत परमतत्त्वकी भावना कर भवविकारी सुखोंसे विलक्षण अनुभवानदका स्वाद ले परम उन्मत्तकी नाई निज स्वरूपके आगनमें ही नित्य नृत्य किया करते हैं।

आहारक मार्गणाका विकल्प।

(९४)

स्वरूप-खोजी, समरस-भोजी, निज निकटक राज्य सयोगी, सम्यग्दृष्टी आत्मा अपार समुद्रवत् ससारकी भयानकी मूर्तिसे अत्रासित होता हुआ, निजको परमात्मा शुद्ध बुद्ध अविनाशी मानता हुआ, त्रिलोक-पतिपनेके महत्त्वसे अपनेको अतिशय प्रभावशाली रखता हुआ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रके विकल्प

भावसे छूटा हुआ तीनोंके रससे प्रत्येक प्रदेशमें भीगा हुआ शुद्ध अनुभूतितियाके रमणमें उन्मत्त होता हुआ अपने आपमें सिद्ध-शिलका स्थान रखता हुआ वीतरागताकी मनोहर तरंगोंसे उछलता हुआ ऐसा हर्षायमान हो रहा है कि जिसके हर्षके प्रकाशके सम्मुख आकुलताका अधकार विलयको प्राप्त हो गया है तथा चिरकालसे अप्राप्त जो अमृतमई शुद्ध स्वर समय व्यमन उनका लाभ ले तथा उनका स्वाद ले ऐसा पुष्ट हो रहा है कि जिससे इसकी आत्मामें अनुपम वीर्य्यका प्रादुर्भाव होता जाता है और पर पुद्गलमई आवरण अस्तभावको प्राप्त होता जाता है। यद्यपि यह आत्मा स्वय ही शुद्ध और सिद्ध है तथापि अनादि पर सम्बन्ध जनित कर्मोंके मिलापसे अशुद्ध हो रहा है। इस अशुद्धताके निमित्तसे ही निरन्तर द्रव्यकर्म और नोकर्मकी वर्गणाए आत्माके निकट आती है और जीवके सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरोंमें प्रवेश कर जाती हैं। जबतक यह आत्मा योगरहित केवलज्ञानी अरहत नहीं होता तबतक कोई समय ऐसा शेष नहीं है, जिसमें यह आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंको न आकर्षित करे। इसी कारण द्रव्यकर्मकी अपेक्षाको न गिनकर ही इस जीवको कभी आहारक और कभी अनाहारक कह दिया करते हैं। औदारिक, वैक्रियक, आहारक तथा भाषा और मनोवर्गणाको आकर्षण करता है, इससे इस जीवको आहारक और जब इनको आकर्षण नहीं करता तब इसको अनाहारक कहते हैं। जो ससारी जीव स्थूल शरीरको तज अन्य स्थूल शरीरके लिये जाता है तब मध्यमें उसकी अव-

स्थाको विग्रहगति कहते हैं। इस अवस्थामें तथा मूल परमौदारिक शरीरमें रहते हुए भी तीन लोकमें अपने आत्माको व्याप्त करानेवाले समुद्घात दशाके धारी केवलीमें अथवा अयोगकेवलीमें तथा श्रीसिद्ध जीवोंमें नोकर्मोंका प्रवेश नहीं होता। इससे इन नोकर्म ग्रहणरहित आत्माओंको अनाहारक कहते हैं, परन्तु यह सर्व कथन व्यवहार नयाधीन है। शुद्ध निश्चयनय करके आहार मार्गणाके विकल्पोंसे रहित नोकर्म और द्रव्यकर्मसे तीनों कालमें भी स्पर्शको नहीं प्राप्त करता हुआ यह टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव स्वसमाधिकी मनोहर नौकामें बैठा हुआ भवसमुद्रकी मंजिलको तय करता हुआ चला जा रहा है। मार्गमें कषाय–शत्रुओंके आक्रमणसे अपने चैतन्य धनकी रक्षा करता हुआ कभी भी प्रमादकी निद्रामें अचेत नहीं होता है। पथका काल अत्यन्त विस्तारयुक्त होनेसे यह स्वरूपासक्त उपशम भावके शांत जलको तथा समताभावके मिष्ट स्वादिष्ट आहारको जो उसको उसी नौकामें प्राप्त होते है ग्रहण करता हुआ मुक्तद्वीपकी ओर दृष्टि लगाए हुए सोहंकी सुरीली तान गाता हुआ भवके क्षणिक सुखोंसे अतीत अनुभवानंदका उपभोग करता हुआ परम तृप्तताका लाभ कर रहा है।

पंच व्रतोंकी छटा।

(६६)

अवध, अकुल, अरूपी, अजर, अमर, अनूपी, अटूट आनन्द स्वरूपी आतमा आज अपनी अनोखी आभाके आगारमें आभास करता हुआ

शशिपूर्ण कलाको लज्जित कर रहा है। निष्कलंकताकी ध्वजा फहराता हुआ यह विशाल आत्ममंदिर शिखर स्वस्वरूप स्थित अगुरलघु गुणद्वारा षट्गुणी हानि वृद्धिसे ध्वजाकी हलन चलन करता हुआ अति आसन्न भव्य जीवोंको निज निकट आह्वान कर रहा है। जो जीव स्वरूप सन्मुख होकर उस शशिमुखपर अपनी दृष्टिकी टकटकी लगाते हैं—वे जीव तापको मिटा शांतताको पा शशिनिर्गत सुधा बिन्दुओंका पानकर स्वजन्म कृतार्थ करते हैं। जो जीव द्रव्यश्रुतके रसिक हों उसी रसके मदमें भरकर भावश्रुतको नहीं उपलब्ध करते हैं वे जीव वृथा ही वालू पेल तेलकी आशा करते है। जिस तत्त्वमें १४ गुणस्थान और १४ मार्गणा स्थानका प्रवेश नहीं हैं, जो तत्त्व सात नय और उपनयोंसे दूर है, जहां नामादि निक्षेपोंका व्यवहार नहीं हो सक्ता, उस तत्त्वकी हरी भरी शोभा ही मनको प्रसन्न करती और इस मनको एक क्षणके अन्दर अमन कर देती है। मनका अमन होना इन्द्रियोंको शून्य करता है और तब आत्माका उपयोगरूपी जल सर्व ओरसे सिमटकर आप थलमें आता है और अपनेमें स्वच्छ नदीकी धारा बनाता है। इस धारामें आप ही आप नहाता है, जलक्रीडा करता है, अनुभूति नारीके स्वच्छ तनपर स्वजलकी पिचकारिया छोडता है और चिरकाल तक रमता हुआ भी कभी थकता नहीं है। इसकी यह क्रीडा जगत्के भीतर लिप्त जीवोंको सुहाती नहीं है। वे इस क्रीडाकी बातको भी सुनकर अनसुनीसी कर देते है। धन्य हैं! जग-उदासी जीव जो अणुव्रत और महाव्रतोंके प्रपचमें न पडकर अपने स्वभावकी रक्षाके लिये निगुप्ति

गुप्तताका ऐसा एक मनोहर वृत्त बनाते हैं कि जिसके भीतर किसी विभाव भावका प्रवेश नहीं होने पाता। स्वभावका स्वभावमय रहना ही अहिंसा है, स्वभावका स्थिर हो विकारी न होना ही असत्य त्याग सत्यता है। स्वभावमें किसीपर चेतन्य और अचैतन्यके अनत गुण और पर्य्यायोंका एक अशमात्र भी लेकर न धरना ही चोरीत्याग अचौर्य्यता है, स्वभावमें स्वरूप सत्तारूपी तियाकी गाढ प्रातिके सिवाय अन्य किसी देवी, मनुष्यणी, तिर्यचनी, काष्ठा पाषाण चित्रकी स्त्रीरी अनुरक्तताका न होना ही और जाति अपेक्षा लोक-व्यापी निज ब्रह्ममें आचरण करना ही मैथुनत्याग ब्रह्मचर्य्य अवस्था है। तथा स्वभावमें निज सुधा-समूह धनके अतिरिक्त सर्व अंतरग बहिरंग परिग्रहका लेशमात्र भी ससर्ग न करना ही परिग्रह त्याग अपरिग्रहता है। एक निज स्वभावमें ही पांचों व्रतोंको पा यह सयमी व्यवहारक अभूतार्थ जाल्से पृथक् रह निजमें निज मगनता गह सदा भवसुखोंसे विलक्षण अनुभवानन्दका अनुपम रस पान किया करता है।

अनुभव सुख ही सार है।

(५६)

परमसुखदाई, सहज स्वरूप-फलदाई, स्वात्ममननकारी भव्य जीव परम स्वरूपाचरण चारित्रका लाभकर अपनेको भव-वनमें एक अकेला कोटि सूर्यसम प्रभावान् परम तेजस्वी अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीर्यका

धनी मोहतमनाशक स्वपरप्रकाशक अनुभव कर रहा है। आत्मपदार्थ यद्यपि अरूपी इन्द्रियोंसे अतीत है तथा मनके भी अगोचर है, परन्तु जैसे कोई आम्रफलका स्वरूप परके द्वारा जान आमके गुणोंका भले प्रकार निश्चय कर जब उस आमके रसका स्वाद लेता है अर्थात् जब अपने उपयोगको रसके साथ एकतारूप करता है तब उसकी विलक्षण मिष्टताका अनुभव करता हुआ उसके रसमें मोह होनेके कारण साता मानता है। वैसे ही यह तत्त्वज्ञानी प्रमाण नयोंके द्वारा आत्माके स्वरूपको यथार्थ जान निश्चय करता है और तब अपने अमूर्तीक आत्माके उपयोगको इन्द्रिय-ग्राम और मन-मर्कटसे पृथक्कर परमशुद्ध परम पारिणामिक भावके धनी कारण परमात्मामें जोड देता है। पुद्गल परमाणुओंके बंधमें जैसे दो गुण अधिक स्निग्धता व रूक्षता कारण है वैसे ही इन अमूर्तीक शुद्ध भावोंके परस्पर बंधमें स्वस्वरूप उज्वलता कारण है। इस अपूर्व सम्बन्धके होनेमें ही अनुभवकी कला नीडा कलाप करती है और जैसे चन्द्रकला और चन्द्रकान्ति मणिका संयोग जलरूप रसको उत्पन्न करता है वैसे ही जब स्वसमतासे रजायमान होता हुआ उपयोग साम्यता और शान्तताके पुञ्ज श्री कारण परमब्रह्ममें संयोग करता है तो अपूर्व अनुपम लौकिक सुधासे विलक्षण परम स्वादिष्ट अमृत-रसकी धारा बहने लगती है। यही परम अनुभव रस है। इसी रसके भोगनेवालेको अनुभवानन्दका विलास होता है। जो इस सुखमय धाराका शान्त जलपान करते हैं वे ही अजर अमर हो जाते हैं। उसी स्वरूपके एकाग्रतामें में शुद्ध निश्चयनयसे सिद्ध अचल परमात्मा अतीन्द्रिय

श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी द्वारा संकलित पुस्तकोंके मिलनेका पता:—

मूल्य

१. जिनेन्द्रमतदर्पण–प्रथम भाग (प्राचीनताबोधक)–सेठ माणिकचन्द पानाचन्द रत्नाकर पैलेस चौपाटी–बम्बई -)

२. ,, ,, द्वितीय भाग व तत्त्वमाला (तत्त्व व ध्यान)–बाबू ज्ञानचन्दजी जैन मास्टर ८७ रेवेट रोड–लखनऊ ।)

३. सामायिक पाठ श्रीअमितगति कृत साथे–जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग–बम्बई =)

४. जैन नियम पोथी (१७ नियमादि)–सेठ माणिकचन्द पानाचन्द रत्नाकर पैलेस चौपाटी–मुम्बई ।)॥

५. दीपमालिका विधान– -)

आत्मधर्म ।

सम्पादक—
जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजी ।



आत्म-धर्म ।

लेखक —

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ।

प्रकाशक —

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

चंदावाड़ी-सूरत ।

दूसरीबार] वीर सं० २४४९ [ई० सन् १९२३

मूल्य छह आने ।

प्रकाशक —
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
चंदावाड़ी, सूरत।

वसुधैव कुटुम्बकम्।

मुद्रक —
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रि० प्रेस खपाटिया चकला,
लक्ष्मीनारायणकी वाड़ी सूरत।

निवेदन ।

जो पुस्तक पाठकोंके हाथमें है उसका विषय यद्यपि भारतवर्षमें बहुलतासे प्रचारित हो रहा है और विदेशोंमें भी इस विषयके जाननेकी बहुत उत्कण्ठा है, परन्तु जिस रीतिसे और जिस उद्देश्यसे यह पुस्तक तैयार की गई है वह वास्तवमें अपूर्व है। पुस्तकका विषय उसके नामसे झलकता है और प्रत्येक अध्यात्मप्रेमीका हृदय उसके पढ़नेकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। पुस्तकके अन्तमें जो आत्मधर्म सम्मेलनके ११ नियम दिये हैं उन नियमोंको पढ़कर बिना किसी प्रेरणाके भारतके भिन्न २ स्थानोंके १२९ सभासद हो चुके हैं और लण्डनके श्रीयुत हर्बर्ट वारनने भी इन नियमोंको पसन्द करके सभासद होना स्वीकार किया है। हम अन्य पाठकोंसे भी कहेंगे कि इस पुस्तकको आदिसे अन्त तक एक बार पढ़ जाइये फिर सम्मेलनके उन नियमोंको देखिये तब आपको इनकी उपयोगिता मालूम होगी।

सम्मेलनका सभासद होना प्रत्येक अध्यात्मप्रेमीका तो कर्त्तव्य है ही, परन्तु जो अपनी आत्माके समान दूसरेके चींटी, कीड़ी, मकोड़ा, पशु, पक्षी मनुष्यके आत्माको समझते हैं, जिनके हृदयमें वसुधैव कुटुम्बकम्के महामंत्रका नाद हो रहा है और जिन्होंने परोपकारको ही अपने जीवनका उद्देश्य बना लिया है उन्हें भी अवश्य इस सम्मेलनका सभासद बनकर आत्मधर्मकी

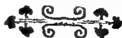
आवाज भारतमें ही नहीं, किंतु देश देशांतरोंमें घोषित करना चाहिये।

इस उपयोगी पुस्तकका प्रचार करनेके लिये प्रथमावृत्ति चार वर्ष हुए निकाली गई थी व अंबाला निवासी ला॰ रामन्ना लजीकी स्वर्गीय धर्मपत्नीके स्मरणमें 'जैनमित्र' के उपहारमें व आत्मधर्म सम्मेलनके सभासदोंको भेंट बांटी गई थी तथा इती गिनी प्रति बची थीं वे बिक जानेसे दो वर्षसे यह पुस्तक नहीं मिलती थी इससे दूसरा आवृत्ति प्रकट करनेकी बडी आवश्यकता थी, परन्तु ऐसी पुस्तकका प्रचार सुलभ रीतिसे हो इसलिये कुछ सहायता मिलनेपर फिर प्रकट करनेका हमारा इरादा था वह हमारे पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके उपदेशसे पूर्ण हो गया अर्थात् इसकी सहायतामें २००) मिल गये हैं इससे ॥।)के स्थानमें सिर्फ ।≈) कीमत रखी गई है। आशा है कि इस पुस्तकका बाहुल्यतासे प्रचार होगा।

आत्मधर्म सम्मेलनके नये सभासदोंको तो यह पुस्तक विना मूल्य भेजी जायगी।

चंदावाडी-सूरत ।
वीर सं०२४४९
दि० ज्येष्ठ वदी १४

समाज सेवक-
मूलचंद किसनदास कापडिया।



भूमिका ।

प्रारम १० ४-१८ । चैत्र वदी १४ वीर सं. २४४४ वि सं. १९७४

मनुष्यका जीवन किस तरह सुखरूप बीते यह चिन्ता हरएक मनुष्यको रहा करती है। और सुखमई भावको पानेके लिये उससे जो कुछ बनता है वह उद्योग किया करता है। परन्तु ऐसा कौनसा उपाय है जिससे विना किसी शंकाके उस हरएक उपाय करनेवालेको उस तरह जीवन वितानेका अवसर मिल जाय जिससे वह सुखमई हो इसीको अपने अनुभवसे जहां तक मनन किया गया है और पक्का समझा गया है बताना लेखकका इस पुस्तकमें मुख्य प्रयोजन है।

जो नरनारी सत्य मार्गके खोजी हैं और अपनी भलाईका रास्ता जल्दी और सहजमें मालूम करना चाहते हैं उन्हींके लिये इस पुस्तकके लिखनेका उद्यम है। जो पक्षपातका परदा दूर कर सरल मनसे इस पुस्तकके एक २ वचन पर मनन करेंगे और जो कुछ कहा जाय उसका स्वय अनुभव करेंगे तो उनको बहुत शीघ्र सच्चे मार्गका पता लग जायगा! और यदि वे आचरणमें लावेंगे उनको उसका फल उसी समय मालूम होने लग जायगा।

भिन्न २ शास्त्रकार क्या कहते हैं इस बातको मुख्यतासे ध्यानमें न लेकर तथा वादविवाद व झगड़ेको छोड़ कर जो बातें इस लेखकके विचार और अनुभवमें जन समुदायके हितकारी और उपयोगी मालूम हुई हैं उन्हींका इस पुस्तकमें कथन

है। इसके कहनेका मतलब सिवाय इसके और कुछ नहीं है कि हरएक मनुष्य अपने आप इन बातोंको विचार सके और उन पर आप स्वतन्त्रतासे आचरण करने लगें। क्योंकि यह बात निश्चित है कि मनुष्यका जीवन एक शरीरमें चिरकाल तक रहनेका नहीं है। मरणकी सेजपर सबकी देहोंको गिर पड़ना है। तब मनुष्यके पास जो समय है यह बहुत कीमती है। उसको केवल बातें बनानेमें, शरारतील रहनेमें व किसी पक्षको पकड़कर झगड़ा करने व मान बढ़ानेमें खर्च करना बुद्धिमान मानवका कार्य नहीं है। चतुर मनुष्य हरएक क्षणको मूल्यवान समझकर उसमें कुछ किया करना ही उपयोगी व समयकी सफलता करना समझता है।

आचरणसे ही उन्नति और अवनति होती है। अवनतिसे बचकर उन्नति करना जब हरएक मानवके लिये जरूरी है तब ऐसे आचरणमें लीन होनेसे जरा भी नहीं हटना किंतु उसके लिये तय्यार रहना प्रत्येक मानवका फर्ज है कि जिस आचरणसे अपनी उन्नति हो।

एक यह भी अभिप्राय इस पुस्तकके लिखनेका है कि आजकल बहुतसे लोग भारत व विदेशोंमें अनेक धर्मोंको देखकर ऐसी खोजमें लगे हैं कि क्या कोई भी एक ऐसा धर्म हो सकता है जो सबके लिये मान्य हो सके। यह लेखक धर्म उसीको मानता है जिस पर चलनेसे अपनी उन्नति हो। वास्तवमें अपनी उन्नतिका साधन धर्म ही है।

इस पुस्तकमें उन्नतिका साधन वही बताया जायगा जो अपने अनुभवमें आया है इसलिये बहुत सम्भव है कि यह उपाय जो इस पुस्तकमें बताया जायगा वही वह धर्म हो सके जो सर्वको मान्य हो तथा लेखकको यह भी भरोसा है कि जो उपाय इस पुस्तकमें बताया जायगा वह एक ऐसा मार्ग मालूम पड़ेगा कि जिसकी शिक्षा सर्व देशके शिक्षालयोंमें जारी करनेमें किसीको कोई संकोच न होगा तथा हरएक छात्र इस मार्गको जानकर बहुत लाभ उठाएगा।

सच्चा स्वरूप जानना मानवका धर्म है इस लिये हरएक मानवको इस पुस्तक पर विचार करना चाहिये तथा कहीं शंका हो तो प्रश्नोत्तर द्वारा निर्णय करना चाहिये।

चंदावाड़ी सूरत, (गुजरात)
चैत्र सुदी ९ वीर सं०
२४४४ वि० सं० १९७५
ता० १९-४-१८

शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी।



२००) की सहायता।



इस पुस्तकके प्रकट करनेमें निम्नलिखित महानुभावोंने २००) की अनुकरणीय सहायता दी है। इसलिये वे धन्यवादके पात्र हैं.—

१००) लखनऊनिवासी लाला सुंदरला
जी जैन गोटेवालेकी सास
श्रीमती रूपमाकी ओरसे।

१००) बड़वाह (इंदौर) निवासी श्रीमती
केसरबाई (सेठ घनश्यामदा
दयाचंदजी) की ओरसे।

२००) कुल।



आत्म-धर्म।

पहला अध्याय।

हरएक जीव सुख और शान्ति चाहता है, यह सर्वथा सत्य है।

किसी भी मनुष्यको लिया जाय अथवा और किसी दूसरेको
ोड़कर अपने आपको ही ध्यानमें लेकर विचारा जाय तो पता
ग जायगा कि दुःख और क्लेशोंसे हमारा मन दूर रहना चाहता
जब कि सुख और निराकुलतामें रहना पसन्द करता है। *
ीतरमें यही भावना रहती है कि हमें कोई शारीरिक व्याधि
मानसिक आधि न हो, शरीरमें कोई रोग, थकावट, आलस्य,
िर्बलपना न हो, किन्तु शरीर सदा निरोगी, उद्योगी, सबल
ोर उत्साही बना रहे तथा मनमें कोई चिंता, फिक्र, शोक, ताप
था घबड़ाहट न हो किन्तु मन सदा चिंतारहित, प्रफुल्लित,
विचारवान तथा साहसी बना रहे। यह भी हम चाहते हैं कि
ारे भीतर क्रोधादि विकार पैदा न हों जिनके उपजनेसे मन
क्लेशित होता, बुद्धि बिगड़ जाती, शरीरमें भी निर्बलता आती

---

* दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ २ ॥
(आत्मानुशासन, गुणभद्रकृत)

भावार्थ—यह प्राणी निरन्तर दुःखसे डरता है और सुखको चाहै

तथा महान भारी दुःखका अनुभव होता है किंतु हमारे भीतर शांति रहे, समता रहे, सुविचार रहे, तथा कोई भी ऐसा कारण न पैदा हो जिससे शांति छूटकर अशांति हो जावे । +

यदि विचार करके देखा जायगा तो किसीको भी इस बातसे इनकार नहीं हो सकता कि वह सुख और शांतिको चाहता है ।

यही बात जब एक राजाको चाहिये तब एक दरिद्रीको भी आवश्यक है । यही बात जब एक विद्वानको चाहिये तब एक मूर्ख भी इसीकी चाह करता है । यही बात जब एक तपस्वीके आवश्यक होती है तब एक बहु कुटुम्बी गृहस्थ भी इसीकी इच्छा करता है । यही बात जब एक निरोगीको पसन्द है तब एक रोगी भी इसीकी प्राप्तिकी भावना करता है ।

चाहे कोई मानव भारतका हो, चाहे चीन, जापान, रूस जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, आफ्रिका, आस्ट्रेलिया या अमेरिकाका हो

+ कोपः करोति पितृमातृसुहृज्जनाना-मप्रीतिमुग्रमुपकारिजनापकारम् ।
देहक्षयं प्रकृतकार्यविनाशनं च । मत्वेति कोपवशिनो न भवन्ति भव्याः ॥३
वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति । रूपं विरूपयति निन्द्यमतिं तनोति ।
दौर्भाग्यमानयति शातयते च कीर्तिं । रोषोऽत्र रोषसदृशो न हि शत्रुरस्ति ॥४

(सुभाषितरत्नसंदोह क्रोधाधिकार, अमितिगतिकृत

भावार्थ—क्रोध पिता माता, मित्रादिकोंका दुःख, उपकारी जनोंका अपकार, देहका क्षय व सोचे हुए कार्यका नाश करता है, क्रोध वैर बढ़ाता है, मित्रताको मिटाता है रूपको नष्ट करता है बुद्धि निंदनीय करता है दुर्भाग्य बढ़ाता है तथा यशका लोप करता है इससे क्रोधके समान कोई और वैरी नहीं है । भव्य उत्तम पुरुष इस क्रोधके वश नहीं होते ।

चाहे कोई मानव सुन्दर हो या असुन्दर, चाहे वह काले रंगका हो या पीत व गोरा हो, चाहे वह ऊंच हो व नीच तथा चाहे वह हिन्दू धर्मी हो, चाहे मुसल्मान, यहूदी, जैन, ईसाई या बौद्ध तथा नास्तिक हो, प्रत्येक मानवके भीतर यही भावना निवास करती है कि मुझे सुख और शांति हो।

मानव जातिसे हटकर यदि हम पशु, पक्षी आदिकी जाति-की तरफ दृष्टि डालेंगे तो हमें विदित होगा कि उनको भी सुख और शांतिकी चाहना है। कोई भी पशु भूखा प्यासा रहना व सरदी गरमी सहना व मारा पीटा जाना व कठोर तिरस्कारके वचन सुनना व रोगी होना नहीं चाहता और न मनमें शोक, दुःख, आकुलता तथा पीड़ाके होनेपर अपनेको सुखी अनुभव करता है। भय व चिंता उनके मनको भी बुरी मालूम होती है। वे भी निर्भय, चिंता रहित तथा शांतरूप रहते हुए अपनेको भयभीत, चिंतातुर तथा अशांत रहनेकी अपेक्षा ठीक मानते हैं। भले ही पशु, पक्षी मनुष्योंके समान बात करनेकी शक्ति न रख नेके कारण उनके मनमें जो दुःख होता है उसको कहनेको असमर्थ हों, पर यह बात निश्चित है कि जैसे सुख और शांतिके चाहनेवाले मनुष्य हैं ऐसे पशु पक्षी भी हैं।

जो इतने छोटे जंतु हैं कि जिनका दृष्टिमें आना कठिन है वे भी जब कम आसित होते हैं तब सुख मानते हैं। देखा जाता है कि जो किसी छोटे जंतुको अपनी अंगुलीके स्पर्श करानेसे दुःखी करनेका प्रयत्न करो तो वह जंतु घबड़ाकर इधर उधर भागता है। उस समय वह भयसे इतना व्याकुल हो जाता है

कि उसे कुछ सूझता नहीं, पर इसी भयके मिटने पर उसकी यह आकुलता मिटनेसे वह पहलेकी अपेक्षा सुखी हो जाता है। यदि विचार किया जायगा तो पता चलेगा कि जितनी २ कषायकी तीव्रता इस जतुमें होती है यह दुःखी होता है और जितनी २ यह तीव्रता घटती है यह सुखी होता है। सुख और शांति इस अति क्षुद्र आत्माको भी प्यारी लगती है।

इसके आगे यदि हम वृक्ष जातिकी तरफ दृष्टि डालें तो देखनेमें आएगा कि उनमें भी यही हाल है। समाचार पत्रमें एक दफे यह बात देखनेमें आई थी कि एक वृक्ष जब कि वह सोया हुआ था किसीके द्वारा छेड़ा गया तो वह इतना क्रोधमें आगया कि वह बहुत देर तक हिलता रहा, उसके पत्ते चौड़े होगए। यह दृष्टान्त इसी बातको बतलाता है कि क्रोध कषायसे वह महा दुःखी होगया और उसके मिटने पर उसका दुःख शांत हुआ, क्योंकि वृक्षोंमें भी आत्मा है इससे उनमें भी मालूम करनेकी शक्ति है जैसे पशुओं और मनुष्योंमें है इससे जैसे सुख और शांति पशु, पक्षी और मनुष्योंको चाहिये ऐसे ही वृक्षोंको भी जरूरत है। यद्यपि जिनके मन नहीं होता वे कोई बुद्धिपूर्वक तर्क वितर्कके साथ विकल्प नहीं ... शांतिकी अवस्था उनके लिये भी ... आप विचार करेंगे आ... दमें नहीं है जो ... आती ... सुख

परन्तु हरएक पाठकको यह बात अपने आप अपनेमें विचारना चाहिये। जिस बातको हम स्वय विचार करके अपनेमें निर्णय करेंगे वह हमारे लाभके लिये कार्यकारी होगी।

जब हम चिंताओंके फदमें फसते हैं और क्रोधादि कषायोंके झकोरोंमें झूलते हैं तब हम अपनेको दुखी और अशात अनुभव करते हैं, पर जब चिंताए हटतीं और कषाय शात होती तब हम अपनेको सुखी और शात अनुभव करते हैं। हमारा मन वचन काय कषायोंके झगड़ोंसे बिगड जाता है। हम इन्हींके कारण परम दुखी और अशात हो जाते हैं। पर जब कषायोंका जोर नहीं होता तथा हमारा मन, वचन, काय पराधीनतासे बचकर कुछ स्वाधीन रहता है तब हम स्वय पहलेकी अपेक्षा अपनेको सुखी और शात मानते हैं। * अतएव हम सिद्धातमें किसी प्रकारकी शका नहीं रह जाती है कि दुख और अशाति सर्व प्राणियोंको अप्रिय जब कि सुख और शाति सबको प्रिय है।

---

* शुभाशुभमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः ।
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिं ॥
प्राप्यानन्तचतुष्टयात्मकतया सार्द्धं स्थितां सर्वदा ।
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः ॥ ६९ ॥
(नियमसार स० टीका, तात्पर्यवृत्ति पद्मप्रभमलधारी)

भावार्थ-शुभ अशुभ मन वचन कायादिके मोहको त्यागकर तथा आत्मामें तत्पर होकर, शुद्ध अशुद्ध नयकी कल्पनासे भिन्न पाप रहित, अनत दर्शन, ज्ञान सुख, वीर्यमय चतुष्टयके साथ जीवन्मुक्ति अवस्थाको वही योगी प्राप्त होता है जो पाप-वनके जलानेको अग्नि समान है।

कल्पना की कि मुझे बढ़िया रेशमी कपड़ा पहननेको प्राप्त हो तो सुख होगा, दूसरेने कल्पना की कि मोटा गढ़ेका कपड़ा ही मुझे मिले तो सुख होगा, यदि कदाचित् बाजारमें मोटा गाढ़ा ही मिला, रेशमी बढ़िया कपड़ा न मिला तो एकको दुःख तब दूसरेको सुख मालूम पड़ेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे मुलायम मखमलका बना गद्दा प्राप्त हो तब ही मुझे सुख होगा, दूसरेने कल्पना की कि एक चटाईका बिछौना होने ही से सुख हो जायगा। यदि कदाचित् चटाई ही प्राप्त हुई मखमली गद्दा न मिला तो एकको दुःख तब दूसरेको सुख प्रतिभासेगा। एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे स्वरूपवान् अमुक स्त्रीका संयोग हो तो सुख होगा, दूसरेने कल्पना की कि मुझे कैसी भी स्त्रीका सम्बन्ध हो। यदि कदाचित् स्वरूपवान स्त्री प्राप्त न हुई, किन्तु कुरूपवान् स्त्रियां दोनोंको मिलीं तो एक वह जो स्वरूपवान स्त्रीको चाहता था दुःख मानेगा जब कि दूसरा सुखकी कल्पना कर लेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे आम बहुत ही मिष्ट बनारसके लगड़े आम प्राप्त होंगे तो मुझे सुख होगा, दूसरेने यह मनमें विचारा कि आम मुझे बम्बईके आम मिलें तो सुख होगा। यदि कदाचित् दोनों ही प्रकारके आम न मिले तो दोनों ही दुःख मानेंगे तथा यदि बम्बईके आम मिले और लगड़े आम न मिले तो लगड़े आम चाहनेवालेको दुःख जब कि दूसरेको सुख प्रतिभासेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि मुझे आम बहुत ही

सुगन्धित गुलाबके पुष्प सूंघनेको प्राप्त हों तो मुझे सुख होगा, दूसरेने कल्पना की कि मुझे चमेलीके पुष्प सूंघनेको होने चाहिये। यदि दोनों ही प्रकारके पुष्प न मिले तो दोनों ही दुःख करेंगे और यदि गुलाबके ही फूल मिले चमेलीके नहीं तो गुलाबको चाहनेवाला जब सुख करेगा तब दूसरा दुःख अनुभव करेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि आज मैं नाटकका तमाशा देखूंगा तो मुझे सुख प्राप्त होगा, दूसरेने यह भावना की कि अमुक वेश्याका नृत्य देखनेमें आवे तो सुख होगा। यदि दोनोंको दोनों वस्तुओंका संयोग न हुआ तो दोनों ही अपनी इच्छाकी अपूर्तिमें दुःख मानेंगे। यदि कदाचित् नाटक देखनेके इच्छुकको नाटकका सम्बन्ध मिल गया, दूसरेको वेश्यानृत्यका समागम न हुआ तो पहलेवाला सुख तब दूसरा दुःख मान लेगा।

एक मानवने यह कल्पना की कि आज मुझे अमुक व्यक्तिके मनोहर शब्दोंका गाना सुननेको मिले तो मुझे सुख होगा, दूसरेने यह इच्छा की कि तबला, हारमोनियम आदि बाजोंके शब्दोंके साथ २ मनोहर गाना सुन पड़े तो सुख होगा। यदि कदाचित् दोनोंकी ही इच्छा पूर्ण न हुई तो दोनों ही दुःख मानेंगे तथा यदि पहलेकी इच्छा पूर्ण हो गई और दूसरेकी न हुई तो पहला अपनेको सुखी जब कि दूसरा अपनेको दुःखी कल्पना करेगा।

इस तरह जो पांच इन्द्रियोंकी इच्छाएं मानवोंमें उठा करती हैं उनकी यदि पूर्ति हो जाय तो ये मानव सुख मानते और जो पूर्ति न हो तो अपनेको दुःखी कल्पना कर लेते हैं। और ये इच्छाएं नाना जातिकी अपनी कल्पना या देखादेखीसे उठती

और बढ़ती जाती हैं। आज हमने देखा कि अमुक मनुष्य सुवर्णकी घड़ी लगाए हुए है बस हमारे भीतर भी सुवर्णकी घड़ीकी इच्छा जग उठती है। आज हमने किसीको अनेक मिठाइयोंको खाते देखा बस हमें भी मिठाई खानेकी इच्छा उठ आती है। इस तरह बहुतसी नई इच्छाएं देखादेखी उठ पड़ती हैं। इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेकी इच्छाओंके सिवाय हमारे मनमें और बहुतसी कल्पनाएं क्रोध, मान, माया व लोभ कषायके वश हो उठती हैं जिनकी अपूर्तिमें हम दुःख तथा जिनकी पूर्तिमें हम सुख कल्पना कर लेते हैं।

यदि किसीने द्वेषबुद्धिवश किसीको अपना शत्रु समझा है बस उसका मन यही कल्पना करता है कि इसकी हानि हो व इसका नाश हो तो मुझे सुख होगा। यदि कदाचित् उसका कुछ बिगाड़ न होकर उसकी बढ़ती हुई तो यह जानकर अति दुःखी होता है। यदि शत्रुका कुछ बुरा हुआ तो यह जानकर बहुत सुखी होता है। यदि किसीने मान कषायवश यह कल्पना की कि मेरा सन्मान हो तथा मेरे सामने दूसरोंकी हीनता रहे उच्चता न प्रगटे इसीसे ही मुझे सुख होगा तब यदि उसका अपमान हो जाय व उसकी अपेक्षा दूसरोंकी उच्चता हो जाय तो यह महादुःखी होता है और यदि सन्मान हो झलके तो अपनेको सुखी मानता है

यदि किसीने मायाचार

इसको बातोंमें वश करके

र फिर इसको न दू ऐसा करूं तो मुझे सुख होगा। यदि यह मने इस विचारमें सफल हो गया तो वह अपनेको सुखी और दि सफल न हुआ व उसका मायाचार दूसरोंको झलक गया तो ह अपनेको दु खी कल्पना कर लेगा।

यदि किसीने लोभकी तीव्रतासे यह वाछा की कि राज्य मेरे आधीन हो जाय व अमुक लक्ष धन प्राप्त हो जाय तो मुझे सुख होगा। बस इस कल्पनाकी पूर्ति पर सुख व अपूर्ति पर दु ख कल्पना करेगा। इस तरह मनके भीतर कषायकी कालिमासे उठ-व ले अनेक विकल्प सुख प्राप्तिकी गरजसे उठने हैं। यह मोही जीव उन विकल्पोंके अनुसार कार्य होनेमें सुख व न होनेमें दु ख मान बैठता है। कल्पनाओंकी नींव पर जिन २ को सुखकी भावना होती है उन्हें प्राय बहुत अधिक दु खोंका अनुभव करना पड़ता है। याद रहे कि यह दु खका अनुभव भी काल्पनिक ही है-माना हुआ ही है।

इसका कारण यह है कि कल्पना करनेवालेके सुखका आधार उन पर-पदार्थोंके ऊपर है जिनको यह अपनी कल्पनाके अनुसार होना, कायम रखना तथा नाश चाहता है। किंतु पर पदार्थोंका परिणमन इसके आधीन नहीं। उनका रहना, वर्तना, कायम रहना व बिगड़ना उनहीके आधीन है। जैसे किसीने किसी स्त्रीके सम्बन्धमें सुख करपा है। यह बात इसके आधीन नहीं कि वह स्त्री सदा तन्दुरुस्त रहे, कभी बीमार न हो व वह इसके जीवन तक जीती रहे, सम्भव है कि वह जल्दी मर जावे तब इसके दु खका अनुभव कितना होगा सो उसीके मनसे पूछना चाहिये।

इसी तरह यदि किसीने पुत्रोंके ऊपर अपना सुख कल्पा है, यदि वे दुराचारी हों व मर जाए तो इस व्यक्तिको बहुत अधिक दुःख होगा। यदि किसीने एक लक्ष धनके स्वामित्व रहनेमें सुख करा है, यदि कदाचित् धन नष्ट हो जाय तो उसके दुःखका पार न रहेगा। यदि किसीने अपने इस शरीरके साथ सदा स्थित रहनेमें व इसके सदा बलिष्ट रहनेमें सुख माना है, यदि कदाचित् यह शरीर अस्वस्थ हो जाय या नष्ट होता हो तो इस प्राणीको महान दुःख होगा। इसी तरह दूसरोंके रहने, न रहनेके आधार पर जो मोही लोगोंका माना हुआ सुख और दुःख है सो सर्व काल्पनिक व मिथ्या है।

इस काल्पनिक सुखसे इस प्राणीको कभी तृप्ति नहीं होती+ यदि हमारी एक कल्पना पूरी हो जाती तब हममें दूसरी तृष्णा रूपी कल्पना पैदा हो जाती है इस तरह मरण होनेके समय तक तृष्णाकी कल्पनाए तो बढ़ती हैं परन्तु पदार्थोंको इन्द्रियोंके द्वारा भोगनेकी शक्ति शरीर व उसकी इन्द्रियोंमें कम होती जाती है जिसका अंतिम फल यह होता है कि निराशताको साथमें लिये हुए प्राणी मर जाते हैं।

+ जीवस्स णत्थि तित्ती चिरंपि भोएहिं भुज्जमाणेहिं ।
तित्ताय विणा चित्त-उव्वुर उव्वुदं होई ॥ १२६४ ॥
जह इंधणेहिं अग्गी-जह य समुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवा ण हु सक्का । तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥ १२६५ ॥
भोगरदीए णासो । णियदो विग्घाय होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए ण णासो ण विग्घो वा ॥ १२७१ ॥
(भगवती आराधना, शिवकोटिकृत ।)

काल्पनिक सुख जब मिथ्या है तब सच्चा सुख क्या है ? * ऐसा प्रश्न होनेपर यह कहना होगा कि सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है तथा शांति भी आत्मामें स्वभावसे ही मौजूद है। क्योंकि हम अनुभव करते हैं कि जब हमको क्रोधकी तीव्रता होती है तब मन क्लेशित होता है, प्रत्यक्ष दुःख अनुभवमें आता है तथा क्रोधके होने हुए जैसे अंतरंग विकारी होता है ऐसा पूर्ण शरीर भी विकारी हो जाता है, मुखकी आकृति बिगड जाती है। क्रोधके आवेशसे ऐसा आताप और संकट होता है कि जब कुछ क्रोध शांत होता है तब यह स्वयं अनुभव करता है कि मेरा बडा भारी संकट टला। जो दुःख क्रोधके आवेशमें

भावार्थ-इस जीवको चिरकालसे भोगे हुए भोगोंमें भी तृप्ति नहीं होती, तृप्ति विना चित्त उद्वेग रूप रहता है और जहां २ फिरता है। जैसे ईंधनसे अग्नि और हजारों नदियोंसे समुद्र तृप्त नहीं होता उसी तरह काम भोगोंसे संसारी जीव तृप्त नहीं हो सके। भोगोंमें लीन होनेमें नाश होता है और निश्चयसे बहुत विघ्न आते हैं, किन्तु भले प्रकार अनुभव किया हुआ जो आत्मीक सुख है उसमें न नाश है और न विघ्न है।

५ अतीन्द्रिय सुख ।

अणुवममेयमक्खय-ममलमजरमरुजमभयमभवं च।
एयंतियमच्चंतिय-मव्वाबाधं सुहमजेयं ॥ २१४९ ॥

भावार्थ-आत्मामें उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख ऐसा है कि जिसकी कोई उपमा इस जगतमें नहीं मिल सकती। वह अज्ञानीके मनके अगोचर, अमाप है। दुःखके अभावसे अक्षय है, रागादिक मलके अभावसे अमल है, जरासे रहित है, रोग रहित है, संसारका कारण नहीं है, परकी सहायताकी जिसमें जरूरत नहीं है, अंत रहित है, बाधा रहित है तथा स्वाधीन होनेके कारण अजेय है।

होता था वह मिट जाता है। इसी तरह जब कभी मान, माया, लोभ किसीकी भी तीव्रता होती है मन मैला और आकुलता रूप हो जाता है। जैसे क्रोधके आवेशमें अंतरंग विकारी होनेके साथ शरीर-विकारी हो जाता है ऐसे ही मान माया या लोभकी तीव्रतामें दशा होती है, शरीरकी आकृति बिगडनेके साथ मुखकी शोभा भी खराब हो जाती है। और जब ये विकार हटने हैं तब शांति और सुख मालूम होता है। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ तथा उन्हींके साथी काम, भय, हास्य, शोक, घृणा आदि विकारोंके होनेसे शरीर और मनमें विकार होते हैं वैसे ही इन कषायोंके उद्वेगसे शरीरमें निर्बलता होती है। रुधिर सूखता है। यह सब विकारी भाव वास्तवमें आत्माके स्वभाव नहीं हैं क्योंकि जो स्वभाव होते तो सबको और अपनेको दोनोंको प्रिय मालूम होते, परन्तु यह कषाय सुख और शांति नहीं देते इसीलिये अप्रिय मालूम होते हैं तथा इसीसे ये आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं।

विरुद्ध इसके जिस किसीके जिस समय क्रोध, मान, माया या लोभ कषायोंकी अत्यन्त मंदता होती है उस समय उसके मनको शांति और सुखका स्वयं अनुभव होता है। तथा शांतताका होना जैसा अपनेको पसंद है वैसा सबको पसंद है इससे यह कहना होगा कि शांतता या वीतरागता आत्माका स्वभाव है। और जहां २ शांति या वीतरागता होती है वहां २ सच्चा सुख भी झलकता है।

सुख भी आत्माका स्वभाव है यह बात अच्छी तरह मालूम हो जायगी जब हम उन दृष्टान्तोंको देखेंगे जिनमें मानव किसी

ी भले परोपकारके कामको विना किसी इच्छाके करते हैं और उ
आनन्द अनुभवमें आता है। यही आनन्द उस सच्चे सुखक
झलकाव है जो आत्माका स्वभाव है और सदा आत्मामें रहत
है। मार्गमें किसी अन्धे भूखे मनुष्यको देखकर सच्ची अनुकम्प
चित्तमें लाकर जो उसको अन्नादि भोजन देता है वह उस समय
एक तरहका ऐसा आनन्द मालूम करता है जो काल्पनिक इन्द्रिय
जन्य नहीं होता है। यही आनन्द उस सच्चे सुखका छोटास
नमूना है जो आत्मामें सदा विद्यमान है।

इसी तरह कोई मनुष्य भारतमें स्त्रियोंके अन्दर भारी अशिक्ष
देखकर चित्तमें दया रखकर उनमें शिक्षा प्रचारार्थ लक्ष दो क
रुपयेका जब दान करता है तब उसके चित्तको एक प्रकार
आनन्द होता है। यही आत्माके गुण-सच्चे सुखका झलका
है। यदि कोई मनुष्य नदीमें डूब रहा है उस समय यदि किसी
अपने शरीरका मोह छोड़कर उस डूबते हुए को बचा लिया
उसके चित्तमें एक प्रकारका सुख प्रगट होता है।

यदि कोई मनुष्य एकचित्त हो किसी वैराग्यमयी भजन
कहनेमें अपनेको ऐसा लीन कर दे कि उसका मन और पदार्थों
मोह छोड़ बैठे तो उस समय स्वभावसे ही सुख मालूम पड़ेगा
इन ऊपर लिखे हुए दृष्टान्तोंमें जो २ सुख अनुभवमें आया
वह स्वभावसे उठा है यह कोई काल्पनिक या मिथ्या सुख न
है। तथा यह सुख किसी इन्द्रियके विषयभोग रूप भी नहीं है
क्योंकि ऊपर लिखे काम करते हुए अर्थात् दान, परोपकार
भजन करते हुए न तो स्पर्श इन्द्रिय किसी स्पर्शका भोग क

है, न रसना इन्द्रिय किसी स्वादिष्ट भोजनको स्वादती, न घ्राण-इन्द्रिय किसी सुगंधित पदार्थको सूंघती, न चक्षु इन्द्रिय किसी रूपको देखकर मुग्ध होती और न कर्ण इन्द्रिय किसी गान आदिके रागको सुनती है। इन पाचों इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला यह सुख नहीं है और न यह मनकी किसी कल्पनासे पैदा हुआ है। यह सुख वास्तवमें स्वभावसे ही पैदा हुआ है। इसीसे यह कहना पड़ेगा कि यह सुख आत्माका स्वभाव है।

इस बातको विचार करते हुए कि सुख जब आत्माका स्वभाव है तब हमें हर समय क्यों नहीं प्राप्त होता ? ऊपर कहे हुए कामोंके करने पर ही हमें क्यों अनुभवमें आया है ? इसका समाधान यह है कि मोह और अज्ञानसे हमारा सुख गुण प्रच्छन्न हो रहा है या उसका विपरीत परिणमन हो रहा है। जब जितने अंशमें मोह और अज्ञान हटता है तब उतने अंश वह सुख गुण प्रगट होता है। वास्तवमें जब आत्माकी शक्तियोंको पूर्ण प्रगट होनेसे रोकनेवाले आवरणका अभाव हो जाता है तब वह सुख गुण पूर्णतया प्रकाशित हो जाता है।

इसलिये इस बातमें जरासी भी शंका नहीं शेष रह जाती है कि सुख और शांति अपने आत्मामें ही है।

जब यह बात निश्चित है तब हरएक मानवका धर्म है-फर्ज है-कर्तव्य है कि वह सुख और शांतिके प्रयोजनसे अपने आत्माकी ओर भावे अर्थात् उसमें प्रेम करे-उसके निर्मल गुणोंमें लीनता करे।

यहां पर एक शंका यह हो सकती है कि जब इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला अर्थात् भोजन पान स्पर्श आदिका सुख काल्पनिक

या मिथ्या है तब आत्मासे उत्पन्न होनेवाला ही सुख सच्चा है तब फिर जगतके लोगोंको क्यों तो धन कमाना चाहिये और क्यों अनेक पदार्थोंका संग्रह करना चाहिये ? इसका समाधान यह है कि सुख और शांतिके अभिप्रायसे तो हमें अपने आत्माकी ही ओर जाना चाहिये । कभी भी इन्द्रियोंके विषय भोगसे सुख होता है, ऐसी कल्पना करके तृष्णा और आकुलताके फन्देमें न फसना चाहिये । तथा जब एक गृहस्थ मानवको जो निवृत्ति मार्गमें नहीं चल सक्ता आत्माके सिवाय अपने शरीर व अपने कुटुम्बियोंके शरीरोंकी रक्षा करनी है । तथा बालक बालिकाओंको शिक्षा प्राप्त कराना है, उनकी शादी व्याह करना है व जगतमें जो मानव या पशु दुःखमें हों उनके साथ परोपकार करके उनका दुःख निवारण करना है इत्यादि जीवनकी अनिवार्य आवश्यकता-ओंकी पूर्ति करनेके लिये मानवका यह दूसरा फर्ज है जिसको यह बजावे । आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये नीतिपूर्वक व्यापार आदि व अन्य पदार्थोंका संग्रह " आत्मामें ही सुख है " इस विश्वासको पक्का रखनेवाला मनुष्य केवल अपना एक व्यवहार कर्तव्य जानकर करता है । इनसे इन्द्रियोंका स्वार्थ साधन करूंगा यह भावना नहीं करता है । आत्मज्ञानीका लौकिक उन्नतिमें तल्लीन होना इन्द्रियोंके विषयोंकी पुष्टिके अभिप्रायसे नहीं होकर परोप-कारार्थ व अपनी खास आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये होता है ।

विचारवान मनुष्य सुख व शांतिकी इच्छासे तो अपने आत्माका ही विचार करेगा परन्तु जिस स्थितिमें होगा उस स्थितिके अनुकूल व्यवहार कार्य्य करेगा । यह काल्पनिक सुखको

सुख नहीं मानेगा । उसके श्रद्धानमें यह बात दृढतासे जमी रहेगी कि सुख और शांति अपने आत्मामें ही है ।

प्रिय पाठको ! आप इस बात पर ज्यों २ लक्ष्य देंगे आपको अच्छी तरह अनुभव हो जायगा कि सुख और शांति दूसरी वस्तुओंकी आधीनतामें नहीं है । यह अपने ही पास है । अपने ही आत्माका स्वभाव है यह बिलकुल स्वाधीन है । अज्ञानतासे हमने पराधीनतामें सुख मान लिया है ।

बस, आप जो अपने इस नर जन्मको सफल करना चाहते हैं तो आप इस बात पर अच्छी तरह विश्वास करो कि सुख और शांति हमारी आत्मामें ही है ।

तीसरा अध्याय ।

सुख और शांतिकी प्राप्तिका उपाय ।

प्रियपाठकोंको मालूम हो कि आत्माके सत्स्वरूप पर विश्वास लाने और उसका ध्यान करनेसे वह सुख और शांति जो अपने ही आत्मामें है स्वयं प्राप्त होने लगती है । जो सुख और शांति हमारे आत्मामें है उसका लाभ हमको जो अभी नहीं हो रहा है वह होने लगे, इसके लिये हमको यह करना होगा कि हम अपने ही आत्माके सच्चे स्वरूपको पहचानें, उस पर पूर्ण विश्वास लावें और उसका ध्यान करें ।

क्योंकि यदि केवल नाम मात्र आत्माका हमने लिया पर उसके सच्चे स्वरूपको न जाना तो जैसे आम्र फलका नाम मात्र लेनेसे परन्तु उसको न पहचाननेसे हम कभी आमको नहीं पा-

सकते और इसी लिये आम्र फलमें कैसा मिष्ट स्वाद है इसका अनुभव भी नहीं कर सकते इसी तरह हम आत्माको कभी पा नहीं सकते। बिना पहचाने हमको उसका विश्वास भी क्या होगा और हम उसका ध्यान भी क्या कर सकेंगे? इसमें तो किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती कि जो रस जिस वस्तुमें होता है उस रसका स्वाद उस वस्तुको स्वाद लेते हुए अवश्यमेव आता है इसी तरह जो सुख और शांतिका रस आत्मामें है उसका स्वाद आत्माके सच्चे स्वरूपमें अपना मन जोडनेसे अवश्य प्राप्त होता है।

अब हमको यह बतलाना चाहिये कि हम आत्माका स्वरूप किस तरह समझें क्योंकि यह कोई ऐसी वस्तु तो नहीं है कि जिसको हम आंखसे देखकर व हाथोंसे छू कर मालूम कर लें। वह तो सूक्ष्मसे सूक्ष्म जो परमाणु है उससे भी अतिशय सूक्ष्म है। क्योंकि उसमें वह वर्ण, गंध, रस, स्पर्श भी नहीं है जो परमाणुमें सदा पाए जाते हैं। इसी लिये आत्माको आकाशके समान अमूर्तीक कहते हैं। इस अमूर्तीकका अर्थ यही समझना चाहिये कि उसमें ऐसा कोई वर्णादि नहीं है, न कोई ऐसा आकार है जैसे अचेतन जड़ पुद्गलके परमाणु और उसके बने नाना प्रकारके छोटे व बड़े स्कन्धोंमें होता है। तथा इसी कारण इसको निराकार भी कहते हैं। परन्तु इस निराकारपनेका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि आत्मा कोई आकार नहीं रखता हुआ शून्य है। जिस २ वस्तुकी सत्ता इस जगतमें होगी वह आकाशके भीतर रहती हुई थोड़े या बहुत आकाशको

घेरेगी । जो आकाशके स्थानको घेरने लायक आकार नहीं रखती है वह कोई वस्तु ही नहीं है किन्तु वह अवस्तु या शून्य कहलाती है अर्थात् वह कोई भी वस्तु नहीं होती है। अतएव कोई न कोई आकार रखनेके कारण इस आत्माको साकार भी कहते हैं ।

क्योंकि हरएक वस्तुकी पहचान उसके लक्षणके द्वारा होती है । इसलिये आत्माकी पहिचानके लिये भी लक्षणकी आवश्यकता है । लक्षण उस प्रगट गुणको कहते हैं जो वस्तुमें सदा पाया जावे व जिससे हम उस वस्तुको औरोंसे अलग कर सकें । जैसे एक कुटुम्बमें १० मनुष्य हैं, एक मनुष्य जिसका नाम रामचन्द्र है गोरा है और बाकी सब स्त्री पुरुष काले वर्णके हैं । तब उस कुटुम्बकी अपेक्षा रामचंद्रकी पहचान गोरापना हो जायगी । यदि हमें ऐसे आदमीके द्वारा रामचन्द्रको बुलाना है जो रामचंद्रको नहीं पहचानता है तो हम उस आदमीसे कहेंगे कि उस घरमें जिसका शरीर गोरा है वह रामचंद्र है उसे बुला लाओ तो वह सब काले रंगवालोंके बीचमें गोरे रंगवालेको देखकर तुर्त पहचान लेता है कि यही रामचंद्र है और उसे बुला लाता है । लक्षणमें केवल एक ही मुख्य गुणको लिया जाता है जब कि उस वस्तुमें और भी बहुतसे गुण रहते हैं । जैसे रामचंद्रमें गोरापना होनेके सिवाय उसमें ठिगनापना, भारीपना, चिकनापना आदि और भी बहुतसे गुण हैं । लक्षण निर्दोष वही होता है जिसमें तीन दोष न हों-(१) अतिव्याप्ति, (२) अव्याप्ति, और (३) असंभव ।

जो लक्षण कहा जाय वह उस वस्तुमें व उस जातिकी सब द व्योंमें व्यापक होना चाहिये अर्थात् पाया जाना चाहिये तथा

अन्य जातिकी व अन्य वस्तुमें न पाया जाना चाहिये । यदि अन्यमें भी पाया जायगा तो उसको अतिव्याप्ति दोष कहेंगे । और यदि उस वस्तुमें कभी हो कभी न हो व उस जातिकी सब वस्तुओंमें न पाया जावे तो उसमें अव्याप्ति दोष आएगा । और यदि वह लक्षण ऐसा असंभव हो कि इस वस्तुमें प्रत्यक्ष व अनुमान किसी भी तरह संभव न हो तो वह लक्षण असंभव दोष सहित हो जायगा ।

इन कहे हुए तीन दोषोंसे रहित लक्षण यदि हम आत्मा पदार्थका करें, तो हमको कहना होगा कि इसका लक्षण चेतना (देखना जानना Consciousness) है ।

जितने भी सचेतन या प्राणधारी पदार्थ जगतमें हैं उन सबमें यह चेतना पाई जाती है तथा उनके सिवाय मृत या जड़ पदार्थोंमें नहीं पाई जाती है इससे इस लक्षणमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष नहीं है । और न यह असंभव है क्योंकि यह चेतना अनुभवमें आ रही है । इसलिये जहां २ हम यह बात मालूम करें कि इन्द्रियोंके द्वारा छूकर, स्वाद लेकर, सूंघकर, देखकर व सुनकर जाना जाता है व मनद्वारा अनेक विचार किये जाते हैं तथा मैं क्रोधी, मानी, लोभी, कामी हूं व कभी क्षमावान, कोमल, संतोषी व शांत हूं ऐसी कल्पना उठती हैं वहां २ हमको यह निश्चय करना चाहिये कि चेतना विद्यमान है । यह चेतना जिसमें है व जिसके आधार यह पाई जाती है वह आत्मा है । क्योंकि जो कोई गुण होता है वह किसी गुणी या द्रव्य आधारके बिना नहीं पाया जा सकता । इसलिये चेतना लक्षण

देखा था आज वह पीत हो गया है। इन अवस्थाओंके होनेमें उपादान या मूल कारण तो अपने अपने लिये यह पुद्गल और जीव ही हैं पर कोई साधारण निमित्त भी चाहिये। क्योंकि विना निमित्तके कोई काम नहीं होता। इसलिये कुछ ऋषियोंने इन चार कार्योंके लिये भी चार मूल द्रव्य बतलाए हैं। चलनेमें उदासीन सहकारी कारण एक जगद्व्यापी अमूर्तीक धर्म द्रव्य है। ठहरनेमें उदासीन सहकारी कारण एक जगद्व्यापी अमूर्तीक अधर्म द्रव्य है, अवगाह देनेमें उदासीन सहकारी कारण अमूर्तीक आकाश द्रव्य है। परिणमनेमें उदासीन सहकारी कारण अमूर्तीक काल द्रव्य है।

इस तरह कार्यके अनुमानसे कारणका अनुमान होता है। ऐसा जानकर ये चार द्रव्य माने जाते हैं। इनका अस्तित्व यद्यपि हमारे नेत्रोंको प्रत्यक्ष प्रगट नहीं है पर अनुमानसे समझकर जानना चाहिये। यहां प्रयोजन कहनेका यही है कि यह आत्मा या जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पांच अजीव द्रव्योंसे भिन्न है। *

आगास काल पुग्गल धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥१२४॥

(पंचास्तिकाय, कुंदकुंदाचार्य)

भावार्थ—आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें जीवके गुण नहीं हैं इसलिये उनके अचेतनपना कहा गया है जब कि जीवके चेतनपना है।

उवभोज्जमिंदियेहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥८२॥ (पंचा० कु०)

हम अपने साथ शरीरको देखते हैं यह भी पुद्गल जड़ अजीव है इससे यह आत्मासे भिन्न है। हमारी जो भाषा निकलती है यह भी पुद्गल अजीव है इससे यह आत्मासे भिन्न है। हमारे मनमें अनेक विकारी परिणाम होते हैं--कभी हम किसीको अच्छा जानकर राग करते हैं, कभी हम किसीको बुरा जानकर द्वेष करते हैं, कभी हम यह अहंकार कर लेते हैं कि हम रूपवान हैं, बलवान हैं, धनवान हैं, विद्वान् हैं, अधिकारी हैं, बड़े कुलीन हैं इत्यादि। कभी हम इष्ट वियोगसे पीडित हो आर्तभाव करते हैं, कभी हम अनिष्ट संयोगको पाकर उसके मेटनेके विचारमें पड़ जाते हैं, कभी किसी रोगादिकी पीड़ा होनेपर हम रोगी हैं इस चिंतामें डूब जाते हैं, कभी हम हिंसा, असत्य, चोरी कुशील और परिग्रहके कार्योंको करते, कराते व उनकी अनुमोदना करते हुए हर्ष मनाया करते हैं, कभी हम क्रोधके आवेशमें आकर अत्यंत

भावार्थ—जो इन्द्रियोंके द्वारा भोगने योग्य है, इंद्रिय, शरीर, मन और कर्म तथा जो कुछ और मूर्तीक जड़ है उन सबको पुद्गल जानो।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीव पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥ (पंचा० कु०)

भावार्थ—पानी जैसे इस लोकमें मछलियोंको गमन करानेमें कारण है तैसे यह धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलोंके गमन करानेमें कारण है ऐसा जानो।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदि किरिया जुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥८६॥ (पंचा. कु.)

प्राप्तिका उपाय है। आत्माका सत् स्वरूप शुद्ध निर्विकार है अर्थात् मोह राग द्वेषके निमित्तसे झलकनेवाले भावोंसे भी आत्माका स्वभाव दूर है जैसे स्फटिक मणिके काले हरे व लाल डाकके लगनेसे जो काला हरा व लालपन दीखता है सो स्फटिकका स्वभाव नहीं क्योंकि वह तो स्वच्छ सफेद कांतिवाली है किंतु उसमें इनका झलकना काले हरे व लाल डाकके निमित्तसे है। निमित्त हटा लेनेसे व हट जानेसे इनका झलकना भी बन्द हो जाता है। आत्माका भी स्वभाव शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल, ज्ञान दर्शन मई, चैतन्य स्वरूप है परन्तु उसमें काले हरे लाल डाकके समान किसी अजीव द्रव्यका संयोग है इसीसे उसमें नाना प्रकारके भाव दीख रहे हैं। क्योंकि स्वभावमें उपाधिका मालूम होना कभी पर निमित्तके बिना नहीं हो सक्ता। बिना अन्य वस्तुके सम्पर्कके अपने आप आत्मामें कभी भी राग द्वेष मोह आदि नहीं दीख पड़ते। जब ऐसा है तब वह पर द्रव्य क्या है? तो विचारनेसे मालूम होगा कि वह भी पुद्गल जड़ है। परन्तु वह सूक्ष्म पुद्गल है जो स्वतः दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु उसका कार्य हमारे इन प्रगट मन, वचन, कायोंमें मालूम हो रहा है। जैसे जब हममें किसी भी तरहका क्रोध, मान, माया, लोभ, कामविकार व शुभ तथा अशुभ विकल्प उठता है उस विकल्पका फल या असर हमारे शरीर पर तुर्त झलकने लगता है। हमारा मुख स्वयं साक्षीभूत हो जाता है। मुख देखकर समझनेवाले समझ जाते हैं कि इसके मनमें क्रोध है, लोभ है, माया है, कामविकार दया है, विनय है, दीनता है, आदि। जो जड़ होगा उसीका

असर जड़ पर नजर आवेगा। इसीसे कहना होता है कि संसारी आत्माके साथ एक कारण शरीर है जिसको पुण्य पाप कर्मोंसे बना हुआ कार्माण शरीर भी कहते हैं। इसीके निमित्तसे राग, द्वेष, मोह, आदि औपाधिक भाव हमारेमें झलक रहे हैं। वास्तवमें विचार करनेसे यही समझमें आवेगा कि जब जड़ अजीव आत्मासे भिन्न है तब उसके निमित्तसे होनेवाले सर्व शुभ व अशुभ भाव भी पररूप हैं, आत्माके निज स्वभाविक धर्म नहीं हैं। ये जो मन, वचन, काय हमारे तुम्हारे काम करते हुए दीख रहे हैं ये भी कार्माण या कारण शरीरके फल या असर हैं तथा इनमें जो क्रियाएं हो रही हैं इनको भी घुमानेकी कुनी कार्माण शरीरका उदय या फल है। इसीसे यह कहा जाता है कि वास्तवमें (असलमें) आत्मा शुद्ध है इसमें कोई औपाधिक भाव, कोई कार्माण शरीर, कोई मन, वचन, काय व उनका कोई भी अशुभ या शुभ व्यापार नहीं है। यह आत्मा परम पवित्र उस निर्मल रुईके वस्त्रके समान है जिसमें कोई भी दाग या दोष न हो या उस निर्मल जलके समान है जिसमें एक परमाणु भी रजका-कीचड़का न हो या यह निर्मल सूर्य्यके प्रकाशके समान है जिसमें किंचित् भी अंधकारका सम्बन्ध न हो। इसीसे इस आत्माको ही परब्रह्म, परमात्मा, परम पवित्र, ईश्वर, निर्विकार, निरंजन, निर्मल, शुद्ध ज्ञानघन, चिदात्मा आदि अनेक नामोंसे कहते हैं। *

---

* अहमिक्को खलु सुद्धो-दंसण णाण मइओ सया रूवी ।
णवि अत्थि, मज्झ किंचिवि, अण्ण परमाणु मित्तपि ॥ ३८ ॥
(समयसार, कुं०)

जैसे यह आत्मा वास्तवमें शुद्ध है ऐसे ही यह आनंद मई भी है। क्योंकि आत्माका गुण जैसे चेतना है ऐसे ही सुख आनंद भी है। यह आनंद जगतमें संसारी जीवोंके अनुभवमें आनेवाले क्षणिक इंद्रियजनित सुख तथा दुःखसे बिल्कुल विलक्षण है। हम दूसरे अध्यायमें इस बातको अच्छी तरह बता चुके हैं कि सुख हमारे आत्मामें ही है। यह हमारे आत्माका एक विशेष गुण है। इसलिये यह आत्मा जैसे ज्ञान घन शुद्ध है वैसे आनंद गुणसे सर्वांगपूर्ण होनेसे आनंदमई है।

यह आत्मा अविनाशी भी है, क्योंकि इसकी सत्ता या अस्तित्व या मौजूदगीका कभी भी नाश नहीं होगा। जैसे कि जगतमें यह नियम है कि किसी वस्तुका नाश नहीं होता * ऐसे ही इस आत्माका नाश या अभाव कभी नहीं होता हम पहले बता चुके हैं कि आत्माका लक्षण चेतना है। चेतना गुण है। गुणका कभी नाश होता नहीं। तथा गुण किसी द्रव्यके आश्रय रहता है × यही गुणका लक्षण है इसलिये चेतनाको रखनेवाला

भावार्थ-मैं निश्चयसे एक हूं, शुद्ध हूं दर्शनज्ञानमई हूं, सदा अरूपी हूं, मेरा कोई अन्य परमाणु मात्र भी नहीं है।

* भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥ १५ ॥

भावार्थ-सतरूप पदार्थका नाश नहीं होता और जो नहीं है उसका जन्म नहीं होता पदार्थ अपने गुणोंकी अवस्थामें ही उत्पाद (जन्म) और व्यय (नाश) करते हैं।

× दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥१३॥ (पंचा०)

आत्मा नामा द्रव्य भी कभी नाश नहीं हो सक्ता इसी लिये यह अविनाशी है । यद्यपि हमको एक शरीरमें आते और उसमेंसे जाते मालूम पडता है तो भी इसका अभाव नहीं होता । यह कहीं और अपना डेरा बनाता है । किसी और देहको धारण कर लेता है । इसलिये यह बात अच्छी तरह निश्चयसे रखना चाहिये कि आत्माका कभी अभाव नहीं था और न कभी होगा इसी लिये यह अविनाशी है । यह आत्मा अमूर्तीक भी है क्योंकि जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि जड रूपी द्रव्यके गुण या अवस्थाएं होती हैं उसे ही मूर्तीक कहते हैं । सो आत्माके असली खास स्वभावमें इन स्पर्श रस गंध वर्ण आदिका कहीं पता भी नहीं है इस लिये यह अमूर्तीक है जैसे आकाश, काल, धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य अमूर्तीक हैं । ऐसा आत्मा भी है ।

यद्यपि यह अमूर्तीक है तथापि ऐसा नहीं है कि कोई वस्तु ही न हो । आत्मा एक वस्तु है इसीसे वह आकाशके भीतर रही हुई होकर उस आकाशमें अवगाह या स्थान पाती है । इस लिये यह आधेय है आकाश आधार है । जो जो आधेय होता है यह आधारके समान या असमान आकारको रखनेवाला होता है । जो कोई वस्तु न होगी उसमें कोई आकार न होगा । परन्तु जो वस्तु होगी उसका कोई न कोई आकार अवश्य होगा इसलिये आत्मा भी आकार रखनेवाला है । परन्तु यह आकार चैतन्य

भावार्थ-द्रव्यके विना गुण नहीं रहते गुणोंके विना द्रव्य नहीं रहता इसलिये द्रव्य और गुणोंकी भिन्नता नहीं है ।

आदि अनंत गुणोंका समुदाय रूप है और यह समुदाय ऐसा है कि सर्व गुण सर्वमें व्यापक हैं। यह कोई पुद्गलके समान रूप रस गंध मय नहीं है। आत्मा एक ऐसा पदार्थ है जो इंद्रियोंके गोचर न होनेसे अति सूक्ष्म है। परन्तु उसके कार्यको जहा देखा जाता है वहा उस आत्माका अनुमान किया जाता है। हम जब अपने ही सजीव शरीरको देखते हैं तब उसमें चेतनाकी जाननेकी क्रिया हम अपने शरीर भरमें पाते हैं। हमारा मन वचन काम उसीके होते हुए अनेक प्रकारकी क्रिया करता रहता है। उसके चले जानेसे इनमें कोई क्रिया नहीं होती यद्यपि ये बने रहते हैं। जैसे हमें स्पर्श द्वारा ज्ञान अपने शरीर परसे ही होता है। जो कोई स्पर्शने योग्य वस्तु शरीरमें स्पर्श करेगी उसीका ही ज्ञान होगा। शरीरसे थोड़ी भी दूर यदि वस्तु होगी तो उसका स्पर्शका ज्ञान नहीं हो सकता। इसीसे ही यह अनुमान किया जाता है कि यह आत्मा शरीरके प्रमाण आकारको रखनेवाला है। छोटे शरीरमें छोटा जब कि बड़े शरीरमें बड़ा होता है। जैसा घर होता है उसीमें ही यह व्याप कर रहता है। यदि एक चींटीके शरीरको छोड़कर हाथीके शरीरमें आता है तो उसी प्रमाण व्यापता है। यदि हाथीके शरीरको छोड़कर मनुष्यमें आता है तो उसीके प्रमाण सकोच कर व्यपता है। छोटी वयके बालकमें आत्मा छोटा होता है। ज्यों२ शरीर बढ़ता है आत्माका विस्तार होता जाता है। जैसे दीपकका प्रकाश। छोटे स्थानमें छोटा बड़े स्थानमें बड़ा होता है। एक दीपकका प्रकाश यदि एक १६ फुट लम्बे चौड़े कमरेमें फैल रहा है। यदि उसी दीपकको उठाकर एक छोटे

हीमें रख दें तो इतने हीमें यह प्रकाश फैलेगा। ऐसे ही आत्माका सकोच विस्तारपना जानो। यह सकोच विस्तार प्रत्यक्ष प्रगट है।

जैसे शरीरका सम्बन्ध व उसका छोटा बड़ा होना कार्माण कारण शरीरके निमित्तसे होता है ऐसे ही आत्माका सकुचना विस्तरना भी इसी कारण शरीरमें रहे हुए कर्मोंके उदयके अनुसार होता है। आत्मामें जब शरीरके अनुसार छोटा या बड़ापना आकारमें होता है तब यह आत्मा यदि फैले तो कहा तक फैल सक्ता है इस प्रश्नके उत्तरमें प्राचीन ऋषियोंके कथनके अनुसार यह कहा जाता है कि यह आत्मा इस छः द्रव्यमई जगत* रमें अर्थात् इस लोकमें सर्वत्र फैल सक्ता है। इसका आकार निश्चयमे लोकके बराबर है। इसका यह भाव न लेना चाहिये कि आत्मा लोकके बराबर एक शरीर धारण करके इतना फैलेगा। किंतु यह लेना चाहिये कि कुछ अवस्थाएं ऐसी होती हैं जिनमें यह आत्मा शरीरमें रहते हुए भी बाहर फैलता हुआ थोड़ी दूर

---

* अणुगुरुदेहपमाणो–उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा, णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥ १ ॥

(द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्रकृत)

भावार्थ–संकोच, विस्तार होनेके कारणसे यह आत्मा छोटी व बड़ी देह प्रमाण रहता है। समुद्घातके समयके सिवाय अर्थात् शरीरमे रहता हुआ भी कभी कुछ फैलता है फिर शरीर प्रमाण हो जाता है। व्यवहारसे अर्थात् कर्मोंके निमित्तसे यह अवस्था होती है। निश्चयसे यह असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् यह लोकके बराबर आकार रखनेवाला है।

कहा जा सकता है। सो ऐसा जगत्‌में व्यवहार है ही। मनुष्यत्वकी अपेक्षा एक मनुष्य कहनेमें सब मनुष्य, पशुत्वकी अपेक्षा एक पशु कहनेमें सब पशु, तथा देवत्वकी अपेक्षा एक देव कहनेसे सब देव समझ जाते हैं। जैसे हम कहते हैं मनुष्य दो पैरसे खड़े हो सीधा चलता है। पशु चार पैरसे नीचा झुककर चलता है। देव कांतियुक्त शरीर धारण करता है। इन तीनों वाक्योंमें मनुष्य, पशु व देव एक वचनमें हैं तो भी अपने सम्पूर्ण जातिवालोंका बोध कराते हैं। ऐसा होने पर भी सभी मनुष्य, पशु या देवोंकी सत्ता व्यक्ति रूपसे एक नहीं कही जा सकती।

इसी तरह चेतना लक्षणकी समानतासे जितने भी जीव हैं सब समान हैं। जो स्वभाव एकका है सो ही स्वभाव सबका है। उनके स्वभावकी अपेक्षा सर्व आत्माओंमें कोई भी अन्तर नहीं है। इसलिये जातिकी अपेक्षा समानता है पर व्यक्तित्वकी अपेक्षा असमानता है।

यदि किसी समय किसी स्थानपर (१०००) मासिक वेतन पानेवाले हाईकोर्टके १० जज बैठे हों तो वे जजपनेकी अपेक्षा समान हैं पर सबकी आत्मा, शरीर, अनुभव भिन्न २ हैं इसी तरह चेतनाकी अपेक्षा सर्व आत्माओंमें समानता होनेपर भी उनकी व्यक्ति पृथक् पृथक् है। आत्माकी सत्ता जैसे अब भिन्न २ प्रतीतिमें आ रही है ऐसी ही सदासे थी और सदा ही रहेगी। ऐसा कोई समय न था कि ये पहले सब एक हों फिर उसके खंड हो करके भिन्न २ हुए हों तथा न कोई समय ऐसा आवेगा जब [illegible] एक पिंड हो जावेंगे। इसी कारणसे यह बात माननी

चाहिये कि प्रत्येक आत्मा नित्य है। हरएक आत्मा जब सदासे है और सदा ही रहेगी तब उसे नित्य कहना बिलकुल ठीक है। आत्माके भीतर अनन्त स्वभाव व गुण हैं। उनमेंसे आत्माकी केवल पहचान करनेके लिये थोड़ेसे स्वभाव व गुणों हीका विचार करनेसे आत्माको सर्व अनात्मा या अजीव पदार्थोंसे भिन्न जान लिया जाता है।

गुण दो प्रकारके होते हैं–सामान्य और विशेष। सामान्य गुण उनको कहते हैं जो सर्व छहों द्रव्योंमें पाए जावें विशेष वे गुण हैं जो एक द्रव्यमें पाए जावें और अन्य पांचों द्रव्योंमें न पाए जावें।

आत्मामें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालकी तरह अनेक सामान्य गुण हैं जिनमें ६ मुख्य हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कभी नाश न हो उसको अस्तित्व गुण कहते हैं।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमें अर्थ क्रिया हो अर्थात् वह कुछ काम दे सके उसको वस्तुत्व गुण कहते हैं।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य सर्वदा एकसा न रहे, जिसकी पर्यायें या अवस्थाएं सदा बदलती रहें उसको द्रव्यत्व गुण कहते हैं।

जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य किसी न किसीके ज्ञानका विषय हो अर्थात् वह जानने योग्य हो उसको प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

दूसरे द्रव्यके निमित्तसे जो कोई परिणमन दूसरे द्रव्यमें हो उसको विभाव पर्याय कहते हैं। यह विभाव पर्याय जीव और पुद्गलमें ही होती है और चार द्रव्योंमें नहीं होती क्योंकि वे सदा शुद्ध अवस्थामें ही रहते हैं। जैसे हम संसारी जीवोंके कार्माण या कारण शरीरका सम्बन्ध है जिसके निमित्तसे ही हमारे भीतर भावोंमें क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष आदि विभाव भाव होते और मिटते हैं उसी तरह जैसे स्फटिकके भीतर काला, नीला, लाल डाकके सम्बन्धके निमित्तसे उसकी कांतिका कालापन, नीलापन व लालपन रूप परिणमन हो जाता है अर्थात् उसमें वह रंग दिखते हैं। यही विभाव पर्याय है। जैसे स्फटिकके सामनेसे डाकका सम्बन्ध हटनेसे उसमें यह कोई विभाव परिणमन नहीं होगा उसीतरह आत्माके साथ जब कर्माण शरीरके उदयका सम्बन्ध न होगा यह कोई विभाव परिणमन न होगा। इसी तरह पुद्गलके परमाणु मिलकर अनेक प्रकारके स्कंध बन जाते हैं उनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णका अनेक प्रकारका परिणमन होता है जिनमें निमित्त कारण दूसरे स्कंध पड जाते हैं। अथवा आत्माके रागद्वेष भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंका कार्माण शरीरमें आकर पुण्य पापरूप परिणमन हो जाना यह सब विभाव पर्याय हैं। हम इस जगतमें देखते हैं कि मेघ बने, पानी हुआ नदी बही, पहाड़ बने, गीला टूटा, बिजली चमकी, चिमनी बनी, शब्द हुआ, ये सब पुद्गलकी विभाव पर्यायें हैं। हम सब लोग रात दिन पुद्गलोंको लेकर उनकी विभाव पर्यायें करते रहते हैं। अन्न, दूध आदिसे अनेक व्यंजन, घी, दही मलाई पकवान आदि

बनाते हैं ये सब विभाव पर्यायें हैं ।

यह सब ध्यानमें रखना चाहिये कि द्रव्य एक सत् पदार्थ है उसमें गुण और पर्यायें होती हैं । गुण सदा ध्रौव्य या नित्य रहते हैं परन्तु पर्यायें सदा बदलती रहती हैं । इसीसे द्रव्यको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप भी कहते ह । क्षण क्षणमें एक पर्यायका उत्पाद या उपजना होता है । उसी समय पुरानी पर्यायका व्यय या नाश होता है परन्तु जिस २ गुणमें पर्याय हुई वह गुण कभी नष्ट नहीं होता इसीसे वह ध्रौव्य रहता है । जैसे एक सुवर्णकी डलीको लेकर उससे दस पाच आभूषण बनाए गए, इसमें डलीकी अवस्था आभूषणोंमें बदल गई पर दोनों दशाओंमें सुवर्ण व उसके पीत, भारीपन आदि गुण ध्रौव्य या नित्य हैं–उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यपना हरक्षणमें पाया जाता है जैसे हमारे ज्ञानमें यकायक एक मित्रकी स्मृति आई । इस यादके भावका उपजना हुआ । उसी समय ज्ञानमें जो कुछ पहले दशा थी वह अब न रही तथा ज्ञानगुण सदा बना ही हुआ है । *

आत्मा एक अद्भुत पदार्थ है । इसके सर्व स्वरूपका ज्ञान अनुभव ही द्वारा मालूम होता है । वचनोंमे इसका स्वरूप कहना बहुत ही कठिन है ।

---

* दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥ (पंचा० कुंद०)

भावार्थ–द्रव्यका लक्षण सत् है अर्थात् जो सदासे था व सदा रहेगा, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपन सहित होता है अथवा जो गुण और पर्यायोंका [illegible] उसको सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं ।

इसीसे आपको यह निश्चय रखना चाहिये कि इस आत्माका लक्षण चेतना अर्थात् देखना जानना है। यह चेतना रहित अजीव पदार्थ जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनसे भिन्न है। इसका सत्स्वरूप असलमें–वास्तवरूपसे–निश्चयसे शुद्ध, आनन्दमई, अविनाशी क्रोधादिक विकारोंसे रहित है। यह देह प्रमाण आकार रखता है। प्रत्येक आत्माकी सत्ता सदा भिन्न २ बनी रहती है। इससे प्रत्येक आत्मा नित्य है। आत्मामें परिणाम सदा नये २ हुआ करते हैं क्योंकि हरएक द्रव्य परिणमन शील है इससे यह आत्मा परिणामी या अनित्य भी है। *

---

* इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्॥ २७॥

(समयसार कलश अमृतचंद्र)

भावार्थ-एक अपेक्षा अर्थात् अनंत गुणोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा अनेकपनेको रखता है दूसरी अभेदकी दृष्टिसे देखा जाय तो सदा ही एकपनेको रखता है अर्थात् कोई गुण उससे छूट नहीं सकता। परिणामोंके बदलनेकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा क्षणिक या अनित्य है। गुण और द्रव्यकी स्थितिकी अपेक्षा देखा जाय तो सदा ही उदय रहनेसे यह आत्मा ध्रौव्य या नित्य है। ज्ञानकी अपेक्षा देखा जाय तो सब ज्ञेयोंको जाननेसे यह परम विभु है, वस्तुके आकारकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा अपने प्रदेशोंमें नियत है। अहो, इस आत्माकी स्वाभाविक अद्भुत महिमा है।

जिसको सत, चित्, आनन्दमय, परमात्मा, परमेश्वर, भगवान परम प्रभु, कृतकृत्य, पवित्र, केवली तथा अविनाशी कहते हैं सो ही वास्तवमें हरएक आत्माका स्वरूप है। यद्यपि कारण शरीरादि पुद्गलोंके साथ यह संसारी जीव देखा जाता है। तथापि वह जीव अलग है और यह पुद्गल अलग है। जैसे क्षीर और नीर मिले हों तो भी दोनों अलग हैं। हंस क्षीरको क्षीर और पानीको पानी देखता है इसी तरह ज्ञानी जीव आत्माको आत्मा और पुद्गलको पुद्गल देखता है। ×

सुख व शांति कैसे प्राप्त हो ?

पाठकोंको यह बात भले प्रकार पक्की समझनी चाहिये कि जो सुख और शांति इस भगवान आत्मामें है अर्थात् जो सुख शांति इस आत्माका स्वभाव है उसका अनुभव होनेके लिये यह आवश्यक है कि हमें अपने आत्माके सत्स्वरूपका गाढ निश्चय हो। जैसा ऊपर कहा गया है उसी प्रमाण आत्माको निश्चयमें लाकर उसका विचार या ध्यान जब किया जायगा तब उस आत्मामें रही हुई सुख शांति स्वयं अनुभवमें आ जायगी।

× ए ए हिय सवंधो जहब खीरोदय मुणेदव्वो।
णय हुंति तस्सताणि दु-उवओग गुणाहि अोजम्हा ॥ ५७ ॥

भावार्थ-इन वर्णसे लेकर रागद्वेष आदि पर्यंत सब जड़ व कर्म सम्बन्धी विकारका सम्बन्ध आत्माके साथ ऐसा जानना चाहिये जैसे दूध और पानीका सम्बन्ध होता है। ये सब आत्माके नहीं हो सकते क्योंकि यह आत्मा ज्ञान दर्शनमई उपयोग गुणको रखनेके कारण इनसे भिन्न है।

हम वर्तमानमें अपनेमें जो राग द्वेष क्रोध मान माया तथा अल्पज्ञान आदि अवस्थाएं मालूम कररहे हैं उसका कारण हमारे साथ कार्माण या कारण शरीरका सम्बन्ध है जैसा हम पहले बता चुके हैं। इसीसे हमारी दशा वर्तमानमें अशुद्ध कहनेमें आती है। परन्तु यह अशुद्धता केवल जीव और पुद्गलकी संयोग जनित है जैसे एक सुवर्णकी डली कीचड़से लिप्त हो जाने पर मैली कहलाती है व रुईके सफेद कपड़े पर मैल चढ़ जानेसे कपड़ा मैला कहलाता है। वास्तवमें देखो तो सुवर्णमें सुवर्ण है, कीचड़में कीचड़ है, तथा कपड़ेमें कपड़ा है, मैलमें मैल है। विचारवान ज्ञानी दोनोंको भिन्न २ देखता है। जैसे जौहरी दोषदार पत्थरके खंडसे मिले हुए रत्नकी आभाको एक खुरदरे पत्थरमें देखता हुआ रत्न व उसकी आभाको सर्व दोषोंसे रहित परखकर उसका मूल्य करता है—उसे अमल रत्न तथा मैल अलग २ मालूम होता इसी तरह विचारवान ज्ञानी आत्माको आत्मा आत्मारूप जैसा कि इसका सत्स्वरूप ऊपर कहा गया है उस समान तथा पुद्गल पुद्गल रूप दिखता है।

आत्माके भीतर रही हुई सुख व शांति प्राप्त करनेके लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि हम आत्माके सत्स्वरूप पर शंका रहित गाढ़ रुचि लावें। तथा यह रुचि ऐसी नहीं कि केवल दूसरेकी कही हुई बात पर अंधश्रद्धा रख ली गई हो, किन्तु वह ऐसी ही पक्की हो मानो साक्षात् अनुभवमें आई हो। पक्का अनुभव हम ... कि आत्माका सत्स्वरूप क्रोधादि विकार रहित, चैतन्य

और आनन्दमय है इस मानवको बहुत शीघ्र हो जायगा यदि यह एकान्तमें बैठकर थोड़े दिन अपने भीतर विचार करेगा । *

और फिर ज्यों २ विचार बढ़ता जायगा पक्का अनुभव होता जायगा । एक दफे भी आत्माको अपना अनुभव हुआ कि उसकी गाढ़ रुचि अपने स्वरूपसे हो जायगी क्योंकि एक दफे भी अनुभव होनेसे उसको उस सच्चे सुखका स्वाद आएगा जो इसीके भीतर है । उस स्वादके आते ही उसको यह भी भास जायगा कि यह सुख इन्द्रियजनित सुखसे बिल्कुल भिन्न लक्षण रखनेवाला है । बस उसी समयसे उसको अपने स्वरूपके अनुभव करनेकी आशक्तिता या अति गाढ़ रुचि हो जायगी । यही रुचि पुन पुन मनको आत्माके विचारमें प्रेरित करेगी । और जब जब इसे आत्मामें अनुभवका स्वाद आयेगा तब तब यह सुख व शान्तिका भोग करेगा । अपने मनको आत्माके विचारमें जोड़नेके लिये कुछ बाह्य साधन और सामग्रियोंकी आवश्यकता है जिनको बतलाना उचित जान पड़ता है —

---

* विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृत सन् पश्य षण्मासमेकं ।
हृदय सरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि ॥२०२॥

(समयसार कलश, अमृतचन्द्र)

भावार्थ—दूसरे वृथा कोलाहलसे क्या होगा, विरक्त हो और स्वयं निश्चिन्त होकर छः मास तक एक आत्माके स्वरूपका विचार कर, तो क्या तेरे हृदयसरोवरमें पुद्गल अर्थात् जड़से भिन्न तेजधारी आत्माकी प्राप्ति न होगी ? अर्थात् अवश्य होगी ।

एकान्त सेवन—यद्यपि आत्माकी चर्चा करनी व आत्माके स्वरूपके प्रतिपादक ग्रंथोंका पठनपाठन करना, सुनना, विचारना इसके लिये सत्संगति रखनी आत्मविचारके लिये एक निमित्त साधक है तथापि जबतक स्वतंत्र रीतिसे स्वयं विचार न किया जायगा तब तक अनुभवकलाका जागृत होना कठिन है। इसलिये सुख व शांतिके इच्छुकके लिये एकान्त सेवनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

जब मनको कोई रुकावट नहीं होती और न दूसरे कोई आकर्षण होते हैं तब वह भली प्रकार विचार–सागरमें गोते लगा सकता है। इस लिये जहां कोई आकुलताके कारण न हों वहां बैठकर विचारना चाहिये। कोई वन, बगीचा, सूना घर, पर्वतकी गुफा, नदीतट आदि एकान्त स्थान जहां स्त्री, बालक, पशु आदिका आनाजाना न हो व कोई भय व अधिक शीत या उष्णताका स्थान न हो ऐसा स्थान पसन्द करना चाहिये। एकान्तमें विचारसे ही अनेक प्रकारकी विद्याएं सिद्ध होती हैं। एडिसन ऐसे अमेरिकाके आविष्कारक एकान्त सेवनसे अपनी बुद्धिबलसे अनेक अद्भुत कामलायक वस्तुओंकी खोज लगा सके हैं। यदि कोई मानव दूर नहीं जा सकता तो वह अपने घर हीमें एक ऐसा स्थान ठीक करले जहां मन दूसरे विषयमें जाकर न फसे।

कालका विचार—आत्मानुभवके लिये प्रात:काल संध्या काल, मध्यान्हकाल, रात्रिका काल बहुत उपयोगी है। यों तो वही काल ठीक है जिसमें ऐसा विचार हो जावे परन्तु संध्याएं

कालविचारकी समतामें कुछ निमित्त कारण पड़ जाते हैं। सबसे बढिया काल ४ बजे सवेरेसे ६ बजे सवेरे तक है जब सब जगत प्राय निद्रित अवस्थामें होता है।

मन, वचन, कायकी रक्षा—जब विचार करनेको बैठे तब अपनी बुद्धि महा तक ओर देवे ऐसा उपाय करे कि शरीरका निश्चल आसन स्वय रक्खे, पद्मासन, कायोत्सर्ग आदि अनेक आसन प्रसिद्ध हैं। इन आसनोंकी स्थितिमें शरीरको रखनेसे आलस्यमें नहीं आता है। तथा पवनादिके झकोरोंके होने पर भी निश्चल रह सक्ता है। आसन रूप रहनेसे श्वास उच्छ्वास नियमित मद मद स्वय चलता है। हमें आत्म-विचारके लिये बल पूर्वक श्वास रोकनेकी आवश्यकता नहीं है, न किसी हठ योगकी क्रिया ही की आवश्यकता है। हमें श्वासकी चिंता ही न करनी चाहिये उसे अपनी स्वभाविक गतिमें मद मद चलते रहना चाहिये अथवा यदि थोडी देर स्वभावसे ही रुक जावे तो कुछ हर्ज नहीं है किन्तु उसके रोकनेके परिश्रम करनेकी जरूरत नहीं है।

यदि हम एक तरहके आसनसे बहुत देर नहीं रह सकते तब इसमें कोई हर्ज नहीं है कि हम आसनको बदल लेवें। आत्म-विचार करते हुए हमें आलस्यरूप शरीरको रखना व शरीरसे कोई और काम कर लेना, जिससे आत्म-विचारसे कोई सम्बन्ध नहीं है न करना चाहिये। बहुतोंसे वहां पाठ दोहा, छद, मत्र पढना इस समय किसीसे कोई

जोरसे कोई पाठ पढ़ना चाहिये कि जिससे इधर उधर पासमें बैठनेवालोंके चित्तमें विक्षेप हो जाय । जो कुछ पढ़ा जाय उसके अर्थका विचार करते हुए पढ़ा जाय तब ही वह पाठ कुछ आत्मविचारके लिये एक निमित्त आश्रय मात्र हो जायगा ।

मनको भी बुद्धिपूर्वक दूसरी चिन्ताओंसे अलग करनेका मनन करके आत्म-विचारमें लगाना चाहिये । परन्तु मन बड़ा चचल है । इसका स्वभाव ही संकल्प विकल्परूप है । इसलिये अपने बिना चाहे हुए ही कोई दूसरे विचार मनमें आ जावें तो उनको अपने आत्मासे पर जानकर उनसे रागद्वेष न करना चाहिये और फिर मनको आत्मविचारकी तरफ लेजाना चाहिये। इसका कभी खेद नहीं मानना चाहिये कि हम मनको रोकते हैं पर यह तो रुकता नहीं । अपने स्वभाव व आदतसे जितना कुछ आत्मविचारमें रहे उससे संतोष मानना चाहिये । जिस प्राणीको आत्मरुचि होती है उसका मन स्वयं ही उस तरफ चला जाता है। शक्तिके अभावसे यदि अधिक न रुके तो कोई आकुलता करके फिर धीरसे उस मनको अपने कार्य पर लाना चाहिये। इस तरह मन, वचन, कायको आत्मविचारके लिये तय्यार चाहिये ।

योग्य आहार विहार व नियमित

आत्मविचारके लिये यह भी आवश्यक है कि हमारा श[illegible] रूप से आलसी और भारी न हो । उसमें ज्वर, खा[illegible] [illegible] आक्रमण न हो, निद्रासे ग्रसीभूत न [illegible] बहुत जरूरी है कि हम सात्विक भोजनपान [illegible]

पर करें, ठीक समय पर शयन करें, ठीक समयपर और भी जो काम हों उनको करें। चित्तको समाधानीमें रखनेके लिये नियत समय पर नियमित काममें मन, वचन, कायकी क्रिया होनी चाहिये।

विचार करनेका प्रकार–आत्मविचार करनेके लिये अनेक प्रकार हैं। एक प्रकार यह भी है जो **आत्मादेव** हमारे शरीरमें व्यापक है उसको अत्यन्त निर्मल स्फटिककी मूर्ति समान जितना बड़ा अपना देह है उतना बड़ा आकार मनमें कल्पना कर उसे ज्ञानानन्दमय विचारना चाहिये। निश्चल बैठे हुए नेत्रोंसे और बाहर देखना बन्दकर तथा उन नेत्रोंको भीतर लगाकर अपने आत्माको ऊपर लिखे प्रमाण देखना चाहिये। तथा चित्तमें कभी अखण्ड ज्ञानपिंड कभी परम आनन्दमई इस तरह विचारना चाहिये। शब्दके आश्रयकी जरूरत पड़े तो **ॐ, सोऽहं, अ, अर्हं, सिद्ध, परमात्मन्, निरंजन** आदि आत्मवाचक शब्दोंको मन्द मन्द कहते रहना चाहिये। अथवा इस नीचे लिखे श्लोकको पढ़ते व उसका अर्थ विचारते रहना चाहिये–

एकोऽहं निर्मलः शुद्धो ज्ञानदर्शनलक्षणः
शेषा मे बाहिरा भावा सर्वे संयोग लक्षणाः।

अर्थात्–मैं एकाकी हूं मल रहित हूं, शुद्ध हूं, ज्ञान दर्शन लक्षणको रखनेवाला हूं। और सर्व भाव जो कर्मके संयोगसे मेरा हुए हैं वे सब मेरे स्वभावसे बाहर हैं। तथा ऐसे पाठ पढ़ना चाहिये जिसमें आत्माके स्वरूपको कहनेवाले अनेक श्लोक या छंद हों। कुछ चुने हुए ऐसे श्लोक इस पुस्तकके अंतमें पाठकोंके सुभीतेके लिये दिये जाते हैं।

इस तरह विचारते विचारते कोई समय ऐसा आएगा जब विचार बन्द होकर अपने आत्माके स्वरूपमें ऐसी एकाग्रता झलकेगी कि उस समय कुछ भी विकल्प न होकर अद्भुत सुख और शांति अनुभवमें आएगी ऐसी अनुभव दशा चाहे एक सेकंड मात्र भी क्यों न हो उस समय आप आपके सिवाय कोई नहीं अनुभवमें आयगा।*

इस तरह बारबार अभ्यास करनेसे सुख शांति जो अपने ही पास है उसका स्वाद आने लग जायगा।

एक साधारण अभ्यास करनेवालेके लिये भी यह उचित है कि वह सवेरे और शाम १०-१५ मिनट तो कमसे कम एकान्तमें बैठकर ऐसा विचार करे।

आत्माके विचार करनेके और भी प्रकार हैं, जैसे-

(१) अपने शरीरको एक कुंभ मानकर उसमें आत्माको शुद्धजलके रूप पूर्ण भरा हुआ व्यापक अनुभव करे।

---

* उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं।
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं॥
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥९।१॥

(समयसार कलश अमृतचन्द्र)

भावार्थ-जब इस सर्व ज्योतियोंको मंद करनेवाली आत्मज्योतिका अनुभव होता है तब नयोंकी लक्ष्मी नहीं उदय होती अर्थात् अपेक्षाओंके विकल्प नहीं रहते, प्रमाण अस्त होता है। नाम स्थापना आदि लोकमें व्यवहारके सहारे निक्षेपोंकी कल्पना भी न मालूम कहां चली जाती है और अधिक क्या कहें तब तो सिवाय-एक आत्माके द्वैत भी नहीं प्रतिभास होता है।

(३) अपने शरीरमें नाभि व हृदय स्थानमें चमकते हुए ओं शब्दको विराजमानकर उसका प्रकाश शरीरमें व्यापक होरहा है इसी तरह आत्मा प्रभु शरीरमें व्यापक है ऐसा चिन्तवन करे।

(४) अपने शरीरमें नाभि स्थानपर ऊपर मुख किये हुए एक श्वेत कमल चिंतवन करे जिसके १६ पत्र विचारे, उन पत्रोंपर अ आ आदि स्वर पीत रंगके लिखे, मध्यमें अर्हं या ॐ लिखे हृदयस्थानमें नीचा मुख किये काले रंगका एक कमल विचारे जो आठ पत्रका हो। नाभिकमलके मध्य र्हं या ॐसे अग्नि शिखा निकलती विचारे। यह शिखा हृदयस्थ कमलको जो कार्माण या कारण शरीरकी स्थापना रूप है जलाने लगे। फिर ऊपर आकर मस्तक परसे शरीरके तीन तरफ छाकर अग्निका त्रिकोण बना दे। तब यह विचारे कि भीतरकी अग्नि कारण शरीरको और बाहरकी अग्नि स्थूल शरीरको दग्ध कर रही है। आत्मा भीतर स्वच्छ बैठा है। इस तरह जो कुछ आत्माके साथ पुद्गलका सम्बन्ध था उसको जल कर अग्निने भस्म कर दिया और अग्नि शांत हो गई ऐसा पुन २ विचारे।

(५) बड़ी भारी तीव्र पवनके सचारको विचार करे जो मेरे आत्माके चारों तरफ घूमकर जो कुछ पुद्गलकी भस्म है उसको उडा रही है। आत्मा भीतर स्वच्छ है ऐसा पुन २ विचारे।

(६) मेघोंसे भारी जलकी वर्षा मेरे आत्मापर पड रही है जो कुछ भस्म रह गई है उसको धो रही है। आत्मा भीतर अत्यन्त निर्मल है ऐसा बार बार विचारे।

(७) आत्माको निर्मल पके हुए सोनाबाणीके सुवर्णके समान या स्फटिकके समान स्वच्छ अनुभव करे कि यह जलसे भी धोकर रत्नके सर्व संयोगसे हट गया है। परम पवित्र है।

(८) जैसे धान्यमें भीतर और बाहरके छिलकेसे चावलका दाना अलग है ऐसे भीतर कारण शरीर व उसके कार्य राग द्वेष मोह तथा बाहर प्रगट स्थूल शरीर इनसे आत्मा भगवान भिन्न है। जो ऐसा आत्मा है वही मैं हूं। इस तरह वार वार विचार करे।

(९) शरीररूपी एक मंदिर है उसमें आत्मारूपी देव परम शांत रूप आनंद रूप शरीर प्रमाण पुरुषाकार धारण किये हुए विराजमान है सो ही मैं हूं। मैं ही पूज्य मैं ही पूजक हूं। मैं ही ध्येय मैं ही ध्याता हूं। मैं ही ज्ञाता मैं ही ज्ञेय हूं। इस तरह बारबार अनुभव करे।

(१०) अपने शरीरमें वक्षस्थलके मध्यमें एक आठ पांखडीका कमल विचार करे। यह कमल श्वेतवर्णका है-इन पत्तोंपर १०८ बिंदु पीतरंगके गिने हुए देखे। इस तरह कि हरएक पत्तेके एक किनारे पर छ दूसरे किनारे पर छ ऐसे बारह २ बिंदु आठों ही पत्तोंपर विचारे तथा कर्णिकाके स्थान पर घराकारमें बारह बिंदु विचार करे, इस तरह १०८ बिन्दुओंको विचारकर ध्यानमें जमा ले। कुछ दिनके अभ्याससे ऐसा कमल प्रत्यक्ष दीखने लग जायगा, तब आगेके पूर्व दिशाके पत्रको ध्यानमें लेकर उसके हर बिंदुके उपर मंत्रकी जाप करे। जब यह हो जाय तब पश्चिमकी तरफके पत्रके बाहर बिंदुओंपर ऐसा

ही जपे। फिर दक्षिणके फिर उत्तरके इस तरह ४ दिशाओंके पूं
कर पूर्व और उत्तरके कोनेके, व उत्तर और पश्चिमके कोनेके
पश्चिम और दक्षिणके कोनेके, तथा दक्षिण और पूर्वके कोनें
बारह २ बिन्दुओंपर जप जावे। अतमें म यके बारह बिन्दुओंप
जपे इस तरह १०८ बार ॐ, अर्हं, सिद्ध, सोऽहं, परमात्मने नम
सिद्धाय नम, आदि मत्रोंको जप जावे। इन मत्रोंको जपते हु
मनके द्वारा अपने शरीरमात्रमें व्यात निर्मल आत्मा पर ही दृ
रखनी चाहिये। हरएक बिंदुपर मत्र कहकर सोचते रहना चाहि
कि मैं ज्ञानदर्शन आनदमय स्वरूपधारी हूं। यदि मन लीन हो जा
तो एक बिंदु पर हम बहुत देरतक भी ठहर सक्ते हैं। जब य
जाप पूर्ण हो जाय तब शात स्वरूप ज्ञानमय आत्माको ही अनु
भव करे।

(११) यह लोक सर्वत्र अनतानत आत्माओंसे भरा है
कोई स्थान ऐसा नहीं है जहा आत्मा नहीं। ये सब आत्मा
जाति अपेक्षा एक हैं। सब ही चेतना तथा आनन्दमय हैं, स
हीका सत् स्वरूप वास्तवमें शुद्ध निर्विकार है। इस तरह देखनें
यह सर्व लोकाकाश या विश्व एक आत्मामय शुद्ध क्षीर समुद्ररू
या शुद्ध स्वच्छ उद्योतरूप या शुद्ध स्फटिकरूप दीखनेमें आवेगा
उस समय अपनेको भी इसीमें मग्न लोकमात्र एक ज्ञानपिंडरू
अनुभव करे। जहा देखे वहा सत् चित् आनन्दमय पदार्थका ह
दर्शन करे। इस तरह अनुभव करे। यह अनुभव परम समत
भावको प्रगटानेवाला और परम सुख शातिका भोग करानेवाला है

इसी तरह आत्म-विचार व आत्मध्यान करनेके और भे

प्रकार हो सकते हैं। इन सर्व विचारोंके करनेमें मुख्यतासे आत्माके सत्स्वरूपकी पूर्ण रुचि आवश्यक है। जिस सत्स्वरूपको जानकर दृढ श्रद्धान किया है उसीका मनन करना सुख और शांतिको प्रगटानेवाला है। वह मनन या ध्यान जिस किसी रीतिसे चाहे जिस प्रकार हो वसी तरह उससे किया जा सकता है। ऊपरके कुछ प्रकार दृष्टांतरूपसे बताए गए हैं।

जब हमारा मन व जिस किसीका मन ऊपरकी तरह आत्म विचार व ध्यानमें न लगे तो हम आत्माके स्वरूपको कहनेवाले भजन, पद, गान आदि गा सक्ते हैं। यदि यों ही चित्त न लगे तो बाजेके साथ आत्मस्वरूपका भजन कर सक्ते हैं। अथवा आत्माके सत् स्वरूपको मुख्यतासे बतानेवाले जो शास्त्र हैं उनका स्वाध्याय विचारते हुए कर सक्ते हैं जैसे—

१ श्री परमात्म प्रकाश-योगेन्द्राचार्य कृत-सस्कृत टीका ब्रह्मदेव व हिन्दी टीका सहित . . १)

२ वृहत् द्रव्यसंग्रह-नेमिचद्र सिद्धांती कृत सस्कृत टीका ब्रह्मदेव व हिन्दी टीका सहित .... २।)

३ ज्ञानार्णव-शुभचद्राचार्य कृत हिन्दी टीका सहित ४)

४ श्री समयसार-कुंदकुंदाचार्य कृत, सस्कृत टीका अमृतचद्र और जयसेन व हिन्दी भाषा टीका सहित ४॥)

५ समयसार तात्पर्यवृत्तिकी हिन्दी टीका २।)

६ श्री परमाध्यात्मतरंगिणी-अमृतचद्र आचार्यकृत टीका शुभचद्र सस्कृत हिन्दी सहित .. ३॥)

७ श्री योगसार—अमितगति आचार्य कृत हिन्दी टीका १।।)
८ श्री अध्यात्मतरंगिणी—ज्ञानभूषणकृत हिन्दी टीका १।।)
९ श्री आत्मप्रबोध-कुमार कवि कृत हिन्दी टीका सहित ।।।)

सम्पादक (ब्र० शीतलप्रसादजी) कृत पुस्तकें ।

१० अनुभवानन्द	।।)
११ सुखसागर भजनावली	।।=)
१२ समयसार टीका (कुन्दकुन्दाचार्यकृत पृ २५०)	१।।)
१३ नियमसार टीका (कुन्दकुन्दाचार्यकृत)	१।।।)
१४ समाधिशतक टीका (पूज्यपादस्वामीकृत, पृ २०५)	१।)
१५ इष्टोपदेश टीका (पूज्यपाद कृत पृ १८०)	१।)
१६ स्वसमरानन्द-चेतन कर्म युद्ध	≡)

मिलनेका पता-आत्मधर्म्मसम्मेलन आफिस,
चन्दावाड़ी-सूरत ।

अथवा हम उन महात्माओंकी ध्यानाकार मूर्त्तिकी स्थापना कर जिन्होंने आत्मानंदका विलास किया था—परम वीतरागताका अनुभव किया था व साक्षात् परमात्मपद प्राप्त किया था उनको वही मानकर उसी तरह भक्ति करें, जिस तरह कहीं पर कोई राजा परदेशमें होता है तो उसकी प्रतिकृतिको रखकर वार्षिक राज्याभिषेकके उत्सव पर उसी प्रकारकी विनय करते हैं जैसी साक्षात् राजाकी होती है । इस तरह महान् आदर्शरूप पुरुषोंकी ध्यानाकार मूर्तिके सम्बन्धसे तथा जल चन्दन अक्षत आदि द्रव्य

को चढ़ाते हुए व उस सम्बन्धी लिखे या छंदोंको कहते हुए व स्तुति पढ़ते हुए तथा अंतरंगमें आत्मगुणका चिंतवन करते हुए इस तरह पूजा व भक्ति करनेसे भी सुख शांतिका लाभ होता है। यहां यह स्थापना हमारे मनके लिये विचार करनेको मात्र एक अवलम्बन मात्र है। भक्तिके पीछे हम वहीं खड़े हुए अपने आत्माके भीतर उसी प्रकार अनुभव करें।

जिस तरहसे भी अपने आत्माके गुणोंका विचार हो सके उस तरह अभ्यास करते हुए सुख व शांतिका लाभकर जीवनको आनन्दमय बनाना चाहिये। स्वरूपानुभवमें ही सुखशांति है, अन्य रूपसे नहीं।

जब अभ्यास दशा होती है तो पूजा, भक्ति, भजन, ग्रन्थ वाचन, विचार, ध्यान आदि सभी उपायोंसे आत्माके गुणोंकी तरफ अपने मनकी दौड़ बारबार जानेके लिये अभ्यास करना होता है। जैसे मक्खी अनेक पुष्पोंसे मधुको ग्रहणकर संग्रह करती है व स्वाद लेती है उसी तरह अभ्यास करनेवाले आत्मतत्व खोजीको होना चाहिये।

सुख व शांतिके अनुभवके लिये मुख्य बात आत्माके स्वस्वरूपका यथार्थ ज्ञान है। जब तक दृढ़श्रद्धा व रुचिसहित सुखके भंडार आत्मपदार्[illegible] । तब तक हम जिस तरह इस तरफ अपन [illegible]

जाता है उसी तरह आत्मरुचिकारी मनका भाव बारबार अपनी आत्माके सत्स्वरूप पर जाता है।*

तथा जिसको जितनी निश्चिंतता व अवकाश होता है वह उतना ही आत्माके विचारमें लगातार रह सक्ता है। परन्तु यह आत्मनिश्चय हरएक मनुष्यको हो सक्ता है चाहे वह जिस देशका हो। इसके लिये यह बाधा नहीं है कि वह भारतका जन्मा नहीं है। युरोप, अमेरिका, आफ्रिका, आष्ट्रेलिया कोई भी द्वीप व कोई भी देशका हो तथा वह कोई भी वर्ण व जातिका हो, चाहे वह उच्च घरानेका हो या नीच घरानेका हो, चाहे वह ऊंचा उत्तम व्यापार करता हो चाहे वह नीचा-मजदूरी आदिसे पेट भरता हो, चाहे युद्धका सिपाही हो चाहे वह कूड़ा ढोनेवाला महतर हो, हरएक मनुष्यके लिये यह आत्माका सत्स्वरूप क्या है व मेरा सत्स्वरूप क्या है व मैं कौन हूं? इस प्रश्नका समाधान होकर निर्णय हो जाना और शङ्का रहित निश्चय प्राप्त होजाना बाधक नहीं है। यद्यपि भिन्न २ स्थितिके लोग भिन्न २ गृहस्थीके आडम्बरोंमें पड़े हुए एकसा अवकाश आत्मविचारका नहीं पा सक्ते, तो भी जो आत्मरुचि है वह कोई भी काम करते हुए जब स्मरणमें आ-

---

* यत्रैवाहितधीः पुंस श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥ ९५ ॥

(समाधिशतक पूज्यपाद)

भावार्थ-जिधर मानवकी बुद्धि जमती है उधर ही श्रद्धा या रुचि पैदा होती है तथा जहां ही श्रद्धा होती है वहां ही चित्त लीन होता है।

जाती है तब सुख व शांतिका अनुभव उस क्षणमें कराके रहती है । एक युद्धसे लड़नेवाला सिपाही जब कभी आत्माकी तरफ मनको ले जाता है तुरत सुख शांतिका अमृत पीकर संतुष्ट होकर ताजा हो जाता है । युद्धमें मारे जानेपर व कंठगत प्राण होनेपर यह आत्मरुचि एक ऐसी वस्तु है जो तुर्त चित्तसे युद्ध सम्बंधी विचार व शत्रुके द्वेषको हटा देती है और आप आकर उस मरनेवाले प्राणीको सुख व शांतिका अमृत पिलाती है जिसको पीता हुआ वह सुखसे देह छोड़ किसी अच्छे शरीरमें प्राप्त होता है । इस आत्माकी रुचिकी महिमा कही नहीं जा सकती ।

जगतके कल्याणका यदि कोई सच्चा उपाय है तो यह आत्माकी रुचि है । आत्मरुचिके साथ आत्माका विचार करते करने ऐसी अवस्था हो सक्ती है कि उस मानवको विना किसी श्रमके स्वयं आत्माका दर्शन हो जाया करे । जब दृढ़ अभ्यास हो जाता है तब जैसे कपड़े पहने हुए मनुष्योंको देखकर सहज ही यह भाव होता है कि यह कपड़े अलग हैं तथा यह मनुष्य भीतर नगा अलग है उसी तरह अपने व दूसरोंके शरीरोंको देख कर यही ज्ञान होता है कि इन शरीरादिके भीतर चैतन्य ज्योति जो कोई है वही आनन्दमई प्रभु है और वही सुख [redacted] शांति भंडार है । *

* घन वस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ।६३॥

(समाधिशतक पूज्यपाद

इसीसे यह निश्चय रखना चाहिये कि जिस सुख व शांतिको हम चाहते हैं वह हमारी ही आत्मामें है और वह आत्माके सत्स्वरूपका निश्चयपूर्वक मनन, मनन, भक्ति, विचार व ध्यान आदि अनेक उपायोंसे अनुभवमें आती है । इसीलिये अभ्यास करनेवालेको २४ घंटेमेंसे कुछ भी समय इस आत्मविचारके लिये निकालकर परमसुखके विलासका उपाय करना चाहिये ।

ऊपर जो आत्माके विचारके अभ्यासीके लिये यह कहा कि वह अपनी देहमें देह प्रमाण स्फटिककी मूर्तिवत् आत्माको विचारे वह इस लिये कहा गया कि मन जब तक कोई नकशा या रूप अपने अवलम्बनके लिये नहीं पाता है तब तक वह उधर लक्ष्य नहीं जमाता है । इस लिये यह एक आश्रय मात्र है । पर जब अभ्यास अधिक हो जाता है तब मनमें एक दफे स्मरण किया कि आत्मा आप अपनेको अपनेमें आप ही अनुभव करता है—उस समय उस दशाको स्वसंवेदन दशा या स्वानुभव दशा कहते हैं । उस समय आत्माका जैसा कुछ सत्स्वरूप चैतन्यमई और आनन्दमई है वैसा उसके अनुभवमें होता है—उस समय कोई संकल्प विकल्प नहीं रहते । उस समय मन भी परे रह चुपसा हो जाता है । जब वह दशा हटती है तब मनमें यह विकल्प होता है कि इतनी देर मैंने महा आनन्द भोगा ।



भावार्थ—नये कपड़ेको देख कर जैसे शरीरको घन नहीं समझा जाता उसी तरह घनी या मोटी देहको देखकर बुद्धिमान आत्माको घन नहीं मानता है ।

चौथा अध्याय।

जगतके साथ काम करनेका मार्ग प्रेम और प्रेमरूप व्यवहार है।

यह बात पहले कही जा चुकी है कि हरएक प्राणीमें भिन्न २ आत्मा है। आत्माकी सत्ता सदासे है और सदा रहेगी। पर आत्मा जब शरीरोंके साथ है तब उन शरीरोंको अपना सेवक व कोई २ स्वयं आप ही मानकर उनसे व उनके सहकारी और पदार्थोंसे राग करता है। इसलिये हरएक आदमी चाहता है कि मुझे अर्थात् मेरे सेवकोंको या जिनको मैं नामसे कहता हूं उनको कोई अन्य प्राणी अपने मन, वचन, कायसे किसी प्रकारका दुःख न देवे। जिसका मतलब यह होता है कि कोई मुझसे द्वेषभाव न करे अर्थात् मेरी तरफ अन्य प्राणियोंका प्रेमभाव हो, तब जिन किसीके भावमें सबसे प्रेमभाव चाहनेकी इच्छा होगी उनका यह स्वयं कर्तव्य या धर्म होजाता है कि वह स्वयं किसीसे द्वेषभाव न करके प्रेमभाव रक्खे अर्थात् अपने भावोंमें जगतके साथ प्रेम भाव करे, प्रेमके साथ बोले और प्रेमके साथ वर्ते। जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ वर्तें वैसा हमको भी दूसरोंके साथ वर्तना चाहिये।

इसीसे यह हरएक प्राणीका धर्म है कि अन्य प्राणियोंका बुरा न विचारे, उनके प्रति अहितकर वचन न कहे, उनकी बुराई न करे अर्थात् सबके साथ प्रेमभाव रखकर हित सोचे करे।

इस सिद्धांतको अहिंसाका सिद्धांत कहते हैं। जैसा पहले कह चुके हैं कि सुख व शांतिके लिये आत्मविचारकी आवश्यकता है और वह आत्मविचार आत्माके सत्स्वरूपके निश्चय पर अवलम्बन रखता है। इससे आत्मनिश्चय ही वह जड़ है जिस पर सुख शांतिका लाभ निर्भर है। इसी तरह हम जगतके साथ प्रेमपूर्वक व अपने साथ जगत प्रेमपूर्वक वर्ते यह बात सुख व शांतिके बाहरी निमित्त जो हमारे मन, वचन काय हैं व अन्य सम्बन्ध हैं उनको योग्यताके साथ टिके रहनेके लिये कारणभूत है। इस प्रेम पूर्वक वर्तनकी जड़ अहिंसाके सिद्धांतकी रुचि है। अपना आत्मा सो ही दूसरोंकी आत्मा, अपने आत्माके सम्बन्धी मन वचन काय सो ही दूसरोंके सम्बन्धी मन वचन काय, अपने मन वचन कायोंको क्लेश सो ही दूसरोंके मन, वचन कायोंके क्लेश, इस तरह जो अपने आपको जगतके एक शरीरमें रहे हुए आत्माके समान जानता है वह अहिंसाके सिद्धांतको भलेप्रकार समझता है जिसका भाव यह है कि जैसे एक शरीरके किसी अंग या उपांगमें कोई पीड़ा होती है तो सारा शरीर पीड़ित हो जाता है यहां तक कि यदि पगमें कोई कांटा भी लग जावे तो उसके स्पर्शके ज्ञानसे जो कुछ वेदना होती है वह सर्व शरीरको होती है। और यदि कोई भी इन्द्रिय या मन किसी विषयसे संतोष प्राप्त करे तो सारा शरीर उस निमित्तसे प्रफुल्लित हो जाता है—रोमांच खड़े हो जाते हैं। इसी तरह जब हमने जगतको एक शरीर माना और जगतके भीतर भिन्न २ प्राणियोंके सामान्य समुदायको अंग और उस अंगसे आश्रयीभूत प्रत्येक प्राणीको

उपग माना तब जैसे एक किसी उपग या अगमें कष्ट हो तो वह सारे जगतरूपी शरीरको उस कष्टका बोध होना चाहिये। इसी तरह यदि किसी अग या उपगमें साता हो तो सारे जगतरूपी शरीरको उस साताका बोध होना चाहिये। अर्थात् जगतके दु खमें दु खी और सुखमें सुखी होना चाहिये। इस कहनेका अभिप्राय यही लेना चाहिये कि वह अपनेको जगतका एक उपग समझे और जगतके किसी भी अग या उपगमें जो दु ख हो या उस पर आपत्ति आये उसे अपनी आपत्ति समझे यही जगद्व्यापी **अहिंसाका सिद्धात** है। इसी सिद्धातका अनुयायी आप निर्भयरूप रहता है और जगतको अभयदान देता है अर्थात् उनके लिये आप भयरूप नहीं होता है इसी सिद्धांतको जगतप्रेम Universal love या जगत भ्रातृभाव Universal Brotherhood कहते हैं। यह जगत प्रेमके सिद्धातका श्रद्धान सतोषित और प्रफुल्लित रखनेवाला है। इसके विरुद्ध द्वेषके सिद्धातका श्रद्धान असतोषित और ग्लानित रखनेवाला है। जगतप्रेमकी रुचि जब होती है, मन पवित्र, बलवान, दृढ और साहसी रहता है, वचनोंमें प्रेमरस, विश्वासयुक्तता, बलिष्ठता, सत्यता, निर्भयता और साहसपन रहता है, शरीरमें प्रफुल्लता, बलिष्ठता, दृढता, निरोगता, कार्यकुशलता तथा सौन्दर्य रहता है। इसके विरुद्ध द्वेषकी रुचि मनको ग्लानित, निर्बल, दीन, वचनको निर्बल, असत्य और भय सहित तथा शरीरको उदास, निर्बल, रोग सहित, कार्यविमुख और कुरूप कर देती है।

यह बात सबको प्रगट है कि हर्षकी बात सुननेसे व एक

मित्रका दर्शन करनेसे चित्त व शरीर प्रफुल्लित होता जब कि दुःखकी बात सुननेसे शत्रुका दर्शन होनेसे, मन उदास, दुःखी व शरीर विकृत आकार तथा क्लेशित दिखता है। *

* अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ॥
दत्ते तद्देहिनां नायं तपः श्रुतयमोत्करः ॥ ८७ ॥
किमत्र्यहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥
अभयं यच्छभूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥ ५२ ॥
जायन्ते भूतयः पुंसां याः कृपाक्रान्तचेतसाम् ।
चिरेणापि न ता वक्तुं शक्ता देव्यपि भारती ॥ ५३ ॥
किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना ।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥ ५४ ॥
यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते ॥ ५५ ॥
यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम् ।
दौर्भाग्यादिसमस्तं तद्धिंसा सम्भवं ज्ञेयम् ॥ ५८ ॥

(ज्ञानार्णव अहिंसा प्र० शुभचन्द्रकृत)

भावार्थ-यह अहिंसा अकेली ही जीवोंको जो सुख, कल्याण तथा अभ्युदय देती है वह तप, स्वाध्याय और यम नियमादि नहीं दे सकते। यह अहिंसा प्राणियोंकी माताके समान रक्षिका तथा स्त्रीके समान रमानेवाली और सरस्वतीके समान सदुपदेश देनेवाली है। हे मूर्ख! तू प्राणियोंको अभयदान दे, उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर और सब चर अचर विश्वके प्राणियोंको अपने समान देख। दयावान मानवोंको जो विभूतियें प्राप्त होती हैं उनका वर्णन सरस्वती देवी भी बहुत काल करे तो भी नहीं कर सकती। जिसने प्राणियोंसे प्रीतिकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप न तपा व कौनसा दान नहीं दिया?

प्रत्येक प्राणीके लिये यह आवश्यक है कि जिन कारणों या मन वचन काय आदि सहायकोंसे जगतमें चलना है उनको सुंदर, प्रफुल्लित, दृढ़, साहसी, बलिष्ठ, और पवित्र रखें तब ही वे योग्य व्यवहार कर सकेंगे। तब यह उचित हो जाता है कि प्रत्येक मानव प्रेम रसका प्याला पिये-प्रेमभावको गलेका हार बनावे-पवित्र प्रेमके रगमें रंगे-निःस्वार्थ भावसे प्रेमका अनुयायी हो यही अहिंसाके सिद्धांतका मानना है। इसीलिये हमें यह भी उचित नहीं है कि हम अपने भावोंमें घृणाके भावको लावें। हममें सहनशीलता, जुगुप्सा रहितता, द्वेषकी अभावता अवश्य रहनी चाहिये। जगतमें भिन्न २ धर्मके उपासक लोग हैं उनसे कोई घृणा या द्वेषभाव न लाना चाहिये। जगतमें भिन्न २ देश, भिन्न २ वर्ण, भिन्न २ जाति, भिन्न २ व्यवसाय, भिन्न २ प्रकृतिके लोग हैं उनमें हमें किसी पर भी द्वेष या घृणाका भाव नहीं रखना चाहिये। उन सब प्राणियोंको भिन्न २ रंगके वस्त्र पहरे हुए अपने ही भाइयोंके समान जानना चाहिये। आत्माकी जाति समान है। भिन्न २ सूक्ष्म व स्थूल शरीरोंके सम्बन्ध भिन्न २ प्रकारके वस्त्र हैं। ऊपरके फर्कसे उन पर कुभाव रखना वृथा अपने मन, वचन, कायको निर्बल रखना है। यह बात भी बहुत ठीक है कि जो कोई अप्रेम भाव अपनेमें होगा उसका बुरा

अर्थात् सब तप व दान किया। मनुष्यके हृदयमें जैसे जैसे दया भाव स्थिर होता है वैसे वैसे चित्तरूपी रूपी परम प्रीति प्रकाश करती है। इस संसारमें जीवोंके जो कुछ दुःख, शोक व भयका बीज तथा दुर्भाग्य आदि हैं सो सब हिंसासे पैदा हुए जानो।

असर पहले अपने ही मन, वचन, काय पर पड़ेगा। दूसरेकी बुराई उसकी स्थितिके ऊपर है। इसीलिये यह भी विद्वानोंका वचन है कि मानवोंको अपने दिलमें सदा यह भावना रखना चाहिये कि मैं सर्व प्राणीमात्रके साथ मैत्री या प्रेमभाव रक्खु, गुणवानोंके ऊपर प्रमोद या हर्षभाव करूं, दुःखी प्राणियों पर दयाभाव करूं और जो अपनी सम्मतिसे विपरीत हैं, अविनयी हैं, दुष्ट हैं व मूर्ख हठी हैं उन पर माध्यस्थ भाव अर्थात् राग-द्वेषसे रहित समभाव रक्खू। व्यवहारमें चलनेवाले मनुष्यको इस तरहका प्रेम या शुभ भाव अपने मनमें रखना चाहिये। यही भाव हमारी आत्मोन्नतिमें बाधक न होकर मानसिक, शारीरिक तथा आर्थिक, सामाजिक व राष्ट्रीय उन्नतिमें सहायक है।

इसी सिद्धांतको मनमें रखनेवाला एक क्षत्री राजा अपने शत्रु राजाको वश तो करना चाहेगा पर भीतरसे उसकी आत्माका व उसके मन, वचन कायोंका बुरा हो ऐसी भावना न करेगा। इसका मतलब यह है कि वह उसको अपने आधीन कर लेगा। जब वह आधीन हो जायगा तब उसको क्षमा देकर उसका यथोचित आदर करेगा। यदि वशमें न आवेगा तो फिर युद्धमें जो हो सो हो। अन्य उपायसे आधीन न होनेवाले शत्रुके लिये तो युद्ध ही करना होता है। तथा ऐसा युद्ध करते हुए भी यदि उसे बाहरसे द्वेष भाव दिखाना व द्वेषरूप व्यवहार करना पड़ता है पर भीतर मनमें उसका सर्वथा बुरा हो ऐसा नहीं चाहता है। इसीसे अहिंसाके सिद्धांतका माननेवाला उन उपायोंकी सदा ताक रखता है जिससे शत्रु जीता हुआ ही अपने आधीन हो जावे।

यद्यपि अहिंसाका सिद्धांत परम सुखदायी सिद्धान्त है तो भी इसका व्यवहारमें पूर्ण वर्तन हरएक मनुष्यसे उस सिद्धांतको अपनी रुचिसे अच्छा मानने पर भी उसी तरह नहीं हो सक्ता जिस तरह आत्म के सत्स्वरूपका पक्का रुचिवान होने पर भी उसी स्वरूपके ध्यानमें हरसमय लवलीन रहना हरएक मनुष्यसे नहीं हो सक्ता। इसका कारण यही है कि जगतमें अनेक प्रकारकी स्थितिके मनुष्य हैं–सबके मन, वचन, काय एकसे नहीं व सबके बाहरी सयोग एकसे नहीं। इससे ऐसे सिद्धांतका रुचिवान भी अपनी शक्ति, स्थिति व बाहरी सयोगोंके अनुकूल इस अहिंसा व प्रेमके सिद्धांतका पालन कर सकता है। जैसे किसीका पुत्र बीमार है वह चाहता तो यह है कि मैं इसकी ऐसी सेवा करूं जिससे यह इसी समय अच्छा हो जाय पर अपनी शक्तिके अभावमें वह ऐसा करनेके लिये लाचार हो जाता है ऐसे ही यह मानव अहिंसाको प्यार करते हुए भी उसका पालन अपनी शक्ति स्थिति व सयोगोंके बाहर नहीं कर सक्ता।

जगतके भीतर व्यवहारमें वर्तन करनेवाले लोगोंके हिंसा दो प्रकारकी देखी जाती है। एक निरर्थक, दूसरी सार्थक। जगतके अधिक मानव निरर्थक हिंसा करके जगतके प्राणियोंका सहार करते हैं। इसलिये मानवोंको निरर्थक हिंसासे बिलकुल बचकर सार्थक हिंसाको भी अपनी जैसी स्थिति हो उसके अनुकूल मर्यादामें रहते हुए यथाशक्ति घटाते चले जाना चाहिये। इसतरह व्यवहारमें चलते हुए जब किसी मानवको ऐसी स्थिति हो जाती है कि वह पूर्ण अहिंसाका पालन करे तब वह उसे

अवश्य पालन करता है और अपने प्रेमसे भरे हुए श्रद्धानके अनुकूल अपना प्रेममयी चारित्र देखकर कृतार्थ और सुखी हो जाता है। यही अहिंसाके पालनकी विधि है।

निरर्थक हिंसाके प्रकार-(१) धर्मके नामसे हिंसा–जगतके मनुष्योंमें इस तरहका श्रद्धान बैठा हुआ है कि कोई ईश्वर, देव या देवी ऐसे हैं जो इस बातसे प्रसन्न होते हैं कि उनके नामसे भैंस, बकरा, गाय, घोडा, बैल, भेड, मुरगा आदि पशुओंका तथा मनुष्यका वध किया जाय अर्थात् इनकी बलि की जाय तो वे इस प्रसन्नताके बदलेमें पुत्र, पौत्र, सम्पत्ति, राज्य, स्वर्ग आदि देते हैं। इस श्रद्धाके वशमें पडकर भारतवर्षमें पहले बहुत यज्ञ होते थे जिनमें बहुत पशु निर्दयतासे वध किये जाते थे व ऐसे यज्ञ अब भी कभी कभी हो जाते हैं परन्तु देवी देवताओंके मठोंपर पशुओंको उनके सामने मारकर चढानेका रिवाज तो अभीतक चल रहा है। जिस काममें साक्षात पशु मारे जाते हों वहा मारनेवाले व ऐसा करनेकी आज्ञा देनेवालेके कैसे क्रूर भाव होते होंगे ? उन भावोंका फल शुभ कैसे हो सक्ता है ? जहा अप्रम या द्वेषभाव इतना भारी हो कि इन पशुओंकी हिंसासे यृथा ही स्वार्थसिद्धि होती समझी जाय वहा पुण्यबंध हो यह कैसे माना जाय ? भारतमें जो ऐसा कहते व करते हैं उन्हीके माने हुए व्यासजीका यह वचन है–

परोपकार सुखाय, दुःखाय परपीडनम् ।
अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ॥

जिसका अर्थ यह है कि अठारह पुराणोंमें व्यासजीका यही वचन है कि पराया उपकार करना जब सुखके लिये तब दूसरोंको पीड़ा देनी दुःखके लिये है। परंतु हमें यहां इस सम्बन्धमें अधिक विचार न करके इतना ही अपनी साधारण बुद्धिसे विचारना चाहिये कि इस तरह किसी देवी देवताको प्रसन्न करके पुत्र, पौत्र, धनादि प्राप्तिके लिये एसे पशुवध करना योग्य है या नहीं ? साधारण बुद्धि इस बातको स्वीकार कर लेती यदि इस कार्यके विना धनादि नहीं प्राप्त होते। करोड़ों मानव इस हिंसामई भावको भी न करके बाहरी अपने द्वारा किये हुए अनेक उद्योगोंसे और अंतरंगमें पुण्य कर्मके विपाककी सहायतासे धन, पुत्र, पौत्र, राज्य आदिका लाभ करते है और जगत्‌की दृष्टिमें सुखी दीख पड़ते हैं। यदि देवी देवताओंसे मिलती तो ऐसा करनेकी जरूरत न थी। इसलिये इस तरहकी हिंसा निरर्थक हिंसाका एक प्रकार है। विचारवान मनुष्यको ऐसी हिंसा न स्वयं करना न कराना चाहिये। किन्तु भारतमें जो इस हेतु बेगिनती पशुओंपर निर्दयता होती है उसको अपनी शक्तिभर बहुत प्रेमके साथ किसी प्रकारकी घृणा न करके दोष दृष्टि दिखाकर दूर कराना चाहिये। *

---

* धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥

(पुरुषार्थ सि० अमृतचन्द्र)

भावार्थ-धर्म देवताओंसे बढ़ता है इस लिये सब कुछ उनको देना इस एसी खोटी बुद्धिको धारकर प्राणियोंकी हिंसा न करनी चाहिये।

शिकार व खेल तमाशेके लिये शौकीनी हिंसा–
जगतमें कुछ लोग ऐसे भी पाए जाते हैं जो अपनी शौक पूरी करने, मजा उड़ाने व खेल तमाशा करनेके लिये पशुओंकी हत्या व उनको कष्ट देनेमें कुछ भी विचार नहीं करते। बड़े दुःखके साथ कहना पड़ता है कि इन लोगोंका विचार निरर्थक या बे-मतलब हिंसा करनेका है क्योंकि अपने मनमें जो एक कल्पना उठी कि इस मनको राजी करें उसके लिये कोई हिंसा रहित खेल तमाशे आदिसे अपना काम अच्छी तरह निकाला जा सकता है जैसे गेंद खेलना, दौड़ करना, गाना बजाना आदि। ऐसे खेल जिनमें पशुओं, पक्षियों जलचरोंकी हिंसा हो उनको कष्ट हो और हम उनको मरते व दुःखी होते देखकर खुशी मनावें, कभी भी उचित नहीं हो सक्ता। क्या यह ठीक है कि हमारी बन्दूक या तीरसे दीन हिरण मारा जाय? क्या यह उचित है कि स्वतन्त्रतासे घूमनेवाले कपोत, काक आदि पक्षियोंको हम केवल शौकके वश हो बाण या बन्दूकसे मार डालें? क्या यह निर्दयता नहीं है कि जलकी मछलियोंको जलसे निकाल जमीनपर डालना और उनकी तड़फनको देखकर खुश होना? इसी तरह जिस पशुबध या पशुकष्टमें अपने मनका केवल शौक मात्र पूरा हो ऐसा शिकार आदि खेल करना मानवके लिये उचित नहीं है। बहुतसे लोग पशु पक्षियोंको आपसमें लड़ाकर उनका तमाशा होकर आप खुश होते हैं सो ऐसा भी करना ठीक नहीं है क्योंकि इससे पशु पक्षी परस्पर घायल हो जाते हैं तथा कभी कभी कोई मर भी जाता है। इसीतरह बहुतसी अजैन स्त्रिया या

लड़के जो टोपी पहनते हैं उनमें पक्षियोंके पर लगाते हैं जिससे ऐसा समझते हैं कि हम बहुत अच्छे दिखेंगे। इस शौकके कारण परोंका व्यापार इतना बढ़ा है कि बहुतसे शिकारियोंने यह धन्धा कर लिया है कि पक्षियोंको मारकर पर लाना और बेचना। किसीकी हानि न करके स्वच्छंदतासे घूमनेवाला पक्षियोंका इस प्रथाके शौकसे संहार होता है। इसे भी रोका जा सक्ता है। शौकके कारण चमड़ेकी वस्तुओंका व्यवहार यहां तक बढ़ गया है कि टोपीमें चमड़ा, कमरबंधमें चमड़ा, चमड़ेका बेग, चमड़ेका बिस्तरबंध चमड़ा लगी घड़ी आदि चर्म वस्तुओंके अधिक प्रचार होनेसे चर्मका व्यापार बढ़ गया है। चर्मकी आवश्यक्ताने यह अवस्था कर दी है जिससे अनेक बैल, भैंस, गाय आदि पशु तक अच्छे दामोंमें कसाइयोंके हाथ बेंचे जाते हैं और अपने प्राण गमाते हैं। यह भी निरर्थक हिंसा है। जूतोंका रिवाज बहुत दिनोंसे है इसे यदि रहने दिया जाय तो और वस्तुएं जो कपडे आदिकी बनी बहुत अच्छी मिल सक्ती हैं उनको व्यवहार करके क्यों न अधिक चर्मके व्यवहारको बंद करके पशु हिंसाके रोकनेमें सहाई हुआ जाय? जूतोंके लिये भी जो दयावान हैं वे कपडे रबड आदिके चर्म रहित साधारण और बढ़िया जूते जो मिल सक्ते हैं उनको यदि काममें लेवें और चर्मके जूतोंके रिवाज कम करें तो और भी अधिक पशु हिंसाका निरोध हो सके।

हड्डीकी वस्तुओंका रिवाज भी एक शौकीनी रिवाज है। इस कारण भी बहुतसे पशु निर्दयतासे मारे जाते हैं। हाथी दांतके

अधिक खर्च होनेसे हाथियोंको बड़ी निर्दयतासे या तो शस्त्रसे या भूखा रखकर मारा जाता है। भारतकी बहुतसी स्त्री समाजमें हाथीदांतकी चूड़ियोंके पहननेका शौक है। दयावानोंको उचित है कि इस शौकको बंद करें।

हड्डी मिली या उससे साफ की हुई शक्करका भी रिवाज बहुत हो गया है जिससे हड्डीका व्यापार चमकनेसे भारतमें बहुतसे पशु इसलिये मार डाले जाते हैं। यदि जनसमुदाय प्राचीन कालके अनुसार ईख आदि रसोंकी बनी देशी शक्कर काममें लावे और हड्डी वाली शक्करको काममें न लेवें तो बहुतसे पशुओंका वध बन्द हो सकता है। यह भी एक शौकीनी निरर्थक हिंसा है। क्योंकि लोग इस शक्करका रंग बहुत सफेद देखकर व्यवहार करते हैं कि उससे बनी वस्तु बहुत श्वेत दीखेगी। जो वस्तु खानेके काममें आती है उसमें रसकी स्वच्छता व अधिकता न देखकर रंगत पर लुभाना मूर्ख शौकीन लोगोंका काम है। बहुतसे लोग अपनी शौकीनीमें पड़कर अपने यहां पले हुए घोड़ोंकी दुम काट डालते हैं जिससे बिचारे घोड़ोंको बहुत तकलीफ होती है। घोड़ोंके पास दुम उनको अपने शरीर पर बैठनेवाली मक्खी, मच्छर आदि जन्तुओंको उड़ानेके काममें आती है। दुम न रहनेसे उनको बहुत बड़ा कष्ट सहना पड़ता है। ऐसी अनेक हिंसाएं हैं जो जनसमुदाय केवल शौकमें पड़ अन्धा होकर टालता है। ऊपर कुछ दृष्टांत मात्र बताए गए हैं।

(२) बेपरवाहीसे हिंसा—मनुष्योंकी बेपरवाहीसे वृथा ही पशु पक्षियोंको बहुत कष्ट भोगना पड़ जाता है। जैसे

बाजारोंमें जो पक्षी बिकने आते हैं उनमें बहुतोंको ऐसे छोटे २ टोकरों या पिंजरोंमें रखा जाता है जिनमें रहकर वे ठीक २ श्वास भी नहीं ले सके। उनको भूखे प्यासे बंद रहकर जो त्रास भोगना पड़ता है उसका वर्णन होना शक्य नहीं है। इसी तरह जो बैलादि पशु मारे जानेके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानपर भेजे जाते हैं उनको बहुत ही तंग स्थानमें बंदकर भेजा जाता है जिससे वे महादुःखी होते हैं। बाजारोंमें जो पक्षियोंको खरीद कर नौकर आदि लाते हैं वे उनको परोंसे पकड़कर मुंह उल्टा करके लाते हैं ऐसी स्थितिमें मारे जानेके पहले ही उनको बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसी ही और भी मनुष्योंकी बेपरवाहीसे जो हिंसा होती है वह निरर्थक हिंसा है।

(४) औषधिके लिये पशुघात—इस जगतमें जड़ी बूटियोंकी इतनी बहुलता है कि जिससे प्राय सभी रोगोंके लिये दवाइयां बन जाती व बनाई जा सक्ती हैं। आयुर्वेदीय व युनानी चिकित्सामें वैद्य या हकीम लोग इन्हीं जड़ी बूटियोंका अथवा फुकी हुई धातुओंका प्रयोग करते हैं। इन्हींसे बड़े २ रोगोंको अच्छा करते हैं। डाक्टरीमें भी हजारों औषधें इन्हीं जड़ी बूटियोंकी बनी जाती हैं, परंतु वे उनमें प्राय शराब आदि मिला देते हैं। तथा जिनके चित्तमें दया नहीं होती वे गाय, भेड़, मुरगे, मछली आदि पशुओंके मांसका सत निकालकर व तेल आदि तय्यारकर खाने पीनेके लिये देते हैं। यदि इनको काममें न लिया जाय तो मनुष्य समाजकी कोई हानि नहीं हो सक्ती है। बिना मांसादिके ही रोगोंकी औषधियां बन सक्ती हैं, पर जो लोग मांसा-

हारी हैं और डाक्टर हैं उनके चित्तमें यह दयाभाव नहीं । जब रोगका इलाज और प्रकारसे हो सक्ता है तब औषधिके लिये पशु पक्षी व जलमत्स्यादिका घात निरर्थक हिंसा ही है ।

(५) **मांसाहारके लिये हिंसा**—मांस भोजनके लिये हिंसा होनी भी निरर्थक है । क्योंकि जिस मनुष्यके लिये मांस लाया जाता है उस मनुष्यका शरीर ही मांस खानेमें योग्य नहीं है। इस बात पर जर्मनीके डाक्टर लुईस कोहनी (Louis Kohne) की बनाई हुई पुस्तक New science of healing न्यू साइन्स ओफ हीलिंग अच्छे होनेकी नई विद्यामें बहुत वादानुवाद करके समझाया है कि मनुष्यके शरीरमें दांत ऐसे होते हैं जो न मांसाहारी पशुओंसे, न साग घास खानेवाले और न मांस और घास खानेवाले पशुओंसे मिलते किंतु फल खानेवाले पशुओंसे मिलते हैं । बन्दर और मनुष्यके दांतोंमें बहुत अशमें समानता है । मनुष्यका पेट भी फल खानेवाले पशुओंके साथ मिलता है । इसमें भी बन्दर ही का दृष्टांत है । मनुष्य जो कुछ भोजन करता है उसके पास नाक, जवान इसीलिये है कि वह उनकी गंध और स्वादको जानकर फिर उसको पेटमें डाले । मनुष्यकी नाककी । न स्वभाव हीसे फल व वनस्पतिकी ही तरफ दौड़ती है । वह कभी भी शिकारी जानवरकी तरह किसी पशुपर न दौडेगी । इसी तरह जवान भी स्वभावसे फलके रसको लेना पसन्द करेगी वह कभी भी किसी पशुके कच्चे मांसको स्वादना पसन्द न करेगी । जैसे फल खानेवाले पशु खेत और फलदार वृक्षों ही की तरफ जाकर फल खाना पसंद करते हैं वैसे मनुष्योंका भी स्वभावसे यही

हाल है । कचा मास किसी भी मनुष्यकी नाक व व आखको पसन्द नहीं पड़ेगा । उसको अनेक मसाले डालकर पकाकर स्वादयुक्त बनाया जाता है । तो भी उसमेंसे दुर्गंध नहीं जाती । जिस बालकने कभी मास नहीं खाया है उसको वह कभी भी पसद नहीं आ सक्ता । छोटे बच्चे माताका दूध पीते हैं । यह दूध मासाहारी स्त्रियोंके कम होता है । जर्मनीमें बच्चोंको पालनके लिये वे धाय बुलाई जाती है जो मास नहीं खाती व बहुत ही कम खाती हैं । समुद्रकी यात्रामें धाओंको मईके आटेकी पकी हुई लपसी दी जाती है । वास्तवमें बात यह है कि माम माताके दुध बनानेमें कुछ भी मदद नहीं देता । जिनको कभी मास नहीं दिया गया है ऐसे बच्चोंके सामने यदि फल और मासकी डली रखी जावे तो वह फलको तुरत ग्रहण करेगा । इसीसे सिद्ध होजाता है कि मनुष्यका स्वभाव मास खानेका नहीं है । उक्त डाक्टरने यह भी जाच की है कि जो बच्चे विना मांस भोजनके पाले गए उनके शरीरकी ऊचाई मासाहारी बच्चासे अच्छी रही । इन्द्रियोंकी तृष्णा बढानेमें मासाहार मदद देता है । मांसाहारी लडके इन्द्रियोंको न रोककर शीघ्र दुराचारी हो जाते हैं । मासाहारसे अनेक रोग होते हैं जब कि इसका त्याग रोगोंको हटानेवाला है । थियोडरहाल साहब २९ वर्षकी अवस्थामें मरण किनारे हो गए थे पर मास त्यागन और फलाहार करनेसे ३० वर्ष और जिये ।

वास्तवमें मासभोजन मनुष्यके लिये निरर्थक ही नहीं किंतु हानिकारक है । आर्डर आफ गोल्डन एज (Order of golden age) जिसका पता नं० १८१–१५९ ब्रोम्पटन रोड लडन

साइथ वेट (No 153-155 Broumpton Road London S W) है, मांसाहारके विरुद्ध बहुतसा साहित्य प्रतिवर्ष प्रसिद्ध करती है। अपनी प्रसिद्ध की पुस्तकमें " दी टेस्टिमनी आफ साइन्स इन फेवर आफ दी नेचुरल एंड ह्यूमेन डाइट (The Testimony of science in favour of natural and human diet जो एक दफे १५००० छापी गई थी। मांसाहारके विरुद्ध बहुतसे विद्वानोंकी सम्मतिया हैं। उनमेंसे एक दो यहां दी जाती हैं।

Dr Josiah old field D C L M A M R C S L R C P senoir Physician Margaret Hospital Bromlay

डाक्टर जोसिया ओल्डफील्ड डी० सी० एल० एम० ए० एम० आर० सी० एस० एल० आर० सी० पी० बड़े डाक्टर ऐड़ी मारगेरट हास्पिटल ब्रोम्ले कहते हैं—

To day, There is the scientific fact assured that man belongs not to the flesh eaters but to the fruit eaters To day there is the chemical fact in hands of all, which none can gain say that the products of the Vegetable Kingdom Contain all that is necessary for the fullest sustenance of human life " Flesh is an un natural food, and therefore, tends to create functional disturbance' As it is taken in modern civilization it is affected with such terrible diseases (readily communicable to man) as cancer, consumption fever, intestinal worms etc, to an enormous

extent There is little need for wonder that flesh-eating is one of the most serious causes of the diseases that carry off ninety nine out of every hundred people that are born '

भावार्थ—आज यह विज्ञानके द्वारा निर्णय हो गया है। कि मनुष्य मांसाहारियोंमें न होकर फलाहारियोंमें है। आज सबके हाथमें यह परीक्षा की हुई बात मौजूद है कि वनस्पति जातिकी उपजमें वह सब है जो कुछ मनुष्यके पूर्णसे पूर्ण जीवन को स्थिर रखनेके लिये आवश्यक है।

मांस अयार्थ तेक भोजन है और इसी लिये शरीरमें अनेक उपद्रव पैदा कर देता है। आज कलकी सभ्य समाज इस मांसको लेनेसे कैंसर क्षय, ज्वर, पेटके कीडे आदि भयानक रोगोंसे, जो एक मनुष्यसे दूसरेमें फैलते हैं बहुत अधिक पीडित होती हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि मांसाहार स्वयं भयानक रोगोंमेंसे एक रोग है जो १०० मनुष्योंमेंसे ९९को पीड़ा दे रहा है।

Professor G Sims Woodhead, M D F R C P F R S professor of Pathology Cambridge university, meeting at Cambridge

May 12 th 1905

प्रोफेसर जी० सिम्स उडहेड एम० डी० एफ० आर०सी० पी० एफ० आर० एस, प्रोफेसर पैथेलोजी कैम्ब्रिज यूनिवरसिटी की कैम्ब्रिजकी सभा मई १२ सन् १९०५)

" Meat is absolutely unnecessary for perfectly healthy existence, and the best work can be done on a vegetation diet People take too much meat, and they could live much more healthily on a vegetarian diet than a whole meat diet vegetarians have done a great deal in quiet way to make po sible that simpler life for which a great number of people are crying out very loudly without any definite idea of what they mean.

Doctors are looking to *prevention* rather than *cure* as the great agency in raising the physical conditi n of the nation The medical training of the present day is directed much more closely to the prevention of diseases than it his been befor It is being realized that every means should be resorted to so as to prevent the accession of disease rather than merely attempt to cure it when it comes and the *Vegetarian movement* will I think do a very great deal towards this"

भावार्थ-पूर्ण स्वास्थ्ययुक्त जीवन बितानेके लिये मास बिलकुल अनावश्यक है, केवल शाकाहार पर ही बसर करनेसे सबसे अच्छा काम हो सकता है। लोग बहुत ही मास खाते है। यदि वे पूर्ण मास भोजनकी अपेक्षा शाकाहार पर रहें तो बहुत स्वास्थ्ययुक्त जी सकते हैं। शाकाहारियोंने बहुत अच्छी तरह यह बात दिखला दी है कि बहुत सादा जीवन बिताना सभव है

जिसके लिये बहुत आदमी बहुत जोरसे चिल्लाते हैं जब कि वह यह नहीं समझते हैं कि उनके कहनेका मतलब क्या है।

डाक्टर लोग रोगोंके रोकने पर ध्यान देते हैं पर रोगोंको अच्छा करनेमें नहीं। रोगके रुकनेको ही समाजकी शारीरिक अवस्थाकी उन्नति करनेका मुख्य साधन जानते हैं। आजकलकी डाक्टरी शिक्षा भी पहलेकी अपेक्षा अधिक ध्यान रोगोंके रोकने पर देती है। यह अनुभवमें आ रहा है कि हरएक उपाय इस बातका करना चाहिये जिससे रोग फिर होने ही न पावे। केवल इतना ही ठीक नहीं है कि जब रोग आवे तब उसे रोक दिया जावे। यह शाकाहारका आन्दोलन मैं ख्याल करता हूं रोगोंके रोकनेमें बहुत अधिक काम कर सकेगा।

मांसाहार न करनेसे अकाल मृत्युके कारण बीमारियां नहीं होती हैं जिससे मनुष्य पूर्ण आयु भरता है। इसके बहुतसे दृष्टान्त हैं।

Mr Samuel saunders (Herald of the Golden age of July 1904)

मि० सैमुअल साउन्डर्स (हेरल्ड ओफ गोल्डन एज सन् १९०४) कहते हैं—

I have abstained from fish, flesh and fowl for 62 years and I have been o'servant of the rules of health I have never had a headache never been in bed a whole day from illness or suffered pain except from trivial accidents I have had a very happy and I hope somewhat

useful life and now in my 88 th year I am as light and blossom and as capable of receiving a new idea as I was 20 years ago."

भावार्थ-मैं बासठ (६२) वर्षसे मछली, मांस और मुर्गी नहीं खाता हूं तथा स्वास्थ्यके नियमानुकूल चला हूं। मुझे कभी सिरमें दर्द नहीं हुआ, कभी मैं दिनभर बिछौने पर नहीं पड़ा रहा, न साधारण अकस्मातोंके सिवाय दर्द सहन किया। मैंने बहुत हर्षयुक्त व महातक मैंसमझता हूं कुछ उपयोगी जीवन बीताया है। और अब मैं ८८वें वर्षमें इतना ही हलका प्रफुल्लित और नया विचार ग्रहण करनेको समर्थ हूं जैसा मैं २० वर्षकी उम्रमें था।

इसी पुस्तकमें Captain Goddard, Edmond or San Francisco कैप्टेन गोडर्ड ई डायमंड सान फ्रान्सिस्कोका वर्णन दिया है। इसने ६२ वर्षसे मांसाहार नहीं किया और १०० वर्ष पीछे भी ३० मील रोज बिना थके चल सक्ता था। १ ६ वर्षकी आयुमें भी बाइसिकल पर चढ़ना, सीधा खड़े होना तथा कसरत करना आदि बातें इसमें थीं। सन् १९०७में इसकी आयु १११ वर्षकी थी। प्राचीन कालमें अनेक बड़े पुरुष हो गए हैं व अब हैं जिन्होंने बिलकुल मांस न खाया उनके कुछ नाम इस पुस्तकमेंसे दिये जाते हैं—

यूनानके पैथीगोरस, प्लेटो, अरिस्टाटल, साक्रटीज, पारसियोंके गुरु जोरष्टर, क्रिश्चियन पादरी जेम्स, मैथ्यू, पेटेर, अनेक विद्वान जैसे मिल्टन, इजाक न्यूटन, बेनजामिन फ्रेंकलिन, शेली, एडिसन। मांसाहारियोंसे शाकाहारी शरीरकी वीरता दिखानेमें व

देर तक विना थके काम करनेमें अधिक चतुर पाए गए हैं। वर्तमानमें जो चार वर्षसे जर्मनीके साथ वृटिशका युद्ध चला इसमें मास मदिरा देनेकी इसी लिये कमी की गई थी।

मासाहार करना मदिरा पानका मुख्य कारण हो जाता है। जिन देशोंमें मासका कम प्रचार है वहा मदिरा भी कम है। काम करनेवाले पशु कभी मास नहीं खाते जैसे घोड़ा, हाथी, बैल।

बहुतसे लोग समझते हैं कि मास, मत्स्यादिमें शक्ति वर्द्धक अंश अन्नादिसे अधिक है। यह उनकी भूल है– The toiler and his food by Sir William Earnshaw Cooper, C I E टाइलर ऐन्ड हिज फुड पुस्तकमें जिसको सर विलियम अर्नशा कूपर सी० आई० ई० ने रचा है भिन्न १ भोजनोंको मुकाबला करते हुए शक्ति अंश किसमें ज्यादा है सो दिया है उसीका कुछ सार नीचे दिया जाता है –

१–बादाम आदि गिरियोंमें १००में ९१ अंशतक शक्ति देनेवाली वस्तु है।

२–सूखे मटर चने आदिमें	,, ,, ८७	,,	,,	,,
३–चावलमें	,, ,, ८७	,,	,,	,,
४–गेहूके आटेमें	,, ,, ८६	,,	,,	,,
५–जौ के ,,	,, ,, ८४	,,	,,	,,

६–सूखे फल किसमिस, खजुर आदिमें १००में ७३ अंश शक्तिवर्द्धक अंश है।

७–घीमें	१००में ८७	,,	,,
८–मलाईमें	६९	,,	,,
९–दूधमें	१४	,,	

परन्तु इसमें ८९ भाग पानी है जो भी लाभकारक होता है।
१०—अंगूर आदि ताजे फलोंमें १००में २५ भागतक शक्ति-वर्द्धक अंश है।
शेष पानी है वह भी लाभदायक होता है।
मासमें जबकि १०० में २८ भाग शक्ति अंश है शेष पानी है जो हानिकारक है

मत्स्यमें	,,	११	,,	,,
अंडोंमें	,,	२६	,,	,,

इस ऊपरके नक्शेमे प्रगट होगा कि अन्न, मेवा, फल, घी, दूध, मलाई ही खाने लायक पदार्थ हैं, मास, मत्स्य, अंडे नहीं।

जहा तक विचार करके देखा जायगा यही प्रगट होगा कि मासाहार एक निरर्थक भोजन है। इसी लिये इसके निमित्त जो पशु हिंसा होती है वह भी निरर्थक है। इस मासाहारकी निरर्थकता पर मिस एनी बेसेन्टके अनुयायी थियोसोफिस्ट मि० सी० जिनराजदास एम० ए० (कैंटब) ने जीवदया ज्ञानप्रसारक फंड (नं० ३०९ सराफा बाजार, बम्बई) के वार्षिक अधिवेशनमें ता० २ सितंबर १९१८ को भाषण देते हुए कहा था—" मास भोजन भी स्थूल बुद्धिका काम है। इस वर्तमान युद्धके पहले पश्चिमीय देशोंमें मासाहारकी विरुद्धता इतनी नहीं थी जितनी अब हो गई है। लड़ाकू कौमोंको शाकाहारी होना पड़ा है। क्योंकि शाकाहारसे स्वास्थ्य अच्छा रहता है। शाकाहारके विरुद्ध एक भी युक्ति नहीं है। पश्चिमीय देशोंमें दौड़ लगाने, बाईसिकलपर चढ़ने, कुश्ती लड़ने आदिमें

शाकाहारियोंने मांसाहारियों पर बाजी मार ली है। ठंडे देशोंमें भी मांसाहारकी जरूरत नहीं है। पश्चिमके सर्द देशोंमें हजारों शाकाहारी रहते हैं। मैं इङ्गलैंडमें १२ वर्ष शाक भोजन पर रहा। अमेरिकाके चिकागो व कैनेडामें मैंने जाड़े शाकाहार पर काटे हैं तथा मांसाहारियोंकी अपेक्षा भले प्रकार जीवन बिताया है। शाकाहारके लाभ अगणित हैं।"

जहां कहीं मनुष्योंकी उत्पत्ति है वहां कोई न कोई वनस्पति फल आदि अवश्य पैदा होते हैं। क्योंकि जहां भूमि, जल, पवन, अग्नि और सूर्यके आतापका सम्बन्ध हो वहां पर वनस्पति न हों यह असंभव है। इसलिये यदि बच्चोंको व मनुष्योंको मांस खानेकी आदत न डलवाई जावे और उनको शाकाहार पर रख जावे तो वे अवश्य शाकाहारपर ही अपनी जीवनयात्रा कर सकेंगे।

मांसाहारके कारण निरर्थक करोड़ों पशु निर्दयतासे वध किये जाते हैं। इस मांसाहारको आदतने ही धर्मादिके नामसे होनेवाले पशु घातको भी चलाया है। बहुतसे उपयोगी पशु जो खेती व दूध देनेके काममें आते हैं इस मांसाहारकी प्रवृत्तिने वध कर दिये जाते हैं। जब मांस मनुष्यकी प्रकृतिके ही बाहर है तब जैसे घोड़े, गाय, भैंस, हाथी, ऊंट आदि अत्यंत उपयोगी और परिश्रमी पशुओंका खाद्य मांस नहीं तब यह मनुष्यका भी नहीं हो सक्ता।

इसी तरह और भी जो कोई निरर्थक (बेमतलब) हिंसा है वह न करनी चाहिये। जिस हिंसाके विना किये ही हम अपनी

आवश्यक्ताओंको पूर्ण कर सकते हैं वह सब निरर्थक हिंसा समझनी चाहिये।

(२) सार्थक हिंसा—वह है जो क्षत्रियोंको देशकी रक्षार्थ शत्रुओंको दमन करनेके लिये युद्ध करनेमें, दुष्टोंको दंड देनेमें शिष्टोंकी रक्षा करने आदि क्षत्रिय कर्ममें करनी पड़ती है, वैश्योंको अनेक प्रकारकी वस्तुओंको कच्चे मालसे पक्का बनवानेमें, इसीलिये कल कारखाने जारी करानेमें, मालको इधर उधर भेजने आदि व्यापारमें, खेती करने व करानेमें, तथा अन्य लिखने पढने आदिके कार्योंमें व हिसाब किताब करने कराने व इधर उधर जानेमें करनी पड़ती है, शूद्रों या मजदूरदल या बुद्धि कम लगाकर हाथसे मिहनत करनेवालोंको जो बर्तन बनाने, मकान तय्यार करने, सुनारगीरी करने, लोहेकी वस्तुएं बनाने, आदि अनेक प्रकारकी शिल्प सामग्रीको तय्यार करनेमें, बोझा ढोनेमें, वाहन चलानेमें, नृत्यगान आदि करके द्रव्य कमानेमें तथा क्षत्री, वैश्य आदिकी सेवा चाकरी करनेमें करनी पड़ती है, तथा स्त्री समाजको मुख्यतासे चक्की दलनेमें, उखलीमें कूटनेमें, अग्निसे रसोई आदि और भी गृह सम्बन्धी कार्य करानेमें करनी पड़ती है।

सार्थक हिंसामें हिंसा करानेका मूल अभिप्राय नहीं होता है किंतु अन्य कार्योंका अभिप्राय होता है जिसमें लाचारीवश हिंसा करनी पड़ती है।

सार्थक हिंसामें प्रवर्तनेवाला दयावान अपने भीतरसे दयाभावको नहीं छोड़ता है। शत्रुओंसे भी युद्ध उसी समय करनेको उद्यत होता है जब अन्य कोई उपाय अपने मतलब सिद्ध करनेका

नहीं देखता है। यदि शत्रु अन्य उपायसे वश हो जाता है तो कदापि एक भी मानवका संहार करना नहीं चाहता है।

जगतके व्यवहारमें जितना अधिक लगना पड़ता है उतना अधिक सार्थक हिंसाके होनेका प्रसंग आता है पर जो आत्मानुभवको करनेवाला आत्मज्ञानी गृहस्थ है उसके द्वारा सार्थक हिंसा बाहरसे होती हुई भी वह भीतरसे आत्मामें ही महान प्रेमी है इसलिये उसकी सुख शांतिमें वह बाधक नहीं होती या होती है तो बहुत कम।

जगतमें जो प्राणी हैं वे सब एकसे नहीं हैं। जिन प्राणोंसे यह आत्मा किसी स्थूल देहमें जीता रहता है और उनके नष्ट होनेसे स्थूल शरीरको त्याग देता है उन प्राणोंके घात व कष्ट पहुचनेको ही हिंसा होना कहते हैं*। ये प्राण संसारके प्राणियोंमें संख्यामें कम व अधिक हैं तथा शक्ति व प्रवीणताकी अपेक्षा निर्बल व सबल हैं। जिनके प्राण अधिक बलिष्ट व अधिक हैं तथा जगतके अन्य प्राणियोंको अधिक उपयोगी हैं उनके घात होनेसे हानि अधिक होती है इसलिये हिंसाका अपराध भी अधिक है।

---

* यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ ४३ ॥
(पुरु० सि० अमृतचंद्र)

भावार्थ—जो कषाय सहित मन, वचन, कायके द्वारा द्रव्यप्राण जिनसे एक शरीरमें जीता है तथा भाव प्राण जो आत्माके परिणाम हैं उनका घात या विराधन होना सो निश्चयसे हिंसा है।

सब प्राण दस * (१०) होते हैं–१ स्पर्शन इन्द्रिय जिसके द्वारा छूनेसे गर्म, ठंढा, रूखा, चिकना, नर्म, कठोर, हलका, तथा भारी मालूम होता है। २ रसना इन्द्रिय–जिसके द्वारा खट्टा, मीठा, चरपरा, तीखा, कषायला आदि किसी प्रकारका स्वाद ज्ञान पड़ता है। ३ घ्राण इन्द्रिय–जिसके द्वारा सुगन्ध दुर्गंधका ज्ञान होता है। ४ चक्षु इन्द्रिय–जिसके द्वारा सफेद लाल, पीला, नीला, काला आदि रंगोंकी समझ होती है। ५ कर्ण इन्द्रिय–जिसके द्वारा नाना प्रकारके शब्द अभाषारूप व किसी निश्चित भाषारूप सुन पड़ते हैं। कायबल–जिसके द्वारा शारीरिक परिश्रम व देहसे चेष्टा, हिलना, बढ़ना, फैलना आदि किया जाता है। वचनबल–जिसके द्वारा अभाषारूप या भाषारूप शब्द बोला जाता है। मनबल–जिसके द्वारा अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प उठाकर तर्क किया जाता, कारण कार्यका विचार होता, शिक्षा व उपदेशका भाव समझा जाता है, बहुत पहलेसे ही कार्योंके करनेका इरादा बांधा जाता है, तथा संकेत मात्रसे मतलब समझ लिया जाता है। श्वासोछ्वास–जिसके द्वारा वायुको भीतर लेकर शरीरमें संचार किया जाता व बाहर निकाला

* पाणेहि चदु हि जीवदवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्व।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाऊ उस्सासो ॥ ३० ॥

(पञ्चा० कुं०)

भावार्थ–जो चार (या १०) प्राणोंसे जीता है, जिया था व जीयगा जब तक संसारमें है वह जीव है।

बल (तीन मन वचन काय) इंद्रिय (पांच) आयु और श्वासोश्वास ऐसे ४ व १० प्राण होते हैं।

जाता है, तथा आयु जिसके रहते हुए शरीर बना रहता है, ये १० प्राण कहलाते हैं। इस जगतमें प्राणियोंके भेद यदि स्थूलरूपसे प्राणोंकी संख्याकी अपेक्षासे किये जावें तो नीचे लिखे प्रमाण हो सके हैं—

(१) एकेन्द्रिय स्थावर जीव—जैसे पृथ्वीकायिक (living minera's) खानका पत्थर, ताम्र, सीसक, स्फटिक, वज्र, खेतकी नर्म मिट्टी आदि, जलकायिक (living water) जैसे कूपका जल, नदीका जल, ओस आदि, अग्निकायिक (living fire) जैसे दीपककी ज्योति, अगारा आदि, वायुकायिक (living air) जैसे प्रात कालकी समुद्रके निकटकी वायु। वनस्पतिकायिक (living vegetables) जैसे वृक्ष, मूल, फूल, फल, पत्ते, घास, काई आदि।

इन सबके ४ चार प्राण होते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, श्वासोश्वास और आयु।

(२) द्वेन्द्रिय त्रस जीव—जैसे लट, केंचुआ, कौड़ी, सख कृमि आदि क्षुद्र जन्तु, इन चलने फिरनेवाले व भयसे भाग जानेवाले (त्रस) जन्तुओंके छ (६) प्राण होते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, काय बल, वचनबल, श्वासोछ्वास, और आयु।

(३) तेइन्द्रिय जीव—जैसे—पिपीलिका (चींटी), बिच्छु, खटमल, घुन, जू आदि। इन त्रस जन्तुओंके ७ प्राण होते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, कायबल, ७, श्वासोच्छवास और आयु।

(४) चौइन्द्रिय जीव–जैसे भौंरा, कीटक डांस, मच्छर, मक्खी, भिड, पतंगा। इन त्रस जन्तुओंके ८ प्राण होते हैं—

स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास, और आयु।

(५) पंच इन्द्रिय असैनी (मन विनाके) जीव जैसे कोई २ पानीके सर्प आदि। इन त्रस जन्तुओंके ९ प्राण होते हैं—

स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, कर्ण इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु।

(६) पंच इन्द्रिय सैनी (मनवाले) जीव–जैसे गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, हाथी, ऊंट, बकरा, भेड़ा, गधा, बन्दर, कुत्ता, बिल्ली, मछली, सर्प, चूहा, कबूतर, काग, मोर, मुरगा, तीतर, आदि पशु तथा सर्व ही मनुष्य तथा शास्त्रोंके आधारसे सर्व ही देव, और सर्व ही नारकी। इन सबके १० प्राण पाए जाते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय कर्णइन्द्रिय, कायबल, वचनबल, मनबल, श्वासोच्छ्वास, और आयु। इन सब प्रकारके जीवोंके प्राण जिनके समान भी हैं उनमें भी एक दूसरेसे निर्बलता, सबलताकी अपेक्षासे भेद है। इसके सिवाय जिनमें मन होता है उनमें बुद्धिपूर्वक विचार करने और कार्य करनेकी अद्भुत शक्ति होती है। कबूतरोंको ऐसा सिखाया जाता है जिससे वे युद्ध आदिकी खबरें मीलोंतक उड़कर पहुचाते हैं। कुत्ते पहरा देने व स्वामीकी रक्षा करनेका अपूर्व काम करते हैं।

गाय, भैंस मनुष्य समाजको दूध, घी, दही, आदि पदार्थ देनेके कारण व बैल खेतीमें उपयोगी होनेके कारण बहुत ही कामके हैं। घोड़ा, हाथी, ऊंट सवारीका अच्छा काम देते हैं। मनवाले पशुओंकी अपेक्षा मन सहित जो मनुष्य होते हैं उनमें विचारने और काम करनेकी आश्चर्यकारक शक्ति रहती है। मानव अपने बुद्धिबलसे बड़े २ पशुओंको वश कर सक्ता है। अनेक तरहके यन्त्र कला कौशल आदि बना सक्ता है, यहांतक कि जो किसीसे नहीं होनेका काम है उसको सम्पादन कर सक्ता है। इस समय जो आश्चर्ययुक्त विज्ञानकी उन्नति विदेशोंमें हो रही है उसका कारण मनुष्यकी मानसिक शक्तिसे प्रगट हुआ बुद्धिबल ही है। हवाई जहाजोंका चलना, बेतारका तार होना, बिजलीके बलसे कलोंका चलना, बिजलीकी रोशनी होना आदि हजारों बातें जिनके हो जानेका स्वप्नमें भी ख्याल न था हो गई हैं और दिनपर दिन मनुष्योंका बुद्धिबल चमत्कारकी खोज करता चला आ रहा है। जैसे भारतमें पहले आत्माकी शक्तियोंके अभ्याससे अनेक चमत्कार होते थे वैसे अब जड़ पुद्गलके विज्ञानसे होरहे हैं।

मनुष्योंमें न्यायकारी राजाओं, विद्वानों, परोपकारियों, धर्म प्रवर्तकों आदिके प्राण साधारण मनुष्योंसे अधिक मूल्यवान होते हैं। मतलब कहनेका यह है कि जिस जीवके प्राण अधिक उपयोगी हैं उसकी हिंसाका अधिक अपराध होता है। यही कारण है जिससे मनुष्यकी जो कोई हत्या करता है वह फांसी व देश निकालेका दंड भोगता है। इन सब प्राणियोंमें सबसे बड़ा श्रेष्ठ प्राणी अवश्य **मनुष्य** है। इसी लिये मनुष्यको

अपना जीवन बहुत विचारके साथ इस तरह बिताना चाहिये जिससे उसकी उचित आवश्यकताएं बहुत ही कम हिंसा करके पूरी हो सकें। क्योंकि जब तक कोई व्यवहारमें आचरण कर रहा है तब तक उससे बिलकुल हिंसा होवे ही नहीं यह बात असम्भव है।

यही बात ध्यानमें रखकर एक आत्मतत्वको जाननेवाले दयावान मनुष्यका फर्म हो जाता है कि वह सबसे पहले अपनी मनुष्य समाजकी रक्षाका यत्न करे, उनकी हिंसाको रोके, जिन २ बाधक कारणोंसे उनकी उन्नतिमें विघ्न आता है उनको हटावे तथा जिन २ साधक कारणोंसे उनकी उन्नति होती है उनका उपाय करे। मनुष्योंका कर्तव्य है कि वे मनुष्योंको परस्पर शिक्षित, स्वास्थ्ययुक्त, न्यायमार्गी और आत्मज्ञानी बनावें।

एक बालकमें जो मन, वचन कायकी शक्तियां हैं उनको जब तक शिक्षित न किया जायगा तब तक वे जगतमें भले प्रकार काम करने लायक नहीं होते। शिक्षाविहीन कोटानुकोट मनुष्य पशुसम जीवन बिताकर जगतसे चल देते हैं। इसलिये मनुष्य समाजमें कोई बालक व बालिका शिक्षाविहीन न रहे इसका पूरा उद्योग होना चाहिये। पुस्तकोंके पढ़नेकी कला सबको जाननी चाहिये क्योंकि पुस्तकोंके पढ़नेसे बहुतसे विषयोंका ज्ञान अपने आप हो सकता है। परन्तु इतने ही पर शिक्षाकी समाप्ति नहीं है। अपनी आजीविका स्वतन्त्रताके साथ हो सके इसलिये असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदिकी शिक्षा भी दी जानी चाहिये। यह शिक्षा केवल मौखिक न होकर अभ्यास रूप कराई

जानी चाहिये जिससे कोई बालक बालिका इस योग्य न रहे कि वह अपने २ कर्त्तव्योंके पालनमें भले प्रकार अपने मन वचन कायको न लगा सके। मनुष्य जातिके अज्ञानसे बहुत बड़ी हिंसा हो रही है इसलिये इसको मेट करके उनमें शिक्षा द्वारा भावि १ के ज्ञानका फैलाव करना बहुत बड़ी दयाका काम है और हिंसाको मेटकर अहिंसाका प्रचार करना है।

मानव समाज रोगादिकी वृद्धि रहनेसे शिक्षा सहित होनेपर भी ग्रसित हो जानेसे अपनी शिक्षाका कुछ फल नहीं प्राप्त कर सकता है इसलिये स्वास्थ्यके बाधक जो जो कारण हैं उनको मेटना बहुत जरूरी है। हवा, पानी व स्थानकी स्वच्छता, भोजनकी शुद्धता, व्यायाम (कसरत) करना, वीर्य रक्षा करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन तथा समय पर निद्रा लेना, उठना आदि नियमित कार्य करना इत्यादि साधन हैं जिनसे मानव समाज स्वास्थ्य युक्त रह सकता है। जो परोपकारी दयावान हैं उनको चाहिये कि अपनेसे जितना बने इन साधनोंकी प्राप्ति मनुष्य समाजको हो इसका यत्न करें। जो कोई घरका स्वामी हो उसको प्रेरणा करें कि वह घरको स्वच्छ रक्खे, स्वच्छ पानी कुटुम्बवालोंको पिलावे तथा भोजन शुद्ध ताजा करे करावे, सबको व्यायाममें लगावे और वीर्यरक्षामें उपयुक्त करे। और इसीलिये अनेक सुगम पुस्तकें जिनमें इन साधनोंको वर्णनका उपदेश हो बननी चाहिये और वे हरएक पुरुष, स्त्री, कुमार, कुमारिका जिस किसीको पुस्तक सम झनेकी शक्ति हो उसको देना चाहिये। तथा ऐसी पुस्तकोंकी बालक व बालिकाकी शालाओंमें होनी चाहिये।

जो नगरका शासक या म्यूनिसिपालिटी हो उसको इस बातकी खास प्रेरणा करनी चाहिये कि वह नगर व गावकी हर तरह स्वच्छता रक्खे, हवा बिगडनेका कारण न बनावे, स्वच्छ पानीका उपाय करे तथा अशुद्ध व अनिष्ट भोजन अपने गावमें न आने दे, जैसे शराबकी दूकान न होने दे, व्यायामकी उत्तेजनाके लिये दगल आदि कराकर पारितोषिक देवें तथा व्यभिचारिणी स्त्री पुरुषोंको दडित करें व वेश्या आदिकोंको वस्तीसे अलग रक्खें तथा स्वय लोगोंके साथ समय और नियमसे वर्ते। प्रजाके स्वास्थ्यकी रक्षाका आधार शासकके ऊपर है। वह यदि भले प्रकार प्रबन्ध करे तो प्रजाके शरीर बिगडनेके सब साधन दूर हो सक्ते हैं।

स्वास्थ्य रक्षाके उपायोंमें **व्यायाम** और **ब्रह्मचर्य** बहुत ही आवश्यक है। शरीरमें योग्यताके साथ रुधिर व वायुका सचार होना व अशुद्ध वायु तथा अशुद्ध परमाणुओंका पसीने आदिके द्वारा निकल जाना व्यायामके ही ऊपर निर्भर है। जो केवल मानसिक काम करते हैं उनके लिये शारीरिक परिश्रम बहुत अच्छा होना चाहिये। जो शरीरमें पसेव आनेलायक शारीरिक परिश्रम करते हैं उनका वही व्यायाम है। तथापि अपनी स्थितिके अनुसार दड करना, मुगदर हिलाना, बैठकें करना, कुश्ती लड़ना, दौड़ना, दूरतक खुली हवामें चलना, गेंद व फुटबाल खेलना आदि अनेक प्रकारकी कसरतें हरएकको करना चाहिये।

वीर्यरक्षा व ब्रह्मचर्य भी बहुत आवश्यक है क्योंकि शरीरमें भोजनका सत जो करीब १ मासमें तयार होता है वीर्य है। यह वास्तवमें सम्पूर्ण शरीरको बल प्रदान करनेवाला होता

है। इसकी रक्षासे शारीरिक बलकी रक्षा है। यदि इसका उपयोग किया भी जाय तो संतान प्राप्तिके लिये, इस वीर्य या बीजको अपनी ही स्त्री रूपी भूमिमें समयपर डालना चाहिये जिससे वह वृथा न जावे और इससे एक संतानका फल बन जावे। करोड़ों रोग वीर्यके दुरुपयोगसे मानव समाजमें हो जाते हैं। इस दुरुपयोगसे बचनेके लिये हमेशा सत्संगति रखनी चाहिये। व्यभिचारिणी वेश्या आदि स्त्री व पुरुष व नपुंसक आदिकोंकी संगति कभी न करनी चाहिये, न ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिये जो कामोत्तेजक हों, मनको इश्कबाजीमें ले जाती हों, इ.कथाभीके नाटक खेल देखना भी ऐसी प्रेरणामें सहायक हो जाते हैं। जिस मानव समाजने वीर्य बिगाड़ा व पूर्ण यौवनको प्राप्त हुए बिना व वीर्यको पक्व हुए बिना उसका उपयोग करना शुरू किया उस समाजमें दुर्बल सन्तानें जन्मेंगी। बस उस समाजके परम्परा नष्ट भ्रष्ट होनेका सामान बना गया ही समझना चाहिये। बालविवाह व अतरुण अवस्थामें वीर्यका उपयोग समाजको निर्बल, रोगी, दीन, दरिद्री व दुःखी बनानेमें प्रबल साधक है।

मनुष्योंका यह भी फर्ज है कि एक दूसरेको न्यायमार्गी बनावें। प्रथम तो न्यायमार्ग पर चलनेकी शिक्षा शालाओंमें भली प्रकार होनी चाहिये, दूसरे माता पिता, व अध्यापक अध्यापिकाओंको सत्य आदि बोलकर व नीतिसे चलकर अपने उदाहरणोंसे बालकोंको न्यायमार्गकी प्रेरणा करना चाहिये। तीसरे जो अन्यायपर चले उनको यथोचित दंड देना व दिलाना चाहिये। दृढ़ताके साथ वर्ताव किये जानेसे ही न्यायमार्ग चलता है। जहां शिथिलता दी

गई कि यह बढ़ता चला आता है। पहले कालमें पचायतें बहुत मजबूत थीं उनके द्वारा अनीतिसे वर्तनेवालेको दंड मिल जाता था जिससे नीतिका अच्छा प्रचार रहता था। मनुष्य समाजकी नीति ठीक न रहनेसे ही मनुष्य समाजको महा दुःख होता है। हजारों लाखों मुकद्दमें अदालतोंमें जाते हैं जिनके फैसल होने तकमें बहुतसा द्रव्य लगाना पड़ता व अतमें अनीतिका फल भोगना पड़ता है। यदि नीतिसे चलना हो तो बहुतसे कष्ट दूर होजावें।

न्यायमार्ग वही है जिससे अपने भाव न बिगड़ें व दूसरोंके भावोंको कष्ट न पहुंचाया जावे। अन्याय मार्ग वही जिससे अपने भाव बिगड़ें व दूसरोंको कष्ट हो। इसीलिये न्यायमार्ग दया या अहिंसामें और अन्यायमार्ग हिंसामें गर्भित है। * जो हिंसासे बचना चाहता है वह अवश्य नीति पर चलेगा नहीं तो वह हिंसा बचा नहीं सकेगा।

असत्य बोलना, चोरी करना, पर स्त्री सेवना, जूआ खेलना आदि ही वे अनीतियां हैं जिनसे बचना चाहिये। इन सबमें हिंसा होती है। नीति मार्ग यही है जो सत्य बोलकर व्यापारादि व्यवहार किया जाय, प्रतिज्ञाके अनुसार वर्ताजाय, दूसरेका धन किसी प्रकारके कपट, झूठी लिखापढ़ी आदिसे न ग्रहण किया

---

* आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥ (पुरुषा० अमृत०)
भावार्थ—आत्माके परिणामोंकी हिंसा होनेका कारण जहां हो वह हिंसा ही है। झूठ वचन आदि केवल शिष्यको समझानेके लिये उदाहरण रूपसे कहे गए हैं।

जाय, किसीका हक न मारा जाय, जिसकी जो वस्तु है वह उसकी आज्ञा विना न ली जाय, परकी स्त्रीसे सम्बन्ध न किया जाय । नीति मार्गका प्रचार स्वय नीति पूर्वक वर्तन करने व नीतिकी शिक्षा देनेसे होता है । नं निमर्गका भद्र व्यवहार धर्म है । जिसको धर्म, पुण्य, पाप, इहलोक, परलोक, आदिका विश्वास है वह नीतिमार्ग पर विना भयके व हर्षके साथ चलेगा । नीतिकी शिक्षाके लिये धर्मकी शिक्षा अति आवश्यक है । इसलिये बालक बालिकाओंको शुरूसे ही यह शिक्षा दी जानी चाहिये जिससे उसकी आत्मापर धर्मकी श्रद्धा बैठ जावे। पर वह धर्म यही आत्मधर्म है जिसका वर्णन इस पुस्तकमें किया गया है । आत्माका श्रद्धावान ही अन्य प्राणियोंका अहित न हो इस रीतिसे व्यवहार करनेकी इच्छा करता हुआ नीतिमार्गसे चलता है ।

मानव समाजको न्यायमार्गी बनानेके सिवाय उसको आत्म ज्ञानी भी बनाना चाहिये, क्योंकि आत्मज्ञान विना वह सुख और शांति जो आत्मामें ही है तथा जो आत्माका स्वभाव है मानवके अनुभवमें न आनेसे उसका जीवन आनन्दमय नहीं होता । किन्तु एक भाररूप जीवन हो जाता है । बाल्यावस्थाहीसे बालक बालिकाओंको अपनी पहचान बतलानी चाहिये । यद्यपि छोटी वयमें वे थोड़ा समझेंगे परन्तु आत्माके विशेषण आदि जाननेसे वे आगे चलके ज्यों ज्यों विचार करेंगे, आत्माके भेदको पा जायगे ।

इस तरह मानव समाजको उचित है कि मनुष्योंको जिस तरह हो सके शिक्षित, स्वास्थ्ययुक्त, न्यायमार्गी और आत्मज्ञानी

बचानेका यत्न करें। पशुओंके साथ मनुष्योंको दयाभावके स
वर्तना चाहिये। निरर्थक उनकी हिंसाको न करके उनकी
करते हुए उनसे अपना काम लेना चाहिये। गाय, भैंस, घो
बैल, ऊंट आदि पशु हमारे बहुत उपयोगी हैं। उनसे हम
काम लेना चाहिये पर उनको कष्ट न देना चाहिये।

गाय, भैंसोंसे हमको दूध मिलता है। हमें चाहिये
उनकी भलेप्रकार रक्षा करें, उनको योग्य सूखे स्थानपर बांधें।
जगह ऐसी ढालू पकी हो कि मूत्र बहकर अलग चला जा
तथा गोबरको उनके नीचेसे समय२ पर उठा लिया जावे।
न हो कि गोबर और मूत्र सड़े और उनसे जन्तु उत्पन्न ह
गाय भैंसोंको साफ रक्खा जावे। कभी २ उनको नहलान
पोंछना चाहिये। उनको स्वच्छ चारा आदि खानेको देना चाहि
जब वे गर्भिणी होवें उनकी रक्षा करनी चाहिये। बच्चा होने
उसको अच्छी तरह माताका दूध पीने देना चाहिये। जब
इस योग्य हो जावे कि वह तृणादि भी खा सकता हो तब उ
पौन या आधा पेट दूध और बाकी तृण देना चाहिये। शेष
आप अपने काम लेना चाहिये, इसी तरह ज्यों २ बच्चेकी
तृणादि पर अधिक हो त्यों २ दूध कम दिया जाय
उसे अपने काममें लिया जाय। ध्यान यह रखना चाहिये
अपने लोभमें आकर बच्चेको दूध कम न मिले। दूध दुह
पहले थनोंको व बर्तनको खूब धो लेना चाहिये। दूध दु
उसी समय छानकर या तो पी लेना या पिला देना चाहिये
तो अग्नि पर रखकर औटा लेना चाहिये। दुहनेके पीछे

घटेके भीतर अग्निपर रख देना चाहिये नहीं तो दूध खराब होता है व उसमें जन्तु पैदा हो जाते हैं। गाय भैंसको बराबर अपने २ घरों पर पालकर गृहस्थियोंको शुद्ध घी, दूध, दही आदि काममें लेकर अपने व कुटुम्बके शरीरकी रक्षा करना चाहिये। यदि वे दूध कम दें व देनेलायक होजाय तो भी उनको उसी तरह अपने घरोंमें पालना चाहिये जैसे वृद्ध माता पिताकी रक्षा काम न दे सकने पर भी की जाती है। कभी भी इन तृण खाकर दूध देने वाले उपयोगी पशुओंको कसाइयोंके हाथ लोभमें आकर न बेचना चाहिये। इन पशुओंका हिंसक लोगोंके हाथमें जानेका कारण इस तरह होजाता है कि गृहस्थ लोग बाजारका दूध घी खाते हैं जिससे ग्वाले गरीब आदमी इन पशुओंको पालते हैं जो लोभमें आकर बेच डालते हैं। यदि गृहस्थी अपने घरमें इनकी पालनाकर इनसे अपना काम भी निकालें तो अपनेको शुद्ध शरीर मलवर्द्धक वस्तु भी मिले और कभी भी इन पशुओंका कसाइयोंके हाथमें जाना न हो। बहुतसे लोग गायके बछड़ोंको बधिया कर डालते हैं अर्थात् उनकी स्पर्शन इन्द्रियके मुख्य चिह्नको छेद डालते हैं। यह बड़ी भारी निर्दयता है। हमने जहांतक मालूम किया है इन पशुओंके चिह्न न छेदनेसे कोई प्रकारकी कमी उनसे काम लेनेमें नहीं होती है। हमको यह हक भी नहीं है कि हम किसीकी इन्द्रियोंको नाश करके उससे अपना मतलब साधें। मानव समाज का कर्तव्य है कि पशुओंके शरीरको कोई भी बाधा न पहुंचा कर उनसे जितना काम लिया जा सकता है उतना काम लेवें। यही हाल घोड़ेके साथ भी किया जाता है। उनके भी चिह्नको

छेद डाला जाता है, यह भी उचित नहीं है। बहुतसे लोग अपने घरके घोड़ोंके चिन्होंको नष्ट नहीं करते हुए उनसे भले प्रकार काम लेते हैं। हमें यह कभी उचित नहीं है कि हम घोड़ोंकी दुम काट डालें-इससे उनको मक्खी आदि जतुओंसे बाधा पहुचती है। दुमके द्वारा वे जतुओंको हटा सक्ते हैं। हमको यह भी पूर्ण खयाल रखना चाहिये कि हम पशुओंसे उनकी शक्तिके अनुकूल काम लेवें-अधिक बोझा कभी न लादें। जहां कहीं सर्कारी नियम हो कि इतने आदमी किसी घोड़ा गाड़ी पर बैठें व इतना बोझा किसी बैल गाड़ी पर लादा जाय हमें लोभमें आकर न अधिक आदमी बैठाने चाहिये न अधिक बोझा लादना चाहिये। मूक पशुओंको बहुत कष्ट सहकर बोझा खींचते हुए जो कष्ट होता है उसको वे ही जानते हैं। हमें यह भी खयाल रखना चाहिये कि हम अपने आधीन इन पशुओंकी भूख प्यासको पूर्ण करनेका पूरा २ प्रबंध रक्खें। लोभमें आकर इन मूक पशुओंको कम भोजन न देवें।

५ इन कामवाले पशुओंको लाठी चाबुकसे निर्दयताके साथ कभी नहीं मारना चाहिये। ऐसी आदत डालना चाहिये जिससे पशु इशारेसे ही काम करें, उनको मारवार मारना न पडे। इसी तरह जगतके पशुओंसे उनको कष्ट न देते हुए जो कुछ काम लेना हो सो लो।

मनवाले सैनी पशु पक्षी मनुष्यसे थोड़े ही दर्जे कम हैं इस लिये उनकी भी कदर भले प्रकार करो। जो पशु जो काम दे ७ सक्ता है उससे वह काम लो। पहरा देने व रक्षा करनेका काम

कुत्ता अच्छी तरह कर सक्ता है। बंदरोंको सिखाया जाय तो यह पखा खींचने आदिके शारीरिक काम भले प्रकार कर सके हैं।

जिनके मन होता है उनके दुःख तथा सुखका विचार बहुत रहता है इससे उनको कष्ट होनेपर वे बहुत दुःखका अनुभव करते हैं।

जिन छोटे२ जंतुओंके मन नहीं है दुःख तो उनको भी होता है पर व देर तक उस दुःखका स्मरण रखकर क्लेशित नहीं होते। दयावानका कर्तव्य है कि वह चींटी, चीटे, मक्खी, पतंग आदि जंतुओं पर भी दयाभाव रक्खे और उनकी हिंसा अपनेसे न हो इनकी सम्हाल रक्खे।

मानवोंको अपने शरीरके निर्वाहके लिये ४ प्राणधारी एके न्द्रिय जीवोंसे ही मतलब रखना चाहिये। क्योंकि सिद्धांत यह है कि जितनी कम हिंसासे हम अपना निर्वाह कर सकें उसी तरह हमको वर्तना चाहिये। तो भी मतलबसे ज्यादा जलको भी फैंकना या वर्तना न चाहिये, मतलबसे अधिक अग्नि भी जलानी न चाहिये। मतलबसे अधिक अन्न, शाक, फल आदि भी नहीं वर्तने चाहिये। वृक्षोंको वृथा सताना व कष्ट देना नहीं चाहिये। जो फलदार वृक्ष हैं—बड़े मनोहर नारियल, केला, आम, अमरूद, नारंगी, अनार, सेव आदि नाना प्रकारके फल देते हैं, उनके पके फल लेनेपर उनकी रक्षा करनी चाहिये। निरर्थक वृक्ष आदि एकेंद्रिय जीवोंको भी मत सताओ।

एक बात यह भी माननेकी है कि वृक्ष आदि वनस्पतियोंमें मांस रुधिर व हड्डी नहीं होतीं जब कि दो इंद्रियसे ले र पंचे

द्रिय पशु और मनुष्योंके होती हैं। इस लिये वनस्पति आदिके फूल, फल, पत्ते आदि सूखने पर अपनी स्वाभाविक गन्ध व रसको ही देते हैं। यदि कोई जलादिसे सडनेका प्रसंग न आवे तो वे जीव रहित होने पर वर्षों बने रहते हैं और बड़े सुहावने रहकर मानवोंका लाभ करते हैं। यह बात मांस रुधिरवाले जन्तुओंकी नहीं होती, जीव रहित होनेपर उनके शरीर सड़ने लगते हैं, उनमें सूक्ष्म जन्तु उसी जातिके वेगिनती पैदा हो होकर मरते हैं। इसीसे मांस कभी भी दुर्गंधसे खाली नहीं होता व अनेक जन्तुओंको पैदा करके उनके मृतक कलेवरका स्थान होता जाता है। *

हमारे कहनेका मतलब यह है कि अहिंसाके सिद्धांतको ध्यानमें लेते हुए वर्तकर व्यवहारमें जगत्के जीवोंका शक्तिके अनुसार परोपकार करके अपनी शक्तिको सफल बनाना चाहिये। प्रेमका संचार प्राणीमात्रपर रखकर उनके हित हितका खूब विचार करके जगतमें चलना चाहिये।



* आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ (पुरु अमृतचंद्र)

भावार्थ-मांसकी डली चाहे कच्ची हो, पक्की हो व पक रही हो उसमें निरंतर उसी जातिके सूक्ष्म जन्तुओंकी उत्पत्ति होती है।

पांचवां अध्याय।

भोजनपानका विचार।

इसी बातकी बहुत जरूरत है कि मानवसमान भोजनपान करनेके सम्बन्धमें पूरा २ विचार करे। जैसे किसी यन्त्रमें उससे काम लेनेके लिये हम ऐसा ही व इतना ही मसाला किसी नियमित समय पर डालते हैं जिससे व जितनेसे वह यन्त्र ठीक २ चल सके और कभी बिगड़े नहीं इसी तरह शरीर रूपी यन्त्रमें वही व उतना ही मसाला डालना चाहिये जिससे वह ठीक २ काम कर सके, आलसी व रोगी न हो। यह बात खूब ध्यानमें रखनेकी है कि हमारा जीवन खानेपीनेके लिये नहीं है किंतु खापीकर शरीरको पालन करके उससे खूब काम लेनेके लिये है।

इसलिये हमको चाहिये कि हम मांस, मदिरा, व अन्य सड़े, बुसे, बासी, खराब भोजनको कभी न खावें। भोजनकी परीक्षाके लिये हमारे पास दो दरबान हैं, नाक और जीभ, इन दोनोंसे परीक्षा करें। जिसको नाक व जबान मना करे उसे हमें कभी न लेना चाहिये इसीसे हमको ताजा भोजन शुद्ध अन्न, शाक, फल, दुग्ध और घी आदिका करना चाहिये। ताजे बने हुए भोजनमें स्वाद ठीक होता है। भारतमें दाल रोटीका सादा भोजन प्रसिद्ध है। वास्तवमें दाल, रोटी, भातका भोजन अवगुण कोई भी न करके गुण करता है। परन्तु ये वस्तुएँ जबसे बननेको तैयार हों तबसे ६ घंटेके भीतर की ही काम लेने लायक इससे अधिकमें स्वाद बहुत खराब हो जाता है। पूरी तर-

कारी दिनभर तक ही ठीक रहती है । मिठाई पकवान जो पानी डालकर बनाया जाता है २४ घंटे तक, जिसमें पानी न हो किंतु अन्न हो वह भारतकी ऋतुके हिसाबसे वर्षामें ३, गर्मीमें ९, तथा जाड़ेमें ७ दिनतक, जिसमें अन्न भी न हो वह क्रमसे ७, १५ और ३० दिनतक काममें आ सक्ता है । घीको मक्खन बननेके समयमें ही अग्निमें तपाकर निकालना चाहिये वही घी ठीक स्वादमें जबतक रहे काममें लेना चाहिये । शाकभाजी आदि बनानेमें मसाला जितना कम हो उतना ही वह अधिक लाभकारी है । गेहू आदिका आटा बनानेमें चूकर निकाल डालना न चाहिये, यह पचनमें सहायक है । भात पकानेमें उसका माड अलग न करना चाहिये । उसमें चावलकी शक्ति-अंश बहुत होता है । दाल, तरकारी इतनी पकानी चाहिये जो उसका असली रूप बिगड न जावे कि वे पानीके समान हो जावें । भोजनमें सुखे मेवा, बादाम, अखरोट, मूगफली आदि व अन्य पके फलोंका भी उपयोग करते रहना चाहिये । जिस दशामें जो वस्तु पैदा होती है उसी दशामें उसके चबाकर खानेसे बहुत लाभ होता है । नमक मसाला डालनेसे उसकी पूर्ण शक्ति काममें नहीं आती ।

जर्मनीके डाक्टर लुई कोहनीने अपनी पुस्तकमें जिसका हम पहले वर्णन कर चुके है इस भोजनपान पर बहुत उपयोगी अध्याय लिखा है, उसे हरएकको पढ़ना चाहिये । वह लिखते हैं "जो भोजन असली दशामें स्वादिष्ट और चित्ताकर्षक हों वे जल्दी हजम होते है । नमक व मसालेके साथ पकानेसे देरमें हजम होते है । पतले भोजन देरमें हजम होते हैं

जैसे शरबत आदि । पके फल शीघ्र हजम होते हैं । भोजनके पीछे फल खानेसे सब भोजन शीघ्र पचता है। कुत्ते अधिक भोजन करलेनेपर घास खाकर भोजनको पाचक बना लेते हैं । अन्न व तरकारीमें जो पानी डालो उसे निकालो नहीं । वह शक्तिवर्द्धक है । तरकारियोंको कम पानीमें पकाना अच्छा है । एक साथ एक समयमें एक रोटी और एक तरकारी खाओ, साथमें दूसरी तरकारी या दाल न हो, खाना भूख रखकर खाओ, बारबार खानेसे परहेज करो, क्योंकि इससे हाजमा बिगड़ता है । जब तक पहला भोजन हजम न हो जावे दूसरी वस्तु दूसरी दफे न खाओ । "

उक्त डाक्टरका यह लिखना बहुत ही योग्य है कि जबतक हमको खूब भूख न लगे तबतक हमें भोजन न करना चाहिये तथा कई प्रकारका भोजन एक साथ न करके यदि एक ही प्रकार का एक साथ हो तो वह अधिक लाभकारी है ।, बहुतसे लोग बिना भूख भोजन करके रोगोंको मोल लेते हैं । जितने रोग हैं ये पेटकी दशा बिगड़ से पैदा होते हैं । यदि कोई मनुष्य दिनमें एक दफे भी भोजन करे तो उसका वह भोजन उसके २४ घंटेके लिये शरीररूपी यन्त्रसे काम देनेके लिये बस है । हमारा इससे यह कहनेका मतलब नहीं है कि कोई भी दूसरी दफे भोजन न करे किंतु यह है कि यदि एक दफे भोजन करनेका अभ्यास डाले और देखे कि उसको शरीरमें आराम रहता है, स्वास्थ्य ठीक रहता है तो उसे दूसरी दफे भोजन करनेकी आवश्यकता नहीं । जब तक खूब भूख न लगे पेटमें कुछ डालना विष खाने समान है । आजकल जगतके लोग बारबार खानेको सभ्यता मान

हैं जिसका फल यह होता है कि पेट उनके भोजनको पचा नहीं सकता इससे वह बिना पचा हुआ ही पेटसे पतले दस्तके रूपमें निकल जाता है। भोजन पच गया है या नहीं इसकी पहिचान यह है कि दस्त थोड़ा व भूरे रंगका मुलायम और बधा हुआ हो और उसपर लेसदार तह पाई जावे तथा झटसे अलग हो जावे-पाखानेके स्थान पर लगा न रहे। यदि जाच की जावेगा तो १०००में ९९९ मनुष्योंके दस्त ठीक २ नहीं होता, वे कचा बिना पका भोजन पेटसे निकाल करके नष्ट करते हैं। अपना व जगतका हित करनेका उपाय यह है कि भोजन कभी भी अधिक व बिना पहला पचे हुए दूसरी बार न किया जाय। यदि मनुष्य इस बातकी जाच रखेंगे तो करोड़ों मन अन्न, घी आदि जो बिना पचे दस्तमें निकल जाता है वह बचे और दूसरे मनुष्योंके काम आवे। तथा आप कभी रोगकी गोदमें न सोवे। यदि २४ घंटेमें १ दफे भोजनकी आदत डाली जावे तो बहुत लाभ हो। डाक्टर लुई कोहनीने इस विषयमें कहा है "एक भोजनके ठीक २ पच जानेके लिये पूरा वक्त देना चाहिये। संसारमें पशु पक्षियों तकमें यह नियम है कि एक भोजन करनेके पीछे दूसरा भोजन बहुत देर पीछे लेते हैं। बहुधा व्रत उपवास करनेसे शरीरका हाजमा ठीक हो जाता है। यह देखा गया है कि एक दफा पूरा भोजन खानेके बाद सर्प बहुधा कई सप्ताह तक भोजन नहीं करता। यह भी जांचा गया है कि हिरण और खरगोश सप्ताहों और महीनों तक बहुत ही कम भोजन पर रहते हैं।" वास्तवमें यह बात भी बहुत जरूरी है कि ८ वें दिन

महीनेमें ४ उपवास किये जावें इससे शरीरकी सफाई होती है व जो कुछ अपक्व अंश होता है वह पच जाता है। २४ घंटे पेटमें कुछ न डालनेसे व प्यास अधिक हो तो केवल गर्म पानी पीनेसे शरीर शुद्ध हो जाता है। आठ दिनमें जो कोई रोगका कारण पैदा भी हुआ हो वह भस्म हो जाता है। बीमारीसे बच कर जीवनमें सुख सहित रह बहुत काम करना हो तो भोजन भूख लगने पर ही खाओ, खूब पचाओ व कभी२ उपवास करो। हमारे लिये १२ घंटेका दिन बहुत है जिसमें हम भोजन बनावें और खावें। सूर्यकी किरणोंके प्रकाशसे भोजनमें पाचनशक्ति होती है इससे जबतक सूर्यका प्रकाश है तब ही तक भोजन बनाना व खाना चाहिये। हमें आवश्यक्ता नहीं है कि हम रात्रिको भोजन करें। रात्रि आराम करने व भोजन पेटमें पकानेके लिये है। कबूतरके समान दिनके खानेवाले पक्षी रातको कुछ नहीं खाते। रात्रिको भोजन बनाने व खानेमें जन्तुओंका घात भी बहुत हो सकता है क्योंकि यदि अंधेरा रक्खा तो जन्तुकी रक्षा न हो, यदि प्रकाश रक्खें तो उसकी ज्योतिके आसक्त बहुतसे छोटे बड़े जन्तु आते हैं और भोजनमें गिरकर मर जाते हैं। इससे भोजन भी अशुद्ध हो जाता है।

पानी भी हमको ताजा असली पीना चाहिये। उक्त डाक्टर लुईका कहना है "पशु सदा बहते हुए पानीको ही ढूंढते हैं और नदीकी धाराओंसे पानी पीना पहाड़ोंसे निकलते हुए झरोंकी अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। जिस पानी पर सूर्यकी किरणें जो हैं और जो पत्थरके टुकड़ों पर बहता आया है वह

पहाड़के झरनोंके ताजे पानीसे अच्छा होता है। बीमारीसे बचनेके लिये जरूरी है कि वही पानी पिया जाय जैसा नेचरमें मिलता है। मात्र पानीसे ही प्यास बुझनी चाहिये तथा जहा-तक हो कम पीना चाहिये। जो पशु रसदार फलादि खाते हैं व पानी कम पीते हैं। मनुष्यादि रसदार फलोंको खाएं तो प्यास कम लगे"। इस ऊपरके कथनसे साफ २ प्रगट है कि हमको बनावटी पानी जैसे कि बर्फ, सोडावाटर, लेमनेड आदिको कभी न पीना चाहिये। कूप, नदी आदिका स्वच्छ पानी भले प्रकार छानकर पीना चाहिये। पानीमें बहुतसे जन्तु छोटे बड़े अनगिनती पैदा हो जाते हैं। इस लिये जरूरत है कि वे हमारे पेटमें न जावें तथा उनकी हत्या भी न हो। ये जन्तु मोटी आंखसे कभी नहीं दिखते हैं। परन्तु दुरबीनसे भले प्रकार दिखते हैं। इससे उचित है कि दोहरे गाढ़ेके कपड़ेसे पानीको छान लें और उस छन्ने पर जो कुछ हो उसको उसी पानीमें छने पानीसे धोकर पहुंचा देवें। बहुतसे रोग जो अनछना पानी पीकर पेटमें कीड़ोंके जानेसे होते हैं उनसे हमारी रक्षा हो जाती है। यह भी याद रखना चाहिये कि यह पानी पौन घंटे तक काममें आ सक्ता है। फिर यदि लेना हो तो फिर छानना चाहिये और छन्नेको किसी पात्रमें धोकर उसके धोवनको रखना चाहिये। जब फिर पानी लेने जाया जाय तब उस धोवनको जहांका वह पानी था वहीं भेज देना चाहिये। यदि वार वार छाननेसे बचना हो तो उस पानीको यदि उबाल लिया जावे तो वह २४ घंटे, यदि गर्म किया जाय तो १२ घंटे, यदि कुटी हुई लौंग, इलायची, चदन,

ल या निमक आदि डालकर उसका रंग व स्वाद बदला जाय । ६ घंटे काममें आ सक्ता है फिर यह छाननेसे भी काममें नहीं ाता । बहुतसे रोग बिगड़े हुए पानीसे पैदा हो जाते हैं इससे ानीको बहुत विचारके साथ पीना चाहिये । जहां कहींके पानीमें ागिष्ट होनेका सन्देह हो वहाके पानीको उबालकर ही ठंडा रके पीना चाहिये । दूध तुर्त दुहकर या तो छानकर पी लेना ाहिये या उसी समय उबाल डालना चाहिये । ऐसा दूध फिर २४ घंटे चल सक्ता है । यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिये के भोजन खूब चबा चबाकर संतोष और शांतिके साथ मौन खकर किया जाय जिससे एक चित्तसे किये जाने पर व खूब पेस जानेसे व लार मिल जानेपर भले प्रकार हजम हो सके। स्वच्छ हवा, निर्मल आरोग्यी पानी और शुद्ध ताजा भूख लगने पर भोजन हमारे इस शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं जिसमें रहकर हमें आत्मीक सुख और शांतिका लाभ करना है ।

गृहस्थीमें सुख-शान्तिका भोग।

जो सुख शांति अपने आत्माके पास है-अपने आत्माका स्वभाव है उसका लाभ हरएक आत्माके सत्स्वरूपके जाननेवालेको प्राप्त हो सक्ता है । गृहस्थमें रहकर हरएक प्रकारका कार्य करने वाला चाहे वह क्षत्री, वैश्य या शूद्र कम करे इस सुख-शांतिका उपभोग स्वयं करसक्ता है । बाहरी चेतन व अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध व उनका वर्तन एक ज्ञानी गृहस्थको बाधक नहीं होता है । वह स्त्री पुत्रादिके साथ ऐसे मोहमें अन्धा नहीं हो जाता

कि उनके मोहमें पड़कर अपने आत्माको भूल जावे व उनहीको अपना सर्वस्व जाने। वह जानता है कि उनका सम्बन्ध एक वृक्षपर इधरउधरसे आए हुए पक्षियोंके संयोगके समान है जो सवेरा होते ही सब बिछुडकर अपने २ मार्ग जानेवाले हैं। इस लिये वह गृहस्थ स्त्री पुत्रादिके बीचमें इसी तरह रहता है जैसे जलके बीचमें कमल रहता है। कमल जलमें रहकर भी जलसे लिप्त नहीं होता ऐसे ज्ञानी कुटुम्बमें लिप्त नहीं होता। वह स्त्री पुत्रादिके आत्माओंको भी अपने आत्माके समान जानता है और इसलिये व्यवहारमें उनके मन वचन कायको अपनेसे कोई कष्ट न पहुंचे ऐसा व्यवहार करता है तथा उनका जीवन सुखशांतिके साथ अपने जीवनकी शक्तियोंको उपयोगमें लेता हुआ बीते ऐसा प्रबन्ध करता है। अपनी स्त्रीको आत्माका सत्स्वरूप समझाकर सुख शांतिके लिये आत्मारूपी नदीमें स्नान करनेको समझाता है तथा मन वचन कायसे संतोषपूर्वक परिश्रम करते हुए व अहिंसा-का ध्यान रखते हुए गार्हस्थ्य जीवन बितानेकी शिक्षा देता है। स्त्रीको अपने गार्हस्थ्य जीवनमें अर्द्धांगिनी समझकर उससे अपने काममें सहायता लेता तथा उसके काममें सहायता देता है। परस्पर सच्चे प्रेमरसके प्याले एक दूसरेको पिलाते हैं। पतिपत्नीका हार्दिक प्रेम ही योग्य सन्तान उत्पत्तिका मूल है। मनमें आकुलताओंका जितना वास कम होगा उतना सुख शांतिके अनुभवका अवसर आवेगा। इस लिये गृहस्थी अपनी स्त्रीको भले प्रकार समझाता है कि जो कुछ मैं द्रव्य कमाता हूं उसीमें ही भले प्रकार कुटुम्बका पालन करना चाहिये। किसीसे कर्ज लेकर न

जीवन निर्वाह करना चाहिये, न विवाह शादी आदिके अवसरोंमें कर्ज लेना चाहिये। क्योंकि कर्जके भारके समान गृहस्थीको दूसरा आकुलताका स्थान नहीं है। निराकुल रहनेके लिये गृहस्थीका कर्तव्य ही है कि झूठी मान बड़ाई व सांसारिक मजे शौकको छोड़कर जो कुछ न्यायसे कमावे उसीमें ही सब कुछ काम करे जिसमें कभी भी चिंताकी गोदमें पड़कर व्याकुल न होना पड़े।

गृहस्थी अपनी पुत्र पुत्रियोंको भी आत्मधर्म सिखाता है, आत्माकी पहचान बताता है तथा उनकी शक्तियां कुंठित न रहें इसलिये उनको यथायोग्य शिक्षा देता है—विद्या पढ़ाता है—व्यायाम करना सिखाता है—ब्रह्मचर्यके गुण बताकर वीर्य रक्षा करनेका लाभ एकान्तमें समझा देता है। पुत्र वीर, साहसी, पुरुषार्थी विद्वान्, धर्मात्मा बनें, पुत्रियां आलस्य रहित, विदुषी, शिक्षिता, शुभाचारवान व विचारशील बनें इस बातका पूरा २ प्रयत्न करता है। ज्ञानी गृहस्थ यह परवाह नहीं करता है कि मैं इनका भला करता हूं तो ये भी बदलेमें मेरा कुछ आगे भला करेंगे। वह यह अपना धर्म समझता है कि जब मैंने संतानको जन्म दिया है तब मुझे उन्हें अपनी शक्ति अनुसार योग्य बनानेका उपाय करना ही चाहिये। इसीसे वह संतानका सच्चा हित करता है। उनको कभी अयोग्य बाल अवस्थामें विवाहता नहीं—उनका कभी अनमेल विवाह करता नहीं। कन्याको योग्य युवा वरके सुपुर्द ही करता है। गृहस्थ पुरुषका यही कर्तव्य है कि वह बिना किसी स्वार्थ अपने कुटुम्बका हित करे

ज्ञानी गृहस्थका यह भी फर्ज है कि कभी भी कुटुंबके मोहमें पड़कर अपने धर्मको न छोड़ बैठे। कितना भी भारी कुटुम्ब हो, कैसा भी भारी व्यापार हो, कैसा भी बड़ा राज्यप्रबन्ध हो उन सबको करता हुआ ज्ञानी अपने आत्माके सत्स्वरूपको जानता रहता है, यह सब क्रियाएं मेरे आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं ऐसा अनुभव करता रहता है। तथा व्यवहारमें अहिंसा व दया धर्मको कभी छोड़ता नहीं, इन दोनों धर्मोंकी प्रतिष्ठा यथायोग्य निमित्त मिलाता रहता है। अपने सत्य धर्मको प्राण जाते भी नहीं त्यागता है।



छठा अध्याय।

स्वपर हितके लिये बलिदान।

बलिदान ऐक ऐसा तप है कि जिस तपके द्वारा अपना और दूसरोंका हित दिल खोलकर करनेका अवसर मिलता है। बड़े २ महान पुरुषोंने प्राचीन कालमें व अब इस बलिदानके भावके द्वारा ही अपना और जगतका सच्चा हित किया है। जो कोई व्यक्ति अपनी मानसिक, वाचिक, शारीरिक, आर्थिक तथा विद्या आदि सम्बन्धी शक्तियोंके द्वारा अपना सांसारिक और क्षणिक स्वार्थ न कर अपना आत्महित तथा जगतका कल्याण करता है वह एक महान पुरुष है—महात्मा है। ऐसे महात्माओंके ही द्वारा जगतका आश्चर्यजनक हित हुआ है, होता है व हो सक्ता है। जो लोग केवल गृहस्थीमें ही रहकर पर उपकारें

हो जाती है। आत्मिक बलसे लाखों आदमी उसकी बातको माननेवाले हो जाते हैं। गृहत्यागीके ऊपर जो भेद कहे हैं उनमें जो ब्रह्मचारीके समान पात्र वस्त्र रखकर रहते व भिक्षावृत्ति करते वे यदि बना हुआ शुद्धाहार कहीं न मिले तो स्वयं भोजनादि बना लेते व वनमें फलादिको छिन्नभिन्न कर खा लेते हैं तथा दूसरे वे गृहत्यागी हैं जो थोडा वस्त्र व पात्र रखने तथा स्वय हाथसे भोजन नहीं बनाते, जो बना हुआ शुद्ध भिक्षासे मिल जाता है उसे ही लेते हैं ऐसे गृहत्यागी बहुत ही विरक्त होते हैं, यह किसी सवारी पर भी नहीं चढते, पैदल ही घूमनेमें, वनादिकी स्वच्छ हवा लेनेमें ही सतोपी रहते हैं। यही विरक्त धीरे २ वस्त्रादिकी अपेक्षा भी छोड़ देते हैं और बालकके समान निर्भय हो वनादिमें विचरते हैं। भूखकी बाधा होने पर गावमें आते हैं वहा पर शुद्ध भोजन दिये जाने पर खड़े २ हाथमें ही लेकर शीघ्र थोड़ासा खा पी व कुछ पानी पात्रमें शौचार्थ ले वनको चले जाते हैं। ऐसे महात्माओंकी मूर्ति ही सुखशातिमय होती है। ये महात्मा सुख-शातिमय आत्म-समुद्रमें मानो मग्न रहा करते हैं। सुखशातिकी अधिकर प्राप्तिमें सफल होते रहते हैं।

उपसहार।

इस तरह यह सुखशाति जो अपने आत्मामें है, आत्माका ही स्वभाव है, आत्माके सत्स्वरूप पर निश्चय लानेवालेको प्राप्त होना प्रारम्भ होतो है और फिर दिन पर दिन इसका लाभ बढता

वहां उनको स्वय पकाकर खा पी लेवे । लज्जा कषायको जीतकर सरल मन करनेवाला ही ऐसा कर सक्ता है । यह गृहस्थियोंका महा उपकारी है । इसकी लज्जाके त्यागसे उनसे दान बनता है। ऐसा आत्मविचारी पुरुष जहा जावे वहां " धर्मलाभ हो " व " भिक्षा देहि " इस बातके कहने मात्रसे स्त्रीपुरुष उसकी सेवामें आ जाते हैं । ऐसा पुरुष कभी धनको हाथसे छूता नहीं । उदर मात्र भरकर आत्म चिन्तवन करके सुख शांति भोगता है। तथा समय समय पर लोगोंको आत्माके सत्स्वरूपका उपदेश करता है, व उनको सन्मार्ग पर लगाता है । बहुत करके पैदल ही भ्रमण करता है । यदि कभी ऐसा नहीं कर सक्ता है तो यदि किसीने सवारीका प्रबन्ध स्वत कर दिया तो सवारी पर भी बैठकर इधर उधर जा सक्ता है । यह बात एक विवेकवानके लिये स्वय विचारनेकी है कि मैं किस मर्यादामें रह सक्ता हू उसी मर्यादामें रह कर वह अपना जीवन बिताता है । भिक्षावृत्तिसे रहनेवाला बहुत ही विनयशील, अभिमानरहित आत्मध्यानी होना चाहिये । ऐसा पुरुष एक ऊचा महात्मा होता है जिसके दर्शन मात्रसे जनता आनन्दको प्राप्त करती है । आत्मध्यान या योगाभ्यासमें एसी शक्ति है कि इसके कारणसे मनमें जो किसीके लिये अच्छा होना विचार करे, व वचनोंसे जो कहे वह प्राय सिद्ध हो जाता है । आत्मध्यानी का मानसिक बल इतना बढ जाता है कि अपने मनके दृढ विचारसे बहुतोंके विचार पलट सकता है, वाचिक बल ऐसा बढ जाता कि जो कुछ उपदेश दे व कहे उस पर जनता भले प्रकार ध्यान देवे, कायिक बल स्वास्थ्य रूप रहता है शरीरमें कान्ति

हो जाती है। आत्मिक बलसे लाखों आदमी उसकी बातको माननेवाले हो जाते हैं। गृहत्यागीके ऊपर जो भेद कहे हैं उनमें जो ब्रह्मचारीके समान पात्र वस्त्र रखकर रहते व भिक्षावृत्ति करते वे यदि बना हुआ शुद्धाहार कहीं न मिले तो स्वय भोजनादि बना लेते व उनमें फलादिको छिन्नभिन्न कर खा लेते हैं तथा दूसरे वे गृहत्यागी हैं जो थोडा वस्त्र व पात्र रखते तथा स्वय हाथसे भोजन नहीं बनाते, जो बना हुआ शुद्ध भिक्षासे मिल जाता है उसे ही लेते हैं ऐसे गृहत्यागी बहुत ही विरक्त होते हैं, यह किसी सवारी पर भी नहीं चढते, पैदल ही घुमनेमें, बनादिकी स्वच्छ हवा लेनेमें ही सतोषी रहते हैं। यही विरक्त धीरे २ वस्त्रादिकी अपेक्षा भी छोड़ देते हैं और बालकके समान निर्भय हो बनादिमें विचरते हैं। भूखकी बाधा होने पर गावमें आते हैं वहा पर शुद्ध भोजन दिये जाने पर खड़े २ हाथमें ही लेकर शीघ्र थोड़ासा खा पी व कुछ पानी पात्रमें शौचार्थ ले बनको चले जाते हैं। ऐसे महात्माओंकी मूर्ति ही सुखशातिमय होती है। ये महात्मा सुख-शातिमय आत्म-समुद्रमें मानो मग्न रहा करते हैं। सुखशातिकी अधिकर प्राप्तिमें सफल होते रहते हैं।

उपसहार।

इस तरह यह सुखशाति जो अपने आत्मामें है, आत्माका ही स्वभाव है, आत्माके सत्स्वरूप पर निश्चय लानेवालेको प्राप्त होना प्रारम्भ होती है और फिर दिन पर दिन इसका लाभ बढता

कत्ता णहि कारइदा अणुमत्ता णेव कत्तीण ॥ ४ ॥
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
कत्ता णहि कारइदा अणुमत्ता णेव कत्तीण ॥ ५ ॥

भावार्थ—न मैं बालक हूं, न बुड्ढा हूं, और न इन अवस्थाओंका कारण हूं, न इनका कर्त्ता हूं, न करानेवाला हूं और न मैं इनके करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूं। न मैं रागरूप हूं, न मैं द्वेषरूप हूं, न मोहरूप हूं और न इन भावोंका कारण हूं, न मैं इनका कर्त्ता हूं, न करानेवाला हूं और न मैं इनके करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूं। न मैं क्रोधरूप हूं, न मानरूप हूं, न मायारूप हूं और न कभी लोभरूप होता हूं, न मैं इनका कर्त्ता हूं, न करानेवाला हूं और न करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूं।

केवल णाण सहावो केवल दंसण सहाव सुह मइओ
केवल सत्ति सहावो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥६॥
णियभाव णवि मुयइ परभाव णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥७॥

भावार्थ—जो कोई केवलज्ञान स्वभाव है, केवल दर्शन स्वभाव है, परम सुखमई है, तथा केवल शक्ति स्वभाव है वही मैं हूं ऐसा ज्ञानी विचार करे। जो अपने भावको कभी नहीं छोड़ता है तथा किसी भी परभावको कभी ग्रहण नहीं करता है परंतु सर्वको जानता है और देखता है सो ही मैं [redacted] ऐसा ज्ञानी चिंतवन करे।

एक्को मे सासदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ॥८॥

भावार्थ—मेरा आत्मा एक अकेला है, अविनाशी है, ज्ञान दर्शन लक्षणको रखनेवाला है, मेरे आत्मीक भावके सिवाय अन्य सर्व भाव मुझसे बाहर हैं तथा सर्व ही पर द्रव्यके संयोगसे हुए हैं ऐसे लक्षणधारी हैं।

सम्म मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झ ण केण वि ।
आसाए वोसरित्ताण समाहिं पडिवज्जए ॥ ९ ॥

भावार्थ—सर्व प्राणी मात्रमें मेरे समता भाव है, किसीके साथ भी मेरा वैर नहीं है, मैं सर्व आशाको छोड़कर एक समाधि भावको प्राप्त होता हूं।

सव्व वियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोग भत्ति जुत्तो इदरस्स य कहं हवे जोगो ॥१०

भावार्थ—जो कोई साधु सर्व विकल्पोंके अभावमें अपने आपको युक्त करता है वही योग भक्ति सहित है—अन्यके यह योग कैसे हो सक्ता है।

जह णाम कोवि पुरिसो, परदव्व मिणंति जाणिदुं
चयदि ।
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुचदे णाणी ॥ ? ॥

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष यह पर द्रव्य है ऐसा जानकर उसको त्यागता है उसी तरह ज्ञानी सर्व [illegible] पर जान छोड़ देता है।

णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
त मोह णिम्ममत्त समयस्स वियाणया विंति ॥२॥

भावार्थ-मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं है मैं तो एक ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी हूं। आत्माके ज्ञाता मुझे इसी लिये मोहसे ममत्व रहित कहते हैं।

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसण णाण मइओ सयारूवी
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणु मित्त वि॥३॥

भावार्थ-प्रगटपने मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञान मई हूँ, और सदा अरूपी हूं, मेरे सिवाय अन्य परमाणु मात्र भी कुछ मेरा नहीं है।

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदसण समग्गो
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खय णेमि ॥ ४ ॥

भावार्थ-मैं निश्चयसे एक हूँ, शुद्ध हूँ ममत्व रहित हूं ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूँ, मैं अपने शुद्ध आत्मामें स्थित होता व उसीमें तन्मय होता हुआ इन सर्व ही काम क्रोधादि भावोंको नाश करता हूँ।

जह कणय मग्गितवियं कणय सहाव णत परिच्चयदि
तह कम्मोदय तविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्त ॥५॥

भावार्थ-जैसे अग्निसे तपाया हुआ सोना अपने सुवर्णके स्वभावको नहीं छोड़ता तैसे कर्मोंके उदयसे तापायमान ज्ञानी जीव अपने ज्ञानपनेको नहीं त्यागता है।

सुद्ध तु वियाणतो सुद्धमेवप्पय लहदि जीवो ।
जाणतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पय लहदि ॥ ६ ॥

भावार्थ-यह जीव अपने आत्माको शुद्ध रूप अनुभव करता हुआ शुद्ध आत्माके स्वरूपको ही प्राप्त करता है परन्तु अशुद्ध रूप अनुभव करता हुआ अशुद्ध आत्माके रूपको ही पाता है ।

परमाणु मित्तिय पिहु रागादीण तु विज्जदे जस्स ।
णविसो जाणदि अप्पा णयतु सव्वागमधरोवि ॥७॥

भावार्थ-रागद्वेषादिकोंका परमाणु मात्र भी जिसकी आत्मामें है वह सर्व शास्त्रोंका जाननेवाला होने पर भी आत्माको नहीं अनुभव करता है ।

छिज्जदुवा भिज्जदुवा णिज्जदुवा अहवजादु विप्पलय ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥८॥

भावार्थ-ज्ञानी ऐसा विचारता है कि यह देहादि पर द्रव्य छिद जाहु, भिद जाहु, व कोई कहीं ले जाहु या प्रलय हो जाहु अथवा चाहे जिस कारणसे चला जाहु तथापि यह पर द्रव्य परिग्रह नहीं है ।

एदम्हि रदो णिच्च सतुट्ठो होहि णिच्च मेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तम सोक्ख ॥९॥

भावार्थ-इसी ही आत्मस्वरूपमें नित्य रत रहो, नित्य इसीमें सतोषी हो, इसीमें ही तृप्त हो तो तुझे उत्तम सुख होगा ।

जम्हा जाणदि णिच्च तम्हा जीवोदु जाणगो णाणी ।
णाण च [illegible] मुणेयव्वं ॥१०॥

भावार्थ-क्योंकि नित्य ही जाननेवाला है इसलिये जीव ज्ञायक है, यही ज्ञानी है। ज्ञान ज्ञानीके सिवाय अन्यत्र नहीं है ऐसा जानना चाहिये।

अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणा गुणमसद्दं।
जाण अलिंग गग्गहणं जीव मणिद्दिट्ठ संठाणं ॥११॥

भावार्थ-इस जीवको ऐसा मानो कि यह जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्दसे रहित, सूक्ष्म, चेतना गुणधारी, किसी बाहरके चिह्नसे नहीं रखने योग्य तथा शरीर संबन्धी आकारोंसे रहित है।

उवओए उवओगो कोहाइसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहो कोहे चेयहि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१२॥

भावार्थ-देखने जाननेवाले उपयोगमें उपयोग है, क्रोधादि कोंमें कोई भी उपयोग नहीं है। क्रोधमें ही क्रोध है, ज्ञान दर्शन उपयोगमें निश्चय कर क्रोध नहीं है।

पुग्गलकम्म कोहो तस्स विवागोदऊ हवइ एसो।
णहु एस मज्झभावो, जाणगभावो हु अहमिक्को॥१३॥

भावार्थ-सम्यग्ज्ञानी ऐसा जाने हैं कि जो यह क्रोध आदि राग द्वेष है सो पुद्गल कर्म है उसीका फल रूप उदय यह भाव क्रोध है। यह मेरे जाननेमें आता है पर मेरा यह भाव नहीं है क्योंकि मैं तो एक ज्ञायक स्वरूप हूं।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झपरित्ति णादव्वा ॥१४॥

भावार्थ—जो चेतनेवाला आत्मा भेदज्ञान या प्रज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य है सो निश्चयसे मैं ही हू । मेरेसे अन्य जो भाव हैं वे सब मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये ।

श्री पूज्यपादस्वामी ।

यन्मया दृश्यते रूप तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूप ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१॥

भावार्थ—ज्ञानी विचारता है कि जो कुछ रूपी वस्तु मुझे दिखलाई देती है वह कुछ जानती नहीं है क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, तथा जो जाननेवाला आत्मा है उसका स्वरूप इन्द्रियोंसे दिखाई नहीं देता तो मैं किससे बात करू ? अर्थात् बात न कर मौन रह स्वरूपका अनुभव करना चाहिये ।

यदग्राह्य न गृह्णाति गृहीत नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्व तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२॥

भावार्थ—जो गृहण करने योग्य नहीं है ऐसी जो पर वस्तु उसे जो कभी ग्रहण नहीं करता है तथा जिस अपनी आत्म विभूतिको ग्रहण किये हुए है उसे कभी छोड़ता नहीं है और जो सर्व तरहसे सर्वको जानता है वही मैं अपने आपसे अनुभव करने योग्य आत्मा हू ।

यः परात्मा स एवाह योऽह स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्य कश्चिदिति स्थितिः॥३

भावार्थ—जो परम त्मा है सो ही मैं हूँ, जो मैं हूँ सो ही परमात्मा है, मेरे और परमात्माके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं

भावार्थ-जैसे जैसे आत्माके अनुभवमें उत्तम आत्म तत्व आता जाता है और उसका आनन्द प्रगट होता है वैसे वैसे इन्द्रियोंके विषय जो सुगम भी हों नहीं रुचने लगते हैं ।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहार बहिः स्थितेः ।
जायते परमानन्द' कश्चिद्योगेन योगिनः ॥२॥

भावार्थ-जो व्यवहारसे बाहर ठहरा है और आत्माके अनुभवमें लीन हुआ है उस योगीके किसीके योगसे परम आनन्द पैदा होता है ।



श्री पद्मानंदि आचार्य ।

आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि स्थितोऽपि दुर्लक्षता-
प्राप्तोऽपि स्फुरति स्फुट यदहमित्युल्लेखतः सतत ॥
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरोर्भ्रांति समुत्सृज्यता-
मतः पश्यत निश्चयेन मनसा तं तन्मुखाक्षमजा'॥१॥

भावार्थ-आत्मा यद्यपि स्पर्श रस गंध वर्ण मई मूर्तिसे रहित है तो भी अपने शरीरमें स्थित है । यद्यपि यह दिखलाई नहीं पड़ता है तो भी मैं ऐसे चिंतवनसे सदा ही प्रगट है । इससे तू क्यों मोह करता है, गुरुके उपदेशसे अपना भ्रम छोड़ और अपने भीतर अपनी इन्द्रियोंको भी उधर लगाकर निश्चय मनसे उसको देख

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेद' समुत्पद्यते ।
आनन्दानन्तरापना च महसा स्थाने सम्मीलिति

यस्यैकस्मृति मात्रतोऽपि भगवानत्रैव देहांतरे ।
देवस्तिष्ठति मृग्यता स रभसादन्यत्र किं धावत ॥२॥

भावार्थ–जिसके स्मरण मात्रसे ज्ञान ज्योति झलकती है, मोह अंधकार हटता है, मनमें एकाएक आनंद सहित कृतार्थता प्रगट होती है सो भगवान–आत्मा–देव इस शरीरमें ही है उसको अच्छी तरह ढूँढो, और स्थानोंमें क्यों दौड़ते हो?

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्नविकारि न भो भवेत् ॥३॥

भावार्थ–क्रोधादि कर्मोंके संयोग होने पर भी यह परम ज्योति आत्मा विकार रहित रहता है जैसे विकार करनेवाले मेघोंके होते हुए भी आकाश अविकारी रहता है।

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात्तदेकं निर्मलं तपः ॥४॥

भावार्थ–यही एक परमज्ञान है, वही एक निर्मल दर्शन, है, वही एक चारित्र है और वही एक निर्मल तप है।

नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम् ।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥ ५ ॥

भावार्थ–वही आत्मा एक नमस्कार योग्य है, वही मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक सज्जनोंके लिये शरण है।

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधे ।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम् ॥ ६ ॥

भावार्थ–सर्व शास्त्ररूपी महासमुद्रमें प्राप्त वही एक उत्कृष्ट रत्न है, वही एक सब सुन्दर वस्तुओंमें परम सुन्दर है।

समार घोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः।
यन्त्रधारागृहं शांत तदेव हिमशीतलम् ॥७॥

भावार्थ–ससारके भयानक आतापसे सदा तपने हुए दुःखी प्राणीके लिये वही आत्मा एक बर्फके समान ठंडा परम शांत जल मंदिर है।

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः।
यथाकल्पनयाप्येतद्धीनमानंदमन्दिरम् ॥८॥

भावार्थ–जो कोई शुद्ध चिद्रूप है वही मैं हूं इसमें संशय नहीं। इस प्रकारकी भी कल्पनासे जो रहित है वही निर्विकल्प आनन्दका मंदिर है।

कर्मबंधकलितोप्यबंधनो, द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः।
देहवानपि च देहवर्जितः, श्चित्रमेतदखिलं किलात्मनः ॥९॥

भावार्थ–जो कर्म बंध सहित होनेपर भी बंधन रहित है, द्वेष, रागसे मलिन मालूम होनेपर भी निर्मल है, देहधारी दिखती है तो भी वह शरीर रहित है, आत्माका यह सब स्वरूप विचित्र है।

सविशुद्धपरमात्मभावना। सविशुद्धपदकारणं भवेत्।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो। लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥१०॥

भावार्थ-शुद्ध परमात्माकी भावना शुद्ध पद लाभका कारण है। अशुद्ध भावना अशुद्ध पद लाभका कारण है। जैसे सुवर्णसे सुवर्णकी और लोहेसे लोहेकी वस्तु बनती है।

व्याधिनाङ्गमभिभूयते परम्। तद्गतोपि न पुन-
चिदात्मकः।
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते, वह्निना न गगनं तदा-
श्रितम् ॥११॥

भावार्थ-रोगसे शरीरको पीड़ा होती है परन्तु उनके भीतर चिदात्माको नहीं। अग्नि लगने पर मकान ही जलता है, उसके भीतरका आकाश नहीं जलता।

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं, स्नानमत्र कुरुतोत्तम
बुधाः।
यन्नयात्यपरतीर्थकोटिभिः। क्षालयत्यपि मलं
तदन्तरम् ॥१२॥

भावार्थ-आत्मज्ञान पवित्र उत्तम व अद्भुत तीर्थ है। हे बुद्धिवानो! इसीमें स्नान करो, जो मल करोड़ों तीर्थोंके स्नानसे नहीं जाता वह अन्तरंगका मल इसी तीर्थके स्नानसे जाता है।

यः कषायपवनैरचुम्बितो, बोधवह्निरमलोल्लसद्दशः।
किं न मोहतिमिरं विखंडयन्, भासते जगति
चित्प्रदीपकः ॥१३॥

भावार्थ-जो कषायकी वायुसे स्पर्श नहीं पाता, जिसमें ज्ञानरूपी अग्निकी निर्मल ज्वाला उठ रही है ऐसा वह चैतन्य रूपी दीपक क्या मोह अंधकारको दूर करता हुआ

प्रकाश होता है अर्थात् अवश्य होता है ।

बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी, या मतिर्बहु
विकल्पधारिणी ।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता, सा सती न सदृशी
कुयोषिता ॥१४॥

भावार्थ—जो बुद्धि चैतन्य स्वरूप जो अपना कुल गृह उसमें नहीं रहकर बाहर शास्त्रके वनमें घूमती रहती है और बहुत विकल्प उठाती है वह पतिव्रता स्त्रीके समान सती नहीं है किंतु व्यभिचारिणीके समान दोषपूर्ण है ।

चित्स्वरूपपदलीनमानसो, य सदा स किल योगि
नायक'
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको दर्शनीय इति
चात्मसंनिभ ॥१५॥

भावार्थ—जिसका मन चैतन्य स्वरूप अपने पदमें लीन होता है वह योगियोंका स्वामी है । वह समस्त जीवोंको अपने आत्माके समान चैतन्य रूप देखता है ।

कुर्वतु कर्मविकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य ।
मुखसंयोगजविकृतेर्नविकारी दर्पणो भवति ॥१६॥

भावार्थ—पुण्य पाप कर्म अनेक विकल्प करे । मैं अत्यन्त शुद्ध रूपको धरनेवाला हूं मुझे उससे क्या ? जैसे मुखके अनेक विकारोंके संयोगके होनेपर भी दर्पण विकारी नहीं होता है । मैं ज्ञाता दृष्टा हूं माननेवाला हूं ।

अहमेव चित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव ।
नान्यत्किमपि जडत्वात्, प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी ॥१७॥

भावार्थ-मैं ही चैतन्य स्वरूप हूं। चैतन्य स्वरूप जो मैं मुझे उसीका ही आश्रय है। और किसी पदार्थसे मेरा आश्रय नहीं है क्योंकि वे जड अचेतन हैं। प्रीति समान स्वभाववालोंमें ही कल्याणकारी होती है।

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत्।
सोहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्वं सदैतत्परम् ॥
यच्चान्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादि कार्यादि वा।
श्रुत्वा शास्त्रशतानि संप्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते ।१८।

भावार्थ-जो कोई जाननेवाला है वही देखनेवाला है वह सदा अपने चैतन्य स्वभावको नहीं छोड़ता है। सोई मैं हू और कोई मैं नहीं हू, यही मेरा उत्कृष्ट तत्त्व है। और जो मेरे स्वरूपसे अन्य क्रोध आदि कार्य हैं वे सब कर्म जो पुण्य पाप उससे उत्पन्न हैं। सैकड़ों शास्त्रोंको सुनकर अब उनका सारांश मेरे मनमें यही जम गया है।



श्री देवसेन आचार्य ।

दंसण णाण पहाणो असखदेसो हु मुत्ति परिहीणो।
सगहिय देह पमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥१॥

भावार्थ-जो दर्शन ज्ञानमई है, असंख्यात प्रदेशी है मूर्तिसे

रहित है तथा अपनी देहके प्रमाण आकार रखनेवाला है वह आत्मा जानना चाहिये ।

रायादिया विभावा बहिरंतर उहवियप्प मुत्तूणं ।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णियय अप्पाणं ॥३॥

भावार्थ-रागद्वेष आदि विभाग तथा बाहर भीतरके विकल्प छोड़कर एकाग्रह मन हो दोषरूपी अंजनसे रहित अपने आत्माका ध्यान कर ।

जस्सण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेसाओ।
जाइजरामरणं चिय णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥३॥

भावार्थ-जिसके न क्रोध है, न मान है, न लोभ है, न कोई शल्य है, न भावोंकी रंगत रूप लेश्याएं हैं, जो जन्म, जरा मरणसे रहित है सो ही मैं निरंजन हूँ ऐसा कहा गया है ।

फास रसरूप गंधा सद्दादीया जयस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥४॥

भावार्थ-जिसके न स्पर्श है, न रस है न रूप है न गंध है न शब्दादिक हैं, जो शुद्ध चैतन्य भाववाला है वही मैं निरंजन हूँ ऐसा कहा गया है ।

रूसइ तूसइ णिच्च इंदिय विसयेहिं संगओ मूढो ।
सकसाओ अण्णाणी, णाणी एदो दु विवरीदो ॥५॥

भावार्थ-जो मूढ है वह नित्य इन्द्रियोंके द्वारा कभी सुखी कभी दुःखी होता है, वही कषायमान और अज्ञानी है, ज्ञानी विपरीत वर्तन करता है ।

अप्प समाणा दिट्ठा जीवा सव्वेवि तिहु अणत्थावि ।
जो मज्झत्थो जोई णय तूसइ णेय रूसेइ ॥६॥

भावार्थ–जिसने अपने आत्माके समान सर्व ही तीन भुवनके आत्माओंको देखा है सो मध्यस्थ भावधारी योगी न प्रसन्न और न दुःखी होता है ।

रायदोसा दीहिय डहुलिज्जइ णेव जस्स मण सलिलं ।
सोणियतच पिच्छइ णहु पिच्छइ तस्स विवरीओ॥७॥

भावार्थ–जिसका मनरूपी जल रागद्वेषादि भावोंसे क्षोभित नहीं होता है वही अपने आत्म तत्त्वको देखता है । इससे जो उल्टा है वह उसे नहीं देखता ।

सर सलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं ।
मण सलिले थिर भूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥८॥

भावार्थ–जैसे तालाबके स्थिर जलमें डाला हुआ रत्न झलकता है वैसे मनरूपी जल थिर होनेपर वहां निर्मल आत्मा दीखता है ।

मण करहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहि णहु बद्धो ।
ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइ भुंजंता ॥ १ ॥

भावार्थ–जिसने मनरूपी दौड़ते हुए हाथीको ज्ञानरूपी रस्सीसे नहीं बांधा है वे पुरुष दुःख भोगते हुए संसारमें भ्रमण करते हैं ।

उवसमवंतो जीवो मणस्सस्सकेइ णिग्गहं काउं ।
णिग्गहिए मणपसरे [illegible] प्पओ हवई ॥ २ ॥

भावार्थ-शांत मनवाला जीव मनको रोक सकता है, मनके फैलावके रुक जानेसे आत्मा परमात्मा रूप हो जाता है।

उव्वासिए मण गेहे णट्ठे णीसेस करणवावारे।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवई ॥ ३ ॥

भावार्थ-मनरूपी घरके उजाड़ होनेपर, सर्व इन्द्रियोंके व्यापार नष्ट होनेपर तथा अपने आत्म स्वभावके स्फुरायमान होनेपर यह आत्मा परमात्मा रूप हो जाता है।

सुक्खमओ अहमेक्को सुद्धप्पा णाण दंसण समग्गो।
अण्णे जे परभावा ते सव्वे कम्मणा जणिया ॥ ४ ॥

भावार्थ-मैं आनन्दमई हूं, शुद्धात्मा हूं, ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूं। और जो परभाव हैं वे सब कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हुए हैं।

श्री अमृतचंद आचार्य।

आत्मस्वभाव परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त
विमुक्तमेकं।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्ध
नयोऽभ्युदेति ॥ १ ॥

भावार्थ-आत्माका स्वभाव परभावोंसे रहित, अपने गुणोंसे पूर्ण, आदि अंत रहित एक केवल, सर्व संकल्प विकल्प जालोंसे शून्य ऐसे शुद्ध तत्वको देखनेवाली दृष्टि प्रकाश करती हुई उदय होती है।

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घन-
महोनिधिरस्मि ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्व प्रकार अपने आत्मीक रससे भरा हुआ और एक रूप अपनेको मैं आप ही अनुभव करता हूं। यह मोह मेरा कोई रूप भी नहीं है। मैं शुद्ध चैतन्यका एक समुद्र हूं।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व
एवास्यपुंसः ।
ते नैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं
परं स्यात् ॥ ३ ॥

भावार्थ—ये वर्ण आदि व राग मोह आदि भाव हैं वे सब इस आत्मासे भिन्न हैं। इसी स्वरूपसे ही निश्चयसे जब भीतर देखा जाता है तो वहां ये कोई नहीं दीखते, वहां तो एक यह उत्कृष्ट आत्मा ही देख पड़ता है।

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः।
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥४॥

भावार्थ—अंतरंगमें भयानक ज्ञानकी चोटसे ज्ञानको चैतन्यरूप और रागको जड़रूप जानकर दोनोंको सब तरह भिन्न करके यह निर्मल भेदज्ञान व विवेक उदय होता है। हे सन्त पुरुषो! अब दूसरेसे हटकर इस एक शुद्ध ज्ञानके समूहरूप चैतन्यमई आत्माको अनुभव करते हुए आनंदित रहो।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥ ५ ॥

भावार्थ—एक उसी पदका ही स्वाद लेना चाहिये जो आपत्तियोंका स्थान नहीं है। जिसके सामने और सब पद अपदरूप ही मालूम होते हैं।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम् ॥
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥६॥

भावार्थ—चैतन्य आत्माका एक चेतनामई ही भाव है। इसके सिवाय जो रागादि भाव हैं वे सब परके हैं। इसलिये एक चेतनमई ही भावको ग्रहण करना चाहिये और दूसरे भावोंको सब तरहसे छोड़ना चाहिये।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहज स्फारप्रभाभासुरः ॥
शुद्धज्ञानघनोयथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥

भावार्थ—अन्य भावोंसे रहित आत्मामें निश्चल, भिन्न वस्तुपनेको धरता हुआ, ग्रहण त्यागसे शून्य यह निर्मल ज्ञान जैसा है वैसा स्थित है। आदि, मध्य, अंतके विभागसे रहित स्वाभाविक उदयरूप प्रभासे चमकता हुआ व शुद्ध ज्ञान समूह है महिमा जिसकी ऐसा यह आत्मतत्व नित्य उदयरूप होता हुआ

विराजमान है।

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सधारण-
मात्मनीह ॥८॥

भावार्थ—जब अपनी सर्व शक्तिको समेटे हुए पूर्ण आत्माका अनुभव अपने आत्मामें हुआ तब जो छोड़ने लायक था सो सब छोड़ दिया गया और जो गृहण करने लायक था सो सब गृहण कर लिया गया। -

जयति सहजतेजः पुंज मज्जत्त्रिलोकी,
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष ॥९॥

भावार्थ—यह चैतन्यका चमत्कार जयको प्राप्त हो जिसके स्वाभाविक ज्ञान तेजके समूहमें तीन लोक डूब रहे हैं, जो सर्व विकल्पोंसे रहित एक ही स्वरूपको रखता है, जो अपने रसके प्रवाहसे पूर्ण होकर अखंड तत्वका लाभ कर रहा है तथा जो अति तेज और निश्चल ज्योतिको रखनेवाला है।



श्री अमितिगति आचार्य ।

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताऽशेष ममत्वबुद्धेः, मम मनो मेऽस्तु
सदाऽपि नाथ

भावार्थ—हे नाथ (आत्मा) ! मैंने अपने सिवाय सर्वसे अपनी ममताकी बुद्धि हटा दी है इसलिये दुःख सुखमें, शत्रु व बंधुवर्गमें, संयोग व वियोगमें, घर व वनमें सर्व ही में मेरा मन सम अर्थात उदास, रागद्वेष रहित हो जावे।

यः स्मर्यते सर्व मुनीन्द्रवृन्दैः,
यः स्तूयते सर्वनराऽमरेन्द्रैः ।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः
स देव देवो हृदये मम आस्ता ॥२॥

भावार्थ—जिसको सर्व साधुओंकी समाज याद करती है, जिसकी सर्व राजा महाराजा व इन्द्रादि देव स्तुति करते हैं, जिसकी महिमा वेद, पुराण व शास्त्रोंमें गाई गई है वह देवोंका देव महादेव परमात्मा मेरे हृदयमें विराजे।

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभाव,
समस्तससारविकारबाह्य ।
समाधिगम्य. परमात्मसज्ञ,
स देव देवो हृदये मम आस्ता ॥३॥

भावार्थ—जिसका स्वभाव देखना, जानना और आनन्दमई है, जो सब संसारके विकारोंसे बाहर है, जो रागद्वेष रहित समता रूप आत्म समाधिसे जाना जाता है, ऐसा जो परमात्मा देवोंका देव है सो मेरे हृदयमें विराजमान हो।

न स्पृश्यते कर्मकलंकदोषै ,यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्म रश्मि ।
नित्यमनेकमेक, त देवमाप्त शरण प्रपद्ये॥४॥

भावार्थ—जिस तरह सूर्य अंधकारके समूहसे नहीं छुआ जाता इसी तरह जो कर्म कलंक आदि दोषोंसे नहीं छुआ जाता है, जो कर्मरूपी अमनसे रहित, अविनाशी, गुणोंके भेदसे अनेक तथा द्रव्यके अभेदसे एक है, उस परमात्म देवकी शरण मैं लेता हूं।

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तं ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनंतं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिसके देखनेसे यह जगत साफ साफ अलग २ दिखाई पड़ता है, जो शुद्ध सुखमय, शांत व आदि अंत रहित है उस परमात्म देवकी शरण मैं लेता हूं।

येन क्षता मन्मथमानमूर्छा
विषादनिद्राभयशोकचिन्ता ।
क्षयाऽनलेनैव तरुप्रपंचस्तं
देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि वृक्षसमूहको नष्ट कर डालती है उसी तरह जिसने कामदेव, घमंड, ममत्व, खेद, नींद, भय, शोक व चिंताको नष्ट कर दिया है अर्थात् ये दोष जिसमें नहीं हैं उस परमात्म देवकी शरण मैं लेता हूं।

एकः सदा शाश्वतिको मम आत्मा,

यद्दिभर्वा सत्यपरे समस्ता',
न शाश्वताः कर्मभवा स्वकीया। ॥७॥

भावार्थ—मेरा आत्मा एक अकेला है, सदा अविनाशी है, अत्यन्त निर्मल तथा ज्ञान स्वभाव है, मेरे आत्माके शुद्ध भावोंको छोड़कर दूसरे और जो भाव हैं वे सब मुझसे बाहर हैं, अनित्य हैं, अपने २ कर्मोंके उदयसे होनेवाले हैं।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्र कलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥८॥

भावार्थ-जिसकी एकता सूक्ष्म या स्थूल किसी भी शरीरके साथ नहीं है उसकी एकता अत्यन्त जुदे पुत्र, स्त्री व मित्रोंसे कैसे हो सकती है ? जब चमड़ेको अलग कर दिया जाय तो रोमछिद्र फिर शरीरमें कैसे ठहर सकते हैं ? क्योंकि ये चमड़ेके आश्रय हैं।

सर्वं निराकृत्यविकल्पजालं,
संसारकान्तार निपातहेतुं।
विविक्तमात्मा नमवेक्ष्यमाणः,
निलीयसे त्वं परमात्मतत्वे ॥९॥

भावार्थ-संसार वनमें भटकानेके कारण सब विकल्प जालोंको दूर कर सबसे अलग अपना आत्माको देखता हुआ तू परमात्म[illegible] लीन हो जा।

स्वसंविदितमत्यक्षमव्यभिचारि केवलं ।
नास्ति ज्ञानं परित्यज्य रूपं चेतयितुः परं ॥ १ ॥

भावार्थ—आत्मा जो चेतनेवाला है उसका स्वभाव स्वसंवेदन रूप, इन्द्रियोंसे अतीत, दोष रहित और केवल-असहाय ज्ञानको छोड़कर अन्य रागादिरूप नहीं है।

कर्मनोकर्मनिर्मुक्तममूर्त्तमजरामरं ।
निर्विशेषमसंबद्धमात्मानं योगिनो विदुः ॥ २ ॥

भावार्थ-योगी महात्मा आत्माको ऐसा अनुभव करते हैं कि यह सूक्ष्म शरीर जो कर्म और स्थूल शरीर जो नोकर्म उनसे भिन्न है, रूप रस गंध वर्णमई मूर्तिसे रहित है, अजर अमर है, अपने गुणोंसे अभेद रूप है और परद्रव्य परभावसे सम्बन्ध रहित है।

दृश्यते ज्ञायते किंचिद्यदक्षैरनुभूयते ।
तत्सर्वमात्मनो बाह्यं विनश्वरमचेतनं ॥३॥

भावार्थ-जो कुछ इन्द्रियोंसे देखने, जानने, तथा अनुभवमें आता है वह सब आत्मासे बाहर, विनाशीक और अचेतन है।

येनार्था ज्ञायते तेन, ज्ञानी न ज्ञायते कथं ।
उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किं ॥४॥

भावार्थ-जिस ज्ञानसे पदार्थका ज्ञान होता है उस ज्ञानसे ज्ञानी आत्मा कैसे नहीं जाना जायगा ? जैसे जिससे प्रकाश दीखता है उससे दीपक क्यों नहीं दीखेगा ?

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परं ब्रह्माऽभवः शिवः ।
अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि भेदस्तस्य न विद्यते ॥५॥

भावार्थ-विमुक्त है, सबसे छुटा निर्लेप है, सिद्ध है, ब्रह्म है, परमात्मा है, शिव है। यह सब शब्दोंका भेद होनेपर भी उस आत्माके शुद्ध स्वरूपमें कोई भेद नहीं है।

विविक्तमान्तरं ज्योतिर्निराबाधमनामयं।
यदेतत्तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः ॥ ६ ॥

भावार्थ-जो यह अंतरगमें ज्योति स्वरूप, सबसे अलग, बाधा रहित, तथा रोगादि रहित है वही उत्कृष्ट आत्मतत्त्व है। उसके सिवाय अन्य तत्त्व उपद्रव रूप आकुलतामय है।

यस्मिन्नविदिते ध्वान्तमुद्योतः सति चाखिलः।
अस्त्यपि ध्वान्तमुद्योतस्तज्ज्योतिः परमात्मनः ॥७॥

भावार्थ-जिसके अनुभव न होने पर सब अन्धकार है व जिसके अनुभव होनेसे सब प्रकाश है। और जो क्या जगतका अन्धकार होनेपर भी वहा प्रकाश रहता है वही परमात्म की ज्ञानज्योति है। ज्ञानज्योतिसे सदा ही सब वस्तुओंका स्वरूप यथार्थ झलकता है।

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः।
शक्यतेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन ॥ ८ ॥
नान्यथा शक्यते कर्तुं, मिलद्भिरपिनिर्मलः।
आत्माऽऽकाशमिवा मूर्त्तः परद्रव्यैरनश्वरः ॥९॥

भावार्थ-सब पदार्थ स्वभावसे अपने २ स्वभावमें रहते हैं। एक पदार्थ दूसरेको उसके स्वभावसे और रूप नहीं कर सक्ता। जड़मे चेतन नहीं हो सक्ता चेतनसे जड़ नहीं। इसी तरह आत्मा भी आकाशकी तरह और पदार्थोंसे मिलते हुए भी निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी रहता है।

श्री पद्मप्रभमलधारि देव ।

सहजज्ञानसाम्राज्य सर्वस्व शुद्धचिन्मयम् ।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥ १ ॥

भावार्थ-जो स्वाभाविक ज्ञानका साम्राज्य है, और सर्वांग शुद्ध चैतन्य ज्योतिस्वरूप है ऐसा मेरे आत्माको जानकर मैं विकल्प रहित होता हूं।

नित्यशुद्धचिदानंद संपदामाकरं परम् ।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ॥ २ ॥

भावार्थ-मैं ऐसे पदको अच्छी तरह अनुभव करता हूं, नित्य शुद्ध चिदानंदमई संपदाकी खान है और उत्कृष्ट है तथा जो विपत्तियोंका स्थान नहीं है।

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः,
परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः ।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः ॥३॥

भावार्थ-यह समयसार अर्थात् शुद्धात्मा शीघ्र हमारी रक्षा करो जो पापरूपी वनके काटनेको कुठार है, दुष्कर्मोंसे पार है, पररूप परणमन करनेसे दूर है, रागरूपी समुद्रको जो सोख चुका है, अर्थात् वीतराग है, नाना प्रकार विकारोंसे दूर है जो सत्य आनन्दका समुद्र है।

समरससरसंगः कुलमच्युतं,
जननदूर [illegible]कामादिविवर्जितम् ।

सहजनिर्मलशर्मसुधामयम्,
समरसेन सदा परिपूजये ॥४॥

भावार्थ-मैं उस समयसार अर्थात् शुद्धात्माको समता रससे सदा पूजता हू जो आकुलता रहित है, अपने गुणोंसे अच्युत अर्थात् दृढ है, जन्म मरण रोगादिसे रहित है, तथा स्वाभाविक निर्मल आनन्दरूपी अमृतका घर है।

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरससारमूलं,
ध्यानध्येयप्रमुखसुतप कल्पनामात्र रम्यम्।
बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे,
निर्मज्जन्त सहजपरमात्मानमेक प्रपेदे ॥५॥

भावार्थ-आत्मध्यानको छोड़कर और सब विचार भयानक ससारके मूल है, ध्यान ध्येयका विकल्प रूप जो तप है सो कहने मात्र ही सुन्दर है, ऐसा जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वाभाविक परमानन्दमई अमृतके समुद्रमे मग्न-सहज एक परमात्मा ही का अनुभव करते हैं।

निर्द्वद्व निरुपद्रव निरुपम नित्य निजात्मोद्भव,
नान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिद शर्मामृत निर्मल।
पीत्वा य सुकृतात्मक सुकृतमप्येतद्विहायाधुना,
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुल चिन्मात्र-
चिन्तामणिम् ॥ ६ ॥

भावार्थ-कोई पुण्यात्मा अब इस पुण्यके ममत्वको भी त्यागकर निर्द्वद्व, उपद्रवरहित, अनुपम, नित्य, अपने आत्मासे

ही उत्पन्न तथा अन्य द्रव्य व अन्यभावसे नहीं पैदा होनेवाले इस आनन्द अमृतमई निर्मल जलको पीकर प्रकट अद्वितीय, अतुल, चैतन्यमात्र चिन्तामणि रत्नको प्राप्त करता है।

अहमात्मा सुखाकाङ्क्षी स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

भावार्थ मैं आत्मा हूं, निज सुखका चाहनेवाला हूं इससे मैं अपने ही अजन्म और अमर आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्मामें ठहर कर बारबार भाता हूं।

रागद्वेषपरम्परापरिणतं चेतो विहायाधुना।
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानन्दात्मतत्त्वस्थितः।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ।
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥८॥

भावार्थ-रागद्वेषोंमें परपरासे परिणत होनेवाले चित्तको त्यागकर अब मैं शुद्ध ध्यानसे अपने मनको संयुक्त करके आनंदमई आत्मतत्वमें स्थित होता हुआ तथा श्रीगुरुके निकट पवित्र सुखकारी धर्मको प्राप्त करके अपने सम्यग्ज्ञानसे, समस्त मोहकी महिमाको हटाता हुआ परब्रह्म स्वरूप परमात्मामें लीन होता हूं।

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च।
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकं।
ज्ञानज्योतिः प्रकटितनिजाभ्यन्तरांगान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥ ९ ॥

भावार्थ-संसारके भयको पैदा करनेवाले सर्व बाहर और भीतरके विकल्पोंको त्यागकर तथा नित्य समतारसमई एक चैतन्यके चमत्कार मात्र स्वरूपको स्मरण करके ज्ञानज्योतिसे

जिसका आत्मा प्रकाशमान हो रहा है ऐसा महात्मा मोहके नष्ट होनेपर किसी परम तत्वको अतरगमें देखने लगा ।

श्री शुभचन्द आचार्य ।

तद्ध्यान तद्धि विज्ञान तद्ध्येय तत्वमेव वा ।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्वे स्थिरी भवेत् ॥ १ ॥

भावार्थ–वही ध्यान है, वही विज्ञान है, वही ध्येय तत्व है जिसके प्रभावसे मन अज्ञानको उल्लघकर आत्मतत्वमें स्थिर हो जावे ।

सकलज्ञानसाम्राज्य स्वीकर्त्तु यः समीप्सति ।
स धन्य. शमशस्त्रेण रागशत्रुं निकृन्तति ॥ २ ॥

भावार्थ–जो समस्त ज्ञान रूप साम्राज्य अगीकार करनेकी इच्छा रखता है वह धन्य पुरुष शान्त भाव रूपी शस्त्रसे राग रूपी शत्रुको काट देता है ।

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितै ।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥ ३ ॥

भावार्थ–जिसका मन चेतन अचेतन इष्ट अनिष्ट पदार्थोंके द्वारा मोहित नहीं होता है उसीकी स्थिति समताभावमें होती है ।

भास्वत्साम्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूप परमात्मन. ॥ ४ ॥

भावार्थ–जो समताभाव रूपी सूर्यकी किरणोंसे रागादि अधकारके समूहको नष्ट कर देता है वह जितेन्द्रिय अपनेमें ही परमात्माके स्वरूपको अनुभव करता है ।

साम्यभावितभावाना स्यात्सुख यन्मनीषिणाम् ।
ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते ॥ ५ ॥

भावार्थ-समताभावकी भावनासे पदार्थोंको विचार करनेवाले पुरुषोंको जो सुख होता है वह ज्ञान साम्राज्यकी प्राप्तिके समान है ऐसा मैं मानता हू।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम्।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥६॥

भावार्थ-जिस समय यह आत्मा अपनेको समस्त परद्रव्योंकी पर्यायोंसे तथा परद्रव्योंसे भिन्न निश्चय करता है उसी समय उसके समताभाव पैदा होता है।

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ॥७॥
अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम्।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥ ८ ॥
अद्यासाद्य स्वसामर्थ्यं प्रविश्यानन्दमन्दिरम्।
न स्वरूपाच्च्यविष्येऽहं बाह्यार्थेषु गतस्पृहः ॥ ९ ॥
मयाद्यैव विनिश्चेयं स्वस्वरूपं हि वस्तुतः।
छित्वाप्यनादिसंभूतामविद्यावैरिवागुराम् ॥ १० ॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञानीको ऐसा विचारना चाहिये कि मैं न नारकी हू, न पशु हू, न मनुष्य हू और न देव हू, किन्तु शुद्ध सिद्ध आत्मा हू। ये सर्व अवस्थाए कर्मोंके पराक्रमसे हुई हैं। मैं तो अनन्त शक्ति, ज्ञान, दर्शन तथा आनंद स्वरूप हू। मैं आज ही अपने शत्रु कर्मरूपी विष वृक्षको क्यों न उखाड डालूगा? आज मैं अपनी शक्तिको प्रगटकर तथा आनद मदिर जो अपनी आत्मा उसमें प्रवेशकर बाहरी पदार्थोंमें इच्छाको छोड़ता हुआ अपने स्वरूपसे नहीं हटूंगा। आज ही मुझे अनादिसे चली आई

अविद्या रूपी वैरीकी फांसीको छेदकर वास्तविक रूपसे अपने आत्मस्वरूपका निश्चय करना चाहिये।

साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम्।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ॥११॥
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम्।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करणच्युतम् ॥१२॥
निःशेषभवसम्भूतक्लेशद्रुमहुताशनम्।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितं ॥१३॥
विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम्।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ॥१४॥
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात्।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ॥१५॥

भावार्थ—परमात्माका स्वरूप साकार है अर्थात् वस्तु होनेसे आकाशके स्थानको घेरनेके कारण साकार है, मूर्तीक देह न होनेसे निराकार है, क्रिया रहित है, परम अविनाशी है, विकल्पोंसे शून्य है, निष्कम्प है, नित्य है सुखका घर है। सब जगतको जाननेसे विश्वरूप है, अज्ञानियों द्वारा जानने योग्य है, सदा प्रकाशरूप है, कृतार्थ है, कल्याणरूप है, शान्त है, शरीरोंसे रहित है, अतीन्द्रिय है, सब जन्मोंके होनेवाले दुःखरूपी वृक्षके दग्ध करनेको अग्नि है, शुद्ध है, अत्यन्त कर्मके लेपसे शून्य है, ज्ञान राज्यमें प्रतिष्ठित है, निर्मल दर्पणमें प्राप्त प्रतिबिम्बकी तरह प्रभाधारी है ज्ञानज्योति स्वरूप है, महाबली है, पूर्ण है, प्राचीन है, जो बाह्य भावोंसे योग्य नहीं है किंतु अंतरंग भावोंसे क्षण मात्रमें ग्रहण योग्य है। ऐसा ही स्वभावरूप साक्षात् परमात्माका स्वरूप है।

यत्स्वरूपापरिज्ञानान्नात्मतत्त्वस्थितिर्भवेत् ।
यज्ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात् प्राप्तं तस्यैव वैभवम् ॥१६॥

भावार्थ–जिसके स्वरूपको विना जाने अपने आत्माके तत्वमें स्थिति नहीं होती तथा जिसको जानकर मुनियोंने साक्षात् उसीकी ही महिमाको प्राप्त किया है वही परमात्मा या शुद्धात्मा है ।

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ॥१७॥

भावार्थ–जो वचनोंसे कहा नहीं जाता, जो इन्द्रियगोचर न होनेसे अव्यक्त है, अनन्त है, स्वयं शब्द रहित है, जन्मरहित है, संसार भ्रमणसे वर्जित है, विकल्प रहित है ऐसे परमात्माको चिन्तवन करे ।

इत्यजस्रं स्मरन्योगी तत्स्वरूपावलम्बितः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥१८॥

भावार्थ–इस तरह एक योगी निरंतर स्मरण करता हुआ परमात्माके स्वरूपके अवलम्बनसे युक्त होकर उसके साथ तन्मई पनेको प्राप्त हो जाता है फिर यह कल्पना नहीं रहती कि यह मुझसे ग्रहण करने योग्य है और मैं ग्रहण करनेवाला हूं ।

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः ।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ॥१९॥

भावार्थ—जो विशुद्ध, प्रसिद्ध, परमज्योति, सनातन कोई है सोई मैं हूं इससे मैं अपने आत्मामें ही उस अविनाशी आत्माको अनुभव करता हूं ।

आत्मन्येवात्मनात्माऽयं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥२०॥

भावार्थ—यह आत्मा आत्मामें ही आत्माके द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है इसके सिवाय आत्माको जाननेका जो खेद है सो निष्फल है।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम्।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥२१॥

भावार्थ—वही मैं हूं, वही मैं हूं इस तरह निरंतर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासनाको दृढ़ करता हुआ ही आत्मामें स्थितिको प्राप्त करता है।

रागादिमलविश्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्मलम्।
सम्यक् स्वं स हि जानाति नापरः केनापि हेतुना॥२२

भावार्थ—जिसका चित्त राग आदि मलके मेलसे छूटकर निर्मल हो गया है वह भले प्रकार अपने आपको जानता है। और कोई किसी अन्य हेतुसे नहीं जान सकता।

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम्।
आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ॥ २३ ॥

भावार्थ—ज्ञानी विचारता है कि जो इन्द्रियोंके ग्रहणमें आनेवाला रूप है सो मेरे स्वभावसे विलक्षण है, मेरा स्वरूप तो आनन्दसे भरा हुआ अतरंग ज्ञान ज्योतिमई है।

विविच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च।
अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥२४॥

भावार्थ—अपने शुद्धात्माके गुणोंके समूहको अलग २ विचारकर फिर उस शुद्धात्माको चितारकर अन्यकी शरणसे होता हुआ ज्ञानी उसी ही स्वरूपमें लय हो जाता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी ऐक्यता—



—आत्मस्वतन्त्रताका मार्ग है।

आत्मधर्म-सम्मेलन।

१. हरएक जीव सुख शांति चाहता है—यह सर्वथा सत्य है।

२ सुख व शांति अपने आत्मामें है।

३ आत्माके सत्स्वरूप पर विश्वास करने और उसका ध्यान करनेसे वे स्वयं प्राप्त होने लगती हैं।

४ आत्माका लक्षण चेतना (देखना, जानना) है। यह चेतना रहित अजीव पदार्थोंसे भिन्न है। इसका सत्स्वरूप असलमें शुद्ध, आनंदमई, अविनाशी, क्रोधादिक विकारोंसे रहित है, यह देह प्रमाण आकार रखता है। प्रत्येक आत्माकी सत्ता सदा भिन्न २ बनी रहती है, इससे यह नित्य है। आत्मामें परिणाम सदा नये २ हुआ करते हैं इससे यह परिणामी भी है।

५ यद्यपि हम वर्तमानमें अशुद्ध हैं, पर हमें आत्माका शुद्ध स्वरूप निश्चय करके एकांतमें बैठकर उसका मतन, मनन, पुनन, ध्यान सवेरे शाम कमसे कम १०—१५ मिनिट अवश्य करना चाहिये। अपनी ही देहमें देह प्रमाण स्फटिककी मूर्तिवत् उसे विचारना चाहिये।

६ हरएक प्राणीमें भिन्न आत्मा है। सब चाहते हैं कि हमें कोई भी अपने मन, वचन, कायसे किसी प्रकारका दुःख न दे।

७. इसीसे आपका धर्म है कि अन्य प्राणियोंका बुरा न

विचारें, उनके प्रति अहितकर वचन न कहें, उनकी बुराई न करें अर्थात् सबके साथ प्रेमभाव रखकर हित सोचें व करें।

८ इसीसे मनुष्योंकी रक्षा करो, उन्हें शिक्षित, स्वास्थ्य-युक्त, न्यायमार्गी और आत्मज्ञानी बनाओ। पशुओंकी हत्या भोजनपान, औषधि, पूजा, भक्ति और खेल तमाशे आदिके लिये न करो। गाय, भैंस, घोड़ा, बैल आदि पशुओंसे काम लो, पर कष्ट न दो। वृक्षोंपर भी दया पालो, उन्हें वृथा न सताओ।

९ भोजन ताजा, शुद्ध अन्न शाक, फल, दुग्ध घृतका करो व ताजा पानी छानकर पीओ। भूख लगनेपर भोजन करो। दिनमें एक दफे भी भोजन बस है।

१० गृहमें स्त्री पुत्रादिका हित करो। मोहमें अंध होकर धर्मको न त्यागो।

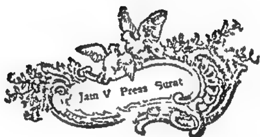
११ इंद्रिय विजयी होनेपर गृह त्याग आत्मध्यान करते हुए परोपकारमें जीवन बिताओ।

ऊपरकी बातें पसंद हों तो सभासद होनेका पत्र भेजो। फीस भेंट। पत्र व्यवहार व संयोगसे विशेष लाभ होगा।

पता—व्यवस्थापक,

तारीख १३-१२-१७ { आत्मधर्म सम्मेलन
चंदावाड़ी-सूरत।




Jain V Press Surat

सहजानन्द सोपान ।

१-भेदविज्ञान,

२-स्वानुभव,

३-सहजानन्द ।



—ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी ।





सहजानन्द सोपान।

[१–भेदविज्ञान, २–स्वानुभव, ३–सहजानद]



सम्पादक –

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी,

निश्चयधर्मका मनन, आध्यात्मिक सोपान, अनुभवानन्द, स्वसमरानन्द, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समाधिशतक आदि २ के सम्पादनकर्ता व टीकाकार।



प्रकाशक –

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दि० जैनपुस्तकालय, कापड़ियाभवन–सूरत।

"जैनमित्र" के ३० वे वर्षके ग्राहकोंको श्रीमती चन्दरबाईजी जैन–खण्डवाकी ओरसे भेट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४६३ [प्रति १२००+२००

मूल्य–एक रुपया।

विषयसूची ।

भेदविज्ञान ।

स्वानुभव ।

सहजानद ।



श्री० सेठ घासीरामजी आमगढ़ (जि० निमाड) वाले खंडवा।

जन्म-
चैत्र सुदी ९ सं. १९०

स्वर्गवास-
पौष वदी ३ सं. १९८४

प्रथ-सुगत।



माता चोदरबाईजी, धर्मपत्नी श्रीमान् सेठ घासीरामजी और
पुत्री चंदरबाईजी (धर्मपत्नी श्रीमान् सेठ भीखासाजी)
राण्डवा।

संक्षिप्त जीवनचरित्र-
श्री० सेठ घासीरामसाजी-भामगढवाले (खंडवा)

हमारे चरित्रनायक सेठ साहबके पूर्वजोंकी जन्मभूमि निमाड़ प्रांतके खंडवा जिलेका एक छोटासा भामगढ नामक ग्राम था। आपका जन्म भी इसी गाममें सेठ रायचंद साजीके यहा सं० १९२० में हुआ था। आपके पूर्वज इतने गरीब थे कि उनके नाम भी अप्राप्य हैं। इसलिये इनका परिचय इनके पितृकालसे करना पड़ता है। आपके पूर्वज और पिताजी भी भामगढ़ ग्रामके आसपासके छोटे२ देहातोंमें बैलकी पीठपर गुड़, नोन, तमाकू आदि बेचकर अपने कुटुम्बका निर्वाह करते थे। सुना जाता है कि सेठ साहबके कुल ७ भाई बहन थे। जिनमेंसे सिर्फ दो बहिनोंके ही नाम प्राप्त हैं— १ मीकीबाई और २ गजराबाई। दुर्भाग्यसे इन दोनों बहिनोंका भी स्वर्गवास होगया और आप अकेले रह गये।

एक और दुखदाई घटना यह हुई कि बाल्यावस्थामें ही सेठ साहबके माता पिता इस असार संसारसे चल बसे। वैसे तो बाल्यावस्थामें ही आपके लक्षण भाग्यवान पुरुषों कैसे दिखाई देरहे थे।

सेठ साहबका माता पिताका देहांत होजानेसे इन्हें इनके एक मामा अपने यहा लेगये। वहांपर आपका विद्याभ्यास शुरू हुआ। उस समय आजकलकी भांति विद्याका प्रचार नहीं था। अंग्रेजीकी तो बात दूर रही, परंतु हिन्दीकी पाठशालाओंकी संख्या

भी कम थी। उस समयके लोगोंमें शिक्षा पानेका और दिलाने उत्साह भी कम था। उस समयकी शिक्षाका उद्देश्य सिर्फ खात बहीका लिख देना और व्यावहारिक हिसाब सीख लेना ही था सेठ साहबने भी उतनी ही शिक्षा प्राप्त की थी। आपने १५ वर्ष उम्रमें अपने मामाके यहा उनकी दूकानका कामकाज अच्छी त सीख दिया था। पश्चात् आप अपने दूसरे मामाके यहा सना (हो० स्टे०) आये। यहापर आपने गल्लेका धधा सीखा और प वर्ष बाद अपनी जन्मभूमि मामगढ़को लौट आये।

सेठ साहबका विवाह भी एक गरीब कुटुम्बके भोगावा नाम देहातके निवासी सेठ साहब रामचन्द्र साजीकी सुपुत्री चौंदरबाई हुआ था जैसा कि ऊपर बताया जाचुका है। सेठ साहब गरी.. स्थितिके थे, आपका विवाह भी बिलकुल ही गरीबी हालतमें हुआ था। इस पत्नीसे एक कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम **चन्द्राबाई** रखा गया। यह इकलौती सन्तान होनेसे गरीबी हालतमें भी इनका लालन-पालन बड़े लाड़प्यारसे हुआ था।

चूंकि उस समय स्त्रीशिक्षाका इतना प्रचार न था, इसलिये सेठजीने इन्हें घरपर ही हिन्दीके अक्षर पहचानना बतला दिया था। चन्द्राबाईजीका विवाह भी सेठजीके समान परिस्थितिवाले खडवा निवासी सेठ तारासाजी हीरासाजीके सुपुत्र भीकासाजीसे हुआ। परन्तु बाईसाहबा दुर्भाग्यवश अपना दम्पति सुख न भोग पाई और १४ वर्षकी उम्रमें ही वैधव्यने अकस्मात् आ घेरा।

यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि संतान सुखकी प्राप्ति बड़े पुण्य योगसे होती है। खासकर तो श्रीमतोंके यहां पुत्र पौत्रका नाम विरले पुण्यवानोंके यहां ही देखा जाता है। परन्तु हमारे सेठ साहब संतान सम्पत्तिमें भी गरीब रहे। दामादकी असामयिक मृत्युसे सेठ साहब और सेठानीजी बहुत दुखी हुए।

व्यापारिक जीवनः—सेठसाहब जब मामाके यहांसे अपनी मातृभूमिको लौट आये थे उस समय आपके पास कोई छोटासा भी व्यापार करनेके लिये पूंजी न थी। इसलिये विवश होकर आपको नौकरी करनी पड़ी। ६ वर्ष नौकरी करनेके पश्चात् आपके पास कुछ थोड़ीसी पूंजी अँगुलियोंपर गिनी जाने योग्य होगई थी। तब आपने स्वतंत्र रहकर जीवननिर्वाह करनेका विचार किया, क्योंकि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।"

आपने अपनी पूंजीको जो अपने पूर्वजोंके व्यापारके ही योग्य थी, उस व्यापारमें (बैलपर लादकर नोन, गुड़, तम्बाकू बेचनेमें) लगाया। भाग्यने आपका साथ दिया, आपका यह छोटासा व्यवसाय ही ठीक रूपसे चलने लगा। आपका यह दृढ़ सिद्धांत था कि कभी किसीसे कर्ज नहीं लेना चाहिये। अगर मौका आवे तो भूखे रह लेना अच्छा परन्तु उधार लेकर कभी नहीं खाना। इसीलिये आपने अपना व्यवसाय उस छोटीसी पूंजीसे ही आरम्भ किया था। जब इस व्यवसायमें कुछ थोड़ी प्राप्ति हुई तो आपने घर ही बैठकर दूकान करनेका निश्चय किया और एक छोटीसी दूकान खोल ली।

जिसमें विक्रीकी चीजें पहले कुछ बढ़ा दी थी। जैसे गुड़, तेल, नोन, आटा, दाल, चावल वगैरह।

यह दुकान चलानेमें भी सेठजीका भाग्यने बहुत ही साथ दिया। आपकी विक्री अच्छी होने लगी। यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं कि सेठजीने ईमानदारीसे दुकानदारी की और ग्राहकोंसे लूटमार नहीं की। इसके पश्चात् आपने अपनी दुकानको और बड़ा रूप देनेका निश्चय किया। और कुछ बड़े प्रमाणमें गल्लेका धन्धा किया। चूंकि आप गल्लेका व्यापार करना अपने मामाके यहां सीख आये थे इसलिये आपको इस व्यापारमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई और बादमें आपने कपड़े (सरकी) का व्यापार किया। इसमें आपको भी भाग्यने पूरा साथ दिया और आपके पास धन भी काफी (हजारोंकी संख्यामें) होगया था। आपने फिर महाजनी व्यवसाय लेनदेन शुरू किया। इस व्यापारमें भी आपने कभी किसीसे कठोरता या निर्दयताका व्यवहार नहीं किया। वरन यदि किसी आसामीकी हालत खराब अर्थात् रुपया न देने योग्य देखते थे तो उसका कर्जा माफ [illegible] दिया करते थे। आपने कभी भी किसी किसानके या आसामीके मालको कुर्क नहीं किया। (माल असवाब नीलाम करवा कर रुपये वसूल न करना) इन्हीं कारणोंसे और सद्व्यवहारसे किसानोंको आपके प्रति प्रेम और श्रद्धा थी। आपको हमेशा ही किसान लोग अपने झगड़ोंका निर-टारा करने बुलाते थे और आप पक्षपात रहित निपटारा भी करते थे जो उन्हें मान्य रहता था।

आपने अन्यायसे और बेइमानीसे एक भी पैसा नहीं कमाया और आप सट्टे, लॉटरी आदिसे तो कोसों दूर रहा करते थे। इस समय सेठ साहबके मकान, खेत आदि जायदाद भी काफी हो गई थी और लगभग २५००) के सालाना आमदनी होती थी।

सेठ साहबकी लौकिक उदारता।

सेठ साहबकी अभिलाषा पुत्ररत्नका मुह देखनेकी बहुत ही तीव्र रही। परन्तु दुर्भाग्यवश आपकी अभिलाषा पूर्ण न हुई। पश्चात् आपने दत्तक पुत्र लेनेका विचार किया था। परन्तु बादमें वह विचार बदल दिया। आपने अपने कुटुम्बियोंके साथ भी अपना जो कर्तव्य था वह पूरा किया था। आपके जितने नाते रखनेवाले थे करीबर सब आपकी स्थितिसे गिरी हुई स्थितिके थे। आपने लगभग उन सबके विवाह शादी आदि कार्योंमें यथाशक्ति सहायता की। इसका कारण यह भी था कि आपके सिर्फ एक ही कन्या थी जो कि विवाहके पश्चात् ही विधवा होगई थी जैसा कि पहले बतलाया ही गया है। इसी कारण आपका प्रेम अपने कुटुम्बियोंकी ओर बढ़ गया था।

सेठ साहबका धार्मिक जीवन।

सेठ साहबको जीवनका एक मात्र उद्देश्य धनोपार्जन ही नहीं था, वरन् धार्मिक श्रद्धा भी बहुत थी। आपकी जन्मभूमिमें कोई जैनमंदिर नहीं था, इसलिये आप प्रतिदिन घरपर अलग एक कमरेमें शास्त्र स्वाध्याय करते थे।

आप विना शास्त्र स्वाध्यायके भोजन नहीं करते थे। प्रतिदिन नियमित रूपसे आदिनाथ स्तोत्र और मोक्षशास्त्रका पाठ करते थे। आपने जीवनकालमें सेठ साहबने लगभग सम्पूर्ण भारतवर्षके जैन तीर्थोंकी यात्रा सहकुटुम्ब की थी। किसीर तीर्थस्थानकी तो आपने दो दो और तीनर वार भी यात्रा की थी।

सेठ साहबका दान।

सेठ साहबका उद्देश्य धन सग्रह करना नहीं था। आप अपनी सामर्थ्यके अनुसार दान करनेमें भी बिलकुल सकोच नहीं करते थे। आपने अपनी जन्मभूमिमें एक धर्मशाला बनवानेका कहा था। जिसे बनवानेके लिये अब आपकी पत्नी बहुत ही चिंतित रहा करती हैं। और उसे जल्दी बनवानेकी आयोजना होरही है। आपने खडवासे भामगढ़ आनेवाले यात्रियोंकी पानी पीनेकी तकलीफ देखकर उस सड़कपर एक अच्छा कुआ बनवा दिया है। सेठजीके स्मरणार्थ लगभग सभी विभागोंमें दान दिया गया है। जैसे —

शिक्षा सम्बन्धीः—

दि० जैन कन्या पाठशाला खण्डवा	१२०००)
दि० जैन स्कूल खण्डवा	४००)
दि० जैन बोर्डिंगहाऊस अलाहाबाद	३००)
दि० जैन विद्यार्थी सहायक कोष इन्दौर	१०१)
अनाथालय बड़नगर	१०१)

तीर्थस्थानोंमें धर्मशाला सम्बन्धीः—

श्री सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र धर्मशाला	२५००)
उदयपुरमें शम्भुनाथ धर्मशालामें	१०००)
पावागिर	२५०)
पावागढ़	२५०)
जैन धर्मशाला खण्डवा	१४००)

चिकित्सा सम्बन्धीः—

जैन औषधालय खण्डवा	५०००)
महाराजा तुकोजीराव अस्पताल इंदौरमें एक वार्ड	२०००)

तीर्थस्थानोंमेंः—	थूबौनजी	१००)
	चन्देरी	५०)
	सोनागिर	२५)
	पावागिर (ऊन)	२५)
	अन्य तीर्थोंमें फुटकर	५००)
	कुल	२६००२)

इस प्रकार सेठ साहबकी खुदके हाथकी नेक कमाईका बहुत कुछ भाग परोपकार, दान धर्म आदिमें लगा है।

ऐसे हमारे चरित्रनायक सेठ साहब घासीरामसाजी स० १९८४ पोष वदी ३ को ६४ वर्षकी उम्रमें परलोक सिधारे।

उपसंहार—यह लिखनेकी तो कोई आवश्यक्ता [redacted] नहीं है कि हमारे स्वर्गीय सेठ साहबका जो भी उत्कर्ष हुआ वह धीरेर और क्रमानुसार हुआ। क्योंकि प्रिय पाठकोंको यह बात भलीभांति मालूम हो ही चुकी होगी। हमें सेठ साहबके जीवनकी घटनाओंको देखकर यही सीखना चाहिये कि "संतोषी नर सदा सुखी" और व्यर्थमें अन्याय और बेईमानीसे धन-समहकी इच्छा कभी भी नहीं करनी चाहिये।

पाठक लोग भली भांति जान हो गये होंगे कि नेक कमाईका पैसा नेक कामोंमें ही लगता है और उसका सदुपयोग ही होता है। और हमें भी जिनेन्द्र भगवानसे यही प्रार्थना करना चाहिये कि हमें भी सेठ साहबके समान सदबुद्धि प्राप्त हो और [redacted] भी अपनी परिस्थितिमें रहकर धैर्य पूर्वक कठिनाइयां झेलकर शांति पूर्वक जीवन यात्रा पूर्ण करें। तथा जिनेन्द्रदेवसे यह भी प्रार्थना है कि वैसी सदबुद्धि सेठ साहबकी धर्मपत्नी वयोवृद्ध श्रीमती माताजी **सोंदरबाईजी** और पुत्री **चन्द्राबाईजीको** प्रदान करके उनकी जीवन यात्रा भी शांतिपूर्वक सफल हो।

वीर सं० २४६२ ज्येष्ठ सुदी १५

प्रार्थी—**सरूपचन्द जैन।**

भूमिका।

इस जगतमें मानव सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। इसमें मनकी शक्ति बढ़िया होती है। विचार करनेकी, तर्क करनेकी अच्छी योग्यता होती है। इसलिये हरएक मानवको यह विचार करनेकी जरूरत है कि किस तरह वह अपने जीवनको, अपने जीवनके समयको उत्तम प्रकारसे व्यतीत करे। आकुलित, क्षोभित व चिंतातुर जीवन अशुभ है। निराकुल, शांत व चिंतारहित जीवन शुभ है, इसमें मतभेद नहीं है। जगतके प्राय सर्व ही प्राणी इन्द्रियोंके विषयभोगसे ही सुख मानते हैं और जन्मसे मरण पर्यंत इसी सुखके लिये अपनी शक्तिके अनुसार उद्यम किया करते हैं तथापि इस सुखसे निराकुल, शांत, चिंतारहित नहीं होपाते हैं। क्योंकि इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें इच्छा या तृष्णाकी दाह बढ़ानेका प्रसिद्ध दोष है। जितना जितना इन्द्रियोंका भोग किया जाता है उतनी उतनी विषयभोगकी तृष्णा बढ़ती जाती है। तृष्णासे नवीन नवीन विषयोंके पदार्थोंको चाहता है, उनके लिये उद्यम करता है। उद्यम करनेपर भी जब प्राप्त नहीं होते तब बहुत कष्ट पाता है। यदि कदाचित् प्राप्त किये हुए इच्छित विषय बिगड़ जाते हैं व उनका वियोग होजाता है तो उसे महान दुःख होता है। इस तरह इन्द्रियोंके द्वारा सुखकी मान्यता सत्य नहीं है।

सुख उसे ही कह सक्ते हैं जो निराकुलता देवे, शांति प्रदान करे व चिंताओंको मिटावे। वह सुख आत्मीक सहज सुख है

आत्माका स्वभाव सुख है। उस सुखके कामसे बड़ी शांति मिलती है। यह सुख ऐसा बढ़िया है कि चक्रवर्ती व इन्द्रका सुख भी इसके सामने कुछ नहीं है। यह सुख स्वाधीन है, अपने ही आत्माके पास है, जब चाहे तब भोगा जासक्ता है। इसके लिये परपदार्थकी आवश्यक्ता नहीं है। इस सुखमें कोई बाधा या विघ्न नहीं आते हैं। यह सुख अविनाशी है। यह सुख समताभावसे पूर्ण है। यह सुख भोग आत्माकी निर्वेलताका कारण है। जबकि इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला सुख पराधीन है, अपना शरीर ठीक रहनेपर व इच्छित पदार्थोंके मिलने पर ही भोगा जासक्ता है। इन्द्रिय सुखके भोगमें बाधा व विघ्न आजाते हैं। अपना शरीर अस्वस्थ होनेपर व प्राप्त चेतन व अचेतन वस्तुके भीतर बिगाड़ आनेपर या न मिलनेपर भोगनेमें नहीं आता है।

इन्द्रियसुख एक दिन नाश होनेवाला है, अपना शरीर छूटनेपर व जिस पदार्थके आश्रय इन्द्रिय सुख था उसके सर्वथा वियोग होनेपर छूट जाता है। इन्द्रिय सुख विना तीव्र रागभावके भोगा नहीं जाता है। अतएव इस भोगमें आत्माके कर्मोंका बंध होता है, जिससे आत्मा मलीन होजाता है। इन्द्रियोंके सुखभोगमें समताभाव नहीं रहता है, किन्तु आकुलता व क्षोभ व विकार चित्तमें सदा बना रहता है।

यदि कोई मानव इन्द्रियोंके सुखोंको ही सुख मानके इस ही सुखसे जीवनयात्रा पूर्ण करना चाहे तो वह मरणके समय निराश, तृषातुर व आकुलित होकर ही मरेगा, क्योंकि वह चाहकी दाहको शमन नहीं कर सकेगा तथा इष्टवियोगके दु:खसे अतिशय पीड़ित होगा। इसलिये हरएक बुद्धिमान् मानवका कर्तव्य है कि वह सच्चे

सुखको पहचानकर उसपर श्रद्धा लावे व सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपायको जान लेवे।

सच्चे सुखका लाभ होजाने पर मानवके भीतरसे यह श्रद्धा बदल जायगी कि इन्द्रिय सुख सच्चा सुख है। इसको यह श्रद्धा होजायगी कि सच्चा सुख आत्माका सहज स्वभावमई सहजसुख है। इन्द्रियसुख सुखाभास है, वास्तवमें दु:खरूप है। इस श्रद्धाके होनेका फल यह होगा कि वह इन्द्रिय सुखोंके पीछे अन्धा न होगा। तथा जबतक पूर्व बाधे हुए मोहनीय कर्मके उदयसे विषयोंकी वाञ्छा नहीं मिटेगी तबतक इन्द्रियोंके भोग भोगेगा। परन्तु सन्तोषपूर्वक भोगेगा, हेयबुद्धिसे भोगेगा, कडवी औषधि पीनेके समान भोगेगा, लाचारीसे भोगेगा, भावना यह रक्खेगा कि कब वह दिन आजावे जब विषय वाञ्छाका रोग न पैदा हो व उसके लिये विषयभोगका इलाज न करना पड़े। यद्यपि यह उपाय विषय वाञ्छाके रोगके शमनका सच्चा उपाय नहीं है तथापि चिरकालकी वासना व आदतसे लाचार होकर इस मोह ग्रसित मानवको इन्द्रियभोगका उपाय करना पड़ता है। उदासीन भावसे अश्रद्धापूर्वक भोगा हुआ इन्द्रिय भोगका सुख तृष्णाकी ज्वालाको नहीं बढ़ावेगा। तथा जितना २ अधिक आत्मीक सहज सुखका लाभ होता जायगा उतना २ यह इन्द्रियभोगमे विरक्त होता जायगा। आत्मीक सहज सुखके भोगके प्रतापसे वह चारित्र मोहनीय कर्म निर्बल पड़ेगा, जो विषयभोगकी इच्छाको उत्पन्न करता है। जब दीर्घकालके अभ्याससे चारित्र मोहनीय कर्म बहुत ही निर्बल होजायगा तब यह बिलकुल इन्द्रिय

सुखसे विरक्त होकर इन्द्रियसुखका भोग नहीं करेगा। और एक साधुपुरुषका बड़ा पवित्र जीवन व्यतीत करेगा।

जबतक चारित्र मोहका ऐसा उपशम न हो कि विषयभोगकी इच्छा बिल्कुल न पैदा हो तबतक गृहस्थ जीवन बिताना ही उत्तम है। जिस जीवनमें रहते हुए बुद्धिमान मानव आत्मीक सुखका लाभ भी करता रहे और इन्द्रिय भोगकी चाहको शमन करनेके लिये पूर्ववासित वासनासे न्यायपूर्वक उचित इन्द्रिय भोग भी करता रहे ऐसा गृहस्थ जीवन बहुत अंशोंमें निराकुल जीवन हो सकेगा, क्योंकि यह सच्ची श्रद्धाको रखनेवाला है। इसका गाढ प्रेम, इसका दृढ विश्वास आत्मीक सहज सुख पर है। यह इन्द्रिय सुखको सुखाभास, आकुलता रूप, पराधीन, तृष्णावर्द्धक व त्यागनेयोग्य समझ चुका है। केवल पूर्व बांधे हुए मोहकर्मके उदयके बलको अपने आत्म वीर्यकी कमीसे न रोक सकनेके कारण यह विषयभोगोंमें प्रवर्तन करता है।

इसका वर्तन न्याययुक्त उचित होगा, यह गृहस्थ अन्यायसे बचेगा, अन्यायसे धनादि सामग्रीको एकत्रित नहीं करेगा, किसीको सताकर, असत्य भाषण कर, चोरी करके व अन्य किसी भी प्रकार दूसरेको कष्ट देकर अपना स्वार्थ सिद्ध न करेगा, यह गृहस्थ विचारवान होगा, जीवनके समयको सफल करेगा। हरएक मानवमें विश्वप्रेम व करुणाभाव होना ही चाहिये। मानव सबसे बड़ा प्राणी है। बड़ा वही होसक्ता है जो सर्वसे प्रेम करे व सर्वकी मदद करे। जो दुःखित हो उनपर दयाभाव करके उनके कष्टको अवश्य निवारण करे। जो यह समझे कि जैसे मैं भूख प्यास मेटना चाहता हूं, निरोगी

रहना चाहता हू, विद्वान व जानकार होना चाहता हू, निर्भय व शरणभूत रहना चाहता हू, वैसे सर्व ही प्राणी भूख प्यास मिटाना चाहते हैं, निरोगी रहना चाहते हैं, ज्ञानी होना उनके जीवनको सफल करनेवाला है ऐसा जानते हैं, सब ही प्राणोंकी रक्षा व निर्भय भाव चाहते हैं, ऐसा समझकर हरएक मानवका कर्तव्य है कि अपनी शक्तियोंका उपयोग आहार, औषधि, विद्या तथा अभय दान देकर विश्वकी सेवामें करें।

जो मानव सहज आत्मीक सुखकी श्रद्धा रखता हुआ उसका स्वाद लेता हुआ, विश्वप्रेमी होता हुआ, करुणाके जलको अपने भीतर बहाता हुआ, शक्तिके अनुसार विश्वकी सेवामें अपनी सर्व शक्तियोंका उपयोग करता हुआ, गृहस्थमें रहकर न्याय व संतोषपूर्वक इन्द्रियोंको तृप्त करता हुआ रहेगा वही मानव आदर्श प्रवृत्तिमार्गका जीवन बितायगा।

अतएव इस बातकी आवश्यक्ता हरएक मानवको है कि वह सच्चे सहज सुखका उपाय समझ जावे।

सच्चा सुख हरएक आत्माका निजस्वरूप है, स्वभाव है। इस लिये आत्माके सच्चे स्वभावको जाननेकी आवश्यक्ता है।

यदि बुद्धिबलसे विचार किया जावे तो यह आत्मा हरएकको प्रत्यक्ष प्रतीतिमें आसक्ता है। जाननेका काम जो करता है वही आत्मा है। जो जाननेकी क्रिया नहीं कर सक्ता है वही अनात्मा है। एक जीवित मानवमें और मृतक मानवमें यही अंतर है। जीवित मानव स्पर्शद्वारा छूकर, रसनासे चाखकर, नाकसे सूंघकर, आंखसे

ज्ञानवान समझाते हैं, शास्त्र पढ़े जाते हैं, इनके द्वारा अपना ही ज्ञान बढ़ता है। उनका ज्ञान अपनेमें आवे तो उनका ज्ञान घट जावे सो ऐसा कभी नहीं होता। हजारों शिष्योंको पढ़ानेपर भी अध्यापकका ज्ञान कभी कम नहीं होता है, किंतु अधिक स्पष्ट व उन्नतिरूप होता है। ज्ञान कितना विकास करेगा इसकी कोई सीमा नहीं है। जितना२ अधिक भीतर प्रवेश किया जायगा उतना२ ज्ञान झलकता जायगा। जब सर्व ज्ञानका आवरण हट जायगा तब पूर्ण ज्ञानका प्रकाश चमक जायगा। इससे आत्माको स्वभावसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी मानना ही चाहिये। फिर यह आत्मा स्वभावसे परम शांत व वीतराग है। क्रोध, मान, माया, लोभादि औपाधिक भाव इस आत्माका स्वभाव नहीं है। क्योंकि ये सर्व मलीन भाव हैं और ज्ञानको मन्द करनेवाले हैं। क्रोधादिकी तीव्रतामें ज्ञान भलेप्रकार वस्तुओंका स्वरूप जान नहीं सक्ता। एक छात्र क्रोधाविष्ट हो, मानी हो, मायाचारके भावसे गृसित हो, लोभाक्रांत हो, वह अध्यापकके समझाए हुए पाठको नहीं समझ सकेगा। जो छात्र शांत, विनयवान, सरल व संतोषी होगा वह बहुत शीघ्र पाठको समझ जायगा। यह बात बिलकुल प्रगट है। इससे सिद्ध है कि शांत भाव ही आत्माका स्वभाव है। फिर यह क्रोधादिक भाव क्यों होते हैं? इसका कारण आत्माके साथ मिला हुआ एक प्रकारका मोहनीय कर्म है जो मदिराके समान मादक शक्ति रखता है, उसके विपाकमें यह शांत भावके स्थानमें क्षोभित अज्ञान होजाता है। जैसे पानी स्वभावसे शांत है, परन्तु अग्निके द्वारा सम्मिलित

होनेपर औंटने लगता है, खौलने लगता है, अति गर्म पानी हाथ पैरोंको जला देता है। विचार कर देखा जावे तो पानीका स्वभाव जलानेका नहीं है। पानीके साथ अग्निका संयोग हुआ है, इससे वह अग्निका ही काम है। इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभकी कलुषता आत्मामें मोहनीय कर्मके सपर्कसे झलकती है, परन्तु यह आत्माकी नहीं है, मोहनीयकर्मकी ही है। आत्मा स्वभावसे पानीके समान परमशांत व वीतराग है।

इसी तरह यह आत्मा परमानन्द स्वरूप है, सहजानन्द स्वरूप है। जब कोई आत्मा निर्विकारी हो, क्रोधादिसे तमतमाया हुआ न हो, शांत हो तब वह भीतर सुख मालूम करता है। इसका कारण यही है कि जहां निर्मलज्ञान है वहीं शांति है, वहीं सुख है। ये तीनों ही आत्माके गुण हैं, इनको ज्ञान, चारित्र व सुखगुण कहते हैं। इस सुखको मलीन करनेवाला भी अज्ञान व मोह है। अज्ञान व मोहका जब बिलकुल परदा हट जाता है तब यह आत्मा जैसे सर्वज्ञ होता है वैसे अनंतसुखी होजाता है। यदि आत्मामें ज्ञानगुण न होता तो अज्ञान नहीं झलकता। शांत गुण न होता तो अशांत भाव नहीं झलकता। इसीतरह यदि सुख गुण नहीं होता तो सांसारिक सुख व दुःखोंका प्रकाश नहीं होता। कुछ प्रसन्न भाव होनेपर सुख कुछ संक्लेशभाव होनेपर दुःख प्रगट होता है। यह मोहकर्मकी विचित्रता है।

यदि कोई मानव बिलकुल मोह छोड़दे तो वह अपनेको सहजानन्दी अनुभव करेगा। यह भी प्रगट है कि परोपकार करते हुए, दान करते हुए, जितना जितना स्वार्थका त्याग किया जाता है उतना उतना

भीनरसे सुख झलकता है। दानी व परोपकारीको सुखकी कामना न होते हुए भी सुख अनुभवमें आता है। यह सुख मोहकी कमीका प्रभाव है। यह आत्मा स्वभावसे पूर्ण सुखी है। इसमें बल भी अनंत है। आत्माके भीतर वीर्य न होता तो शरीर, वचन व मन व इन्द्रियोंके द्वारा कुछ भी काम नहीं होता। जब आत्मा शरीरसे निकल जाता है तब शरीर गिर जाता है, नेकाम होजाता है। आत्मबलके रहते हुए ही शरीरबल काम देसक्ता है। जितनी भी मन, वचन, कायकी क्रियाएं हैं ये केवल आत्माकी प्रेरणासे होती हैं। जिसका आत्मबल विशेष होता है, जो अधिक सहनशील होता है, उत्साही होता है, वह शरीरबलमें कम होनेपर भी, आत्मबलमें तुच्छ किन्तु अधिक शरीर बलधारीको कुश्तीमें—दौड़में जीत लेता है। आत्मबलधारी ही विशेष साहसी होता है, पुरुषार्थी होता है। इसको रोकनेवाला अतराय कर्म है। मोहके साथमें यह कर्म आत्मवीर्यको ढक हुए है। जितना जितना मोह हटता है, अतराय कर्म हटता है आत्मवीर्य प्रगट होता है, योगाभ्यासी निर्मोहीका अद्भुत आत्मवीर्य प्रगट होजाता है जिससे अनेक चमत्कारिक बातें की जासक्ती हैं। ऋद्धियें व सिद्धियें सब आत्मवीर्यके प्रकाशसे प्रगट होजाती हैं। आत्मबली किसी भी कामको लगातार बिना खाए पीए करता चला जायगा, एक, दो, चार, पाच, छ, दश, बीस उपवास कर लेगा, कष्टोंके पड़नेपर घबड़ाएगा नहीं। ये सब बातें प्रत्यक्ष प्रगट हैं। यह आत्मा स्वभावसे जैसे सर्वज्ञ है, परम शात है, परम सुखी है वैसे यह अनतवीर्य धारी है। फिर यह आत्मा अमूर्तीक है, किसी

प्रकारका वर्ण, गध, रस, स्पर्श इसमें नहीं है। इसीसे यह इद्रियोंके द्वारा नहीं जाना जासक्ता है।

यह एक स्वतत्र स्वय सिद्ध पदार्थ है। जड़ मूर्तीकसे इसकी उत्पत्ति नहीं होसक्ती है। जैसा मूल कारण होता है वैसा कार्य होता है। मिट्टीसे मिट्टीके, सुवर्णसे सोनेके, चादीसे चादीके बर्तन बन सक्ते है गेहूसे गेहूकी चनेसे चनेकी, जौसे जौकी रोटी तैयार होती है, इसीतरह जड-मूर्तीकसे जड़ मूर्तीक ही तैयार होगा, जड़से कभी चेतन नहीं बन सक्ता है। दोनों ही मूर्तीक और अमूर्तीक पदार्थ हैं। जड़ और चेतन या पुद्गल और आत्मा अनादि अनत अविनाशी है। हरएक कार्य कारणके विना नहीं होता है। मूल कारण ही कार्यरूप होजाता है। पहली अवस्था कारण है तब आगेकी अवस्था कार्य है। गेहू कारण है आटा कार्य है। आटा कारण है रोटी कार्य ह। रोटी कारण है रुधिर व मलादि बनना कार्य है। रुधिर कारण है वीर्य कार्य है। वीर्य कारणहै, गर्भस्थिति कार्य है। जड परमाणुओंके मिलनेसे नानाप्रकार स्कध बनते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुरूपी सूक्ष्म व स्थूल स्कधोंके मूल कारण परमाणु है। कार्माण शरीर जिसके द्वारा अज्ञान मोह, सासारिक सुख दुख व निर्मलता होती है वह भी एक जातिका सूक्ष्म स्कध है जो परमाणुओंसे बना है।

जड परमाणु व स्कधोंमें परिणमन करनेकी, बदलनेकी, एक अवस्थासे अन्य अवस्थारूप होनेकी शक्ति है तब ही जगतमें नाना प्रकारके फूल, फल, पत्ते, ककड़, पत्थर, रत्नादि है। मेघ, जलवृष्टि,

आग, दीपक पवन, तूफान, रज आदि दिखलाई पड़ने है। एक आमका बीज पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके सम्बन्धसे फलकर एक महान आमका वृक्ष होजाता है जिसमें अनेक आमरूप फल पक जाते हैं। यह सब परिवर्तन व परिणमन जड परमाणुओंकी ही शक्तिका है। जैसे जड परमाणुओंमें परिणमन शक्ति है वैसे ही इस आत्मामें परिणमन शक्ति है। ज्ञानमई क्रियाका कर्ता आत्मा है। ज्ञानका बढ़ना, शांतिका व सुखका बढ़ना, वीर्यका प्रगट होना या ज्ञानका घटना, शांति सुखका घटना व वीर्यका कम होना यह सब तब ही संभव है जब आत्मामें परिणमन शक्ति हो। उन्नति व अवनति तब ही संभव है जब परिणमन शक्ति हो। साधनमें आत्माका विकाश होना व आत्माकी ज्ञानान द शक्तिका प्रकाश होना तब ही संभव है जब परिणमन शक्ति हो। कूटस्थ नित्य जड़से व कूटस्थ नित्य चेतनात्मासे कोई भी कार्य नहीं होसकता है। कार्य करनेवाले तो दोनों ही दिखलाई पड़ने है। इसलिये यह आत्मा भी परिणमनशील है तौभी मूल वस्तुरूपसे नित्य है।

जैसे जड परमाणु नाना स्कंधरूप कार्योंमें परिणमन करते हुए भी कभी नाश नहीं होने है वैसे आत्मा भी संसारमें नाना प्रकारकी ज्ञानादिकी क्रियाको करता हुआ व एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जाता हुआ कभी नाश नहीं होता है। किसीमें यह शक्ति नहीं है जो किसी भी जगतकी, किसी भी वस्तुका अभाव या सर्वथा लोप कर सके। कोई भी काम किसीके द्वारा ही होता है। हरएक काम करते हुए पिछली अवस्था बिगड़ती है नई अवस्था पैदा

होती है तथापि मूल द्रव्य बना रहता है। गोरससे मलाई बनी, पहली अवस्था बिगड़ी मलाई बनी, गोरसका नाश नहीं हुआ। सुवर्णसे कुण्डल, कुण्डल तोड़के कङ्कण, कङ्कण तोड़के कंठी, कंठी तोड़के भुजदण्ड, भुजदण्ड तोड़के हार बनाया। सर्व ही अवस्थामें सुवर्ण बना हुआ है। मकान बन जाता है क्योंकि ईंट, चूना, पत्थर, लकड़ी सब मिल जाते हैं। मकान गिर पड़ता है। ईंट, चूना, पत्थर, लकड़ी अलगर होजाते हैं। यह जगत परिवर्तनशील होनेकी अपेक्षा अनित्य है, क्षणिक है, परन्तु मूल पदार्थोंकी अपेक्षा जिनमें परिवर्तन होता है उनकी अपेक्षा यह जगत नित्य है। यह जगत नित्य अनित्य स्वरूप है, क्योंकि जगतका हरएक पदार्थ नित्य अनित्य स्वरूप है। आत्मा भी मूल स्वभावसे नित्य है, परिणमन शक्ति रखनेकी अपेक्षा अनित्य है। यदि यह कूटस्थ नित्य हो तो इसमें उन्नति व अवनति न हो, एकसा ही बना रहे। यदि यह अनित्य व क्षणिक हो तो दूसरे ही क्षणमें नाश होजावे।

देखा जाता है कि एक बालक विद्या पढ़के युवान होता है। उसके ज्ञानमें बहुत उन्नति हुई है तथापि ज्ञानका धारी आत्मा वही है जो बालक था। संसार व मोक्षकी अवस्था तब ही बन सक्ती है जब आत्मा नित्य बना रहे तथापि परिणमन करनेवाला हो। यह प्रत्यक्ष प्रगट वस्तुका स्वभाव जैसे अमूर्तीक जड़में झलकता है वैसे ही मूर्तीक आत्मामें झलकता है। द्रव्यका स्वभाव ही सत् है अर्थात् जो सर्वदा बना रहे। सत्का स्वभाव है कि वह उत्पाद व्यय ध्रुव रूप हो। अर्थात मूल स्वभावकी अपेक्षा ध्रुव हो, नित्य हो, तथापि

पहली अवस्थाका नाश होते हुए नई अवस्थाका जन्म हो। अर्थात् वस्तु नित्य होते हुए भी परिणमनशील है वा अनित्य है। जिन अशुद्ध द्रव्य जगतमें हैं जैसे अशुद्ध आत्माएं या पुद्गल स्कंध इनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। शुद्ध आत्माओंमें। सूक्ष्म स्कंधोंमें भी इसी तरह अनुमान कर लेना चाहिये। नित्य पदार्थ बिलकुल बेकार व अनुपयोगी होगा। शुद्ध आत्मामें पर पदार्थका सम्बन्ध न होनेसे कोई अशुद्ध परिणमन नहीं होता। किंतु जैसे शुद्ध निर्मल जलमें कल्लोलें उठती हैं वे सब निर्मल होती हैं वैसे शुद्धात्माओंमें जो कुछ परिणमन होता है वह शुद्ध रूप ही होता है। वस्तुका स्वभाव यही है।

आत्माकी सत्ता भिन्न २ है या एक ही सर्व आत्माएँ हैं, इस बातको विचारते हुए बुद्धि कहती है कि हरएक आत्माकी सत्ता अलग २ है। एक ही कालमें कोई अज्ञानी कोई ज्ञानी, कोई जीवित कोई मृत कोई क्रोधी कोई शांत, कोई दुःखी कोई सुखी, कोई रोगी, कोई निरोगी, कोई निद्रित कोई जागृत, कोई मूर्ख कोई विद्वान कोई दाता कोई कृपण, कोई पूज्य कोई पूजक, कोई माता कोई [illegible] शत्रु, कोई पापी कोई पुण्यात्मा, कोई अधर्मी कोई धर्मात्मा, कोई बोलनेवाला कोई मौन, कोई ध्यानी कोई भोगी दिखलाई पड़ते हैं। सर्वका ज्ञान, सर्वका अनुभव, सर्वका सुख, सर्वदा दुःख भिन्न २ है। एक समान क्रिया करते हुए भी अनेकोंके अनेकरूप भाव होते हैं। सब अपने भावोंके आप ही स्वामी हैं। एक आत्माके शुद्ध होते हुए दूसरा शुद्ध नहीं होता है।

इसलिये अनुभव यही बताता है कि हरएक आत्माकी सत्ता भिन्न२ है। जैसे एक स्थानमें एक लाख गेहूके दाने रक्खे हों, वे गेहूकी जातिकी अपेक्षा समान होनेपर भी हरएक गेहूका दाना दूसरेसे अलग है, इसी तरह आत्माएं स्वभावसे परस्पर एक जातिके व समान होनेपर भी हरएककी सत्ता निराली है। एक अमूर्तीक शुद्ध ब्रह्मके न तो अंश होसकते हैं न वह अशुद्ध होसक्ता है।

आत्मा अनेक गुणोंका समुदाय होकर भी एक अखण्ड व अभिन्न पदार्थ है। अर्थात् यह अमिट व अखण्ड समुदायकी अपेक्षा एक है, अनेक गुणोंकी अपेक्षा अनेक है। हरएक गुण आत्मामें सर्वांग व्यापक है इसलिये ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञान स्वरूप है, शांतिकी अपेक्षा शांति स्वरूप है, आनन्दकी अपेक्षा आनन्द स्वरूप है, तथापि इनका पिंड है इससे एक स्वरूप है। जैसे एक आमका फल एक है तौभी वर्ण गुणकी अपेक्षा हरा है, गंधकी अपेक्षा सुगंधित है, रसकी अपेक्षा मीठा है, स्पर्शकी अपेक्षा चिक्कना है। वस्तुमें एक साथ अनेक गुण होते हुए भी व उनका काम या परिणमन एक साथ होते हुए भी हम अपने मुखसे एक साथ वर्णन नहीं कर सक्ते। हमको एकके पीछे दूसरा कहना पड़ेगा। शब्दोंमें शक्ति नहीं है कि अनेक गुणोंको या अवस्थाओंको जो एक साथ होरही हैं कह सकें। यद्यपि ज्ञानमें यह शक्ति है कि वह इन सर्वको एक साथ जान सक्ता है इसलिये वस्तु किसी अपेक्षा अवक्तव्य है, किसी अपेक्षा वक्तव्य है। क्रमसे कहे जानेकी अपेक्षा वक्तव्य है। इस तरह वस्तुके स्वभावको दूसरोंको समझानेके लिये अपेक्षावादका शरण

ग्रहण करना पड़ना है। इसीको स्याद्वाद कहते है। स्यात्के अर्थ है किसी अपेक्षासे, वादके अर्थ हैं कहना। आत्मा स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है, स्यात् भावरूप है, स्यात् अभावरूप है, स्यात् एक है, स्यात् अनेक है, स्यात् वक्तव्य है स्यात् अवक्तव्य है। यह ज्ञान हमको होना चाहिये। स्वभावकी अपेक्षा नित्य है, परिणमनकी अपेक्षा अनित्य है।

अपनी सत्ताकी अपेक्षा भावरूप है। परकी सत्ता आत्मामें नहीं है इससे आत्मा अभाव स्वरूप है। आत्मा एक अखड अमिट द्रव्य है इससे एक है अनेक गुणोंका समुदाय है इससे अनेक है। आत्मा ज्ञानद्वारा अनुभवगोचर है इससे अवक्तव्य है। क्रम क्रमसे समझाया जा सक्ता है इससे वक्तव्य है। यह ससारी आत्मा एक ही कालमें शुद्ध भी है अशुद्ध भी है। जैसे गदला पानी एक ही कालमें निर्मल भी है, मलीन भी है। जब पानीको मिट्टीके सयोगकी दृष्टिसे देखा जाता है तब यह मलीन दिखता है। जब उसीको उसके मूल स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाता है तब यह निर्मल दीखता है। इसीतरह आत्माको जब कर्मोंके मैलसे मिश्रित देखा जाता है तब यह अशुद्ध दीखता है। जब इसे मूल स्वभावकी अपेक्षा देखा जाता है तब यह शुद्ध दिखलाई पड़ता है। यदि एक ही बातको मानें तो हमारा पुरुषार्थ निष्फल होजायगा। यदि अशुद्धको सर्वथा अशुद्ध ही रहनेवाला मान लें तो वह कभी शुद्ध नहीं होसक्ता तब प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। और जो उसे सर्वथा शुद्ध ही मान लें तो भी उपाय बेकार होगा। इस प्रकार अपने

आत्माको जानना चाहिये कि यह कर्म पुद्गल जड़ स्कन्धोंके संयोगसे मलीन है, अशुद्ध है, संसारी है, रागीद्वेषी मोही है, अज्ञानी है, नानाप्रकारकी उपाधियोंसे गृसित है, परन्तु मूल स्वभावमें यह शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है, शांति स्वरूप है, आनन्द स्वरूप है, अमूर्तीक है, नित्य अविनाशी है, तथापि परिणमनशील है।

मेरा आत्मा अन्य आत्माओंसे भिन्न है। तथा मेरा आत्मा इस समय मेरे ही शरीरभरमें व्यापक है। आत्मामें यद्यपि लोक-व्यापी होनेकी शक्ति है तथापि जैसे दीपकका प्रकाश छोटे स्थानमें उतना फैलता है बड़े स्थानमें अधिक फैलता है वैसे आत्मा मक्खीके शरीरमें मक्खीके आकार व्याप्त है, हाथीके शरीरमें हाथीमें आकार व्याप्त है। बालक मानवके शरीरमें बालक समान व्याप्त है, युवानमें युवानके शरीर प्रमाण व्याप्त है, यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है। दुःख सुखका अनुभव सर्वांग शरीरमें होता है। यदि एक साथ हाथ पैर मस्तक भुजा आदिमें शस्त्रोंका प्रहार किया जाये तो सर्वांग उनका वेदन होगा और शरीरसे दूर प्रहार करनेपर नहीं होगा। इसलिये आत्मा न तो एक बिंदु प्रमाण है और न सर्वव्यापी है किंतु शरीर प्रमाण आकार धारी है।

सहजानंद व सच्चे सुखके लाभके लिये उचित है कि हम वहीं इसको खोजें जहां यह है। सहज सुख अपने आत्माका स्वभाव है। इसलिये पहले यह उचित है कि **भेदविज्ञानके** द्वारा हम पर पुद्गलसे मिले हुए होनेपर भी अपने आत्माको सर्व प्रकारके पुद्गलोंसे, आठ ज्ञानावरणादि कर्मोंसे, शरीरादिसे, रागादि भावोंसे, आकाश,

काल, धर्म, अधर्म द्रव्योंसे, अन्य सर्व आत्माओंसे भिन्न जानें। इसके एकाकी स्वभावका, इसके द्रव्य स्वभावका, शुद्ध स्वभावका चिंतवन करें। जैसे जोहरीका शिष्य अमत्य रत्नको सत्य रत्नसे भिन्न२ बार बार विचारता है, रत्नका स्वभाव काच खडसे अलग है ऐसा मनन करता है। एक किसानका पुत्र धा यके भीतर चावलको भूसीमे अलग विचारता है। तेलीका पुत्र तिलोंमें तेलसे अलग भूसीको जान कर विचार करता है। सुनार सुवर्ण चादीके मिले हुए आभूषणमें सुवर्णको चादीसे जुदा जानता है, प्रवीण वैद्य एक गुटिकामें पड़ी हुई अनेक दवाइयोंको अलगर पहचानता है, उसी तरह तत्वज्ञानीको अपने आत्माका भिन्न स्वभाव एकातमें बैठकर नित्य मनन करना चाहिये। भेदविज्ञानके लिये सवेरे, दोपहर व साझको एकान्तमें बैठ सामायिकमें हरसमय ४८ मिनट लगाना चाहिये। यदि थिरता न हो तो कम भी समय अभ्यास करे परन्तु एक, दो या तीन समय जैसा सभव हो आत्माका स्वरूप ध्यानमें लेकर परसे भिन्न मनन करना चाहिये। भेद विज्ञानकी दृढ़ताके लिये नित्य पाच काम और करना चाहिये —

१—शुद्धात्मा या परमात्मा देवकी भक्ति तथा पूजा। उनके शात स्वरूपको उनको ध्यानाकार मूर्तियोंके द्वारा देखकर उनका स्तवन गुणगान स्वरूप विचार करना चाहिये। जल चदनादि आठ द्रव्योंके द्वारा आठ प्रकारकी भावना भानी चाहिये। (१) जन्म जरा मरण दूर हो। (२) भवाताप शात हो। (३) अक्षय गुण हो, (४) काम भाव विनाश हो, (५) क्षुधारोग दूर हो, (६)

मोह अंधकार टल जावे, (७) आठों कर्म जल जावें, (८) मोक्षफल प्राप्त हो। यह पूजन भावोंमें अपने शुद्ध स्वरूपके मननके लिये बहुत उपकारी है, शुद्ध पद ग्रहण करने योग्य है, संसार दशा त्यागने योग्य है। यह भाव प्रतिदिन दर्शन पूजन करनेसे दृढ़ होता जायगा।

२–ऊपर जो कुछ कथन किया गया है उसका विवेचन जैन शास्त्रोंमें भलेप्रकार है इसलिये जैन शास्त्रोंका **स्वाध्याय** या पठन पाठन करते रहना चाहिये। व्यवहार नयसे आत्माकी अशुद्ध पर्यायोंके जाननेके लिये श्री उमास्वामी कृत श्री तत्वार्थसूत्र श्री नेमीचंद्र कृत द्रव्यसंग्रह, पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार जीवकांड व कर्मकांड, मूलाचार, भगवती आराधना रत्नकरंड श्रावकाचार, अमितिगति श्रावकाचार, तत्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, त्रिलोकसार, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, पद्मपुराण आदिका तथा निश्चयनयसे आत्माका द्रव्यस्वरूप जाननेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसारका, पूज्यपाद कृत समाधिशतक व इष्टोपदेशका, योगेन्द्र कृत परमात्मप्रकाशका, शुभचंद्र कृत ज्ञानार्णवका अमितिगति कृत तत्वभावनाका, इत्यादि अध्यात्मीक ग्रंथोंको पढ़ना चाहिये। घंटा आधघंटा थिरतासे बैठकर दोनों प्रकारके ग्रंथोंको पढ़ना चाहिये। आगमसेवा मनसे विकारोंको हटाती है–ज्ञानकी निर्मलता कराती है।

३–श्री निर्ग्रंथ गुरु महाराजसे या अन्य विद्वान विरक्त त्यागीसे या विशेष ज्ञानी श्रद्धावान धर्मात्मासे **तत्वोपदेश श्रवण** करना चाहिये। सुननेसे बुद्धिका दोष मिटता है, पदार्थ निर्मलरूपसे भासता

ई। शास्त्रमनाका अवसर मिलना बहुत आवश्यक है। गुरुसे, अनु भवीसे प्रश्न करके वस्तुस्वरूप सुनना भेदविज्ञानका प्रबल उपाय है।

४–संयम सहित दिनरातमें वर्तना चाहिये। समयपर हरएक काम करना चाहिये। समयपर शयन, समयपर जागृत होना, समयपर मल मोचन समयपर भोजन समयपर धर्मसेवन, समयपर व्यवहार-कार्य, सर्व काम समयके अनुसार उसी तरह करना चाहिये जैसे सूर्यका उदय अस्त नियमित होता है। खानपान शुद्ध जीवजन्तुकी हिंसारहित करना चाहिये। सादा शरीर पौष्टिक आहार करना चाहिये। कोई मादक पदार्थ व गरिष्ट, अनिष्ट, रोगकारक पदार्थ नहीं खाना चाहिये। व्यायाम करके उत्साही रहना चाहिये, वीर्यरक्षाका या ब्रह्म चर्यका विशेष यत्न रखना चाहिये। अनर्थके कामोंसे बचना चाहिये। इसलिये जुआ मदिरा, मांस चोरी, शिकार, वेश्या व परस्त्री इन सात व्यसनोंसे बचना चाहिये। अपने भावोंके अनुसार इन्द्रियसंयम व प्राणसंयमकी वृद्धिके लिये मुनिका, ऐलक क्षुल्लकका, ब्रह्मचारीका या श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे किसीका चारित्र पालना चाहिये। संयमी स्त्री पुरुष ही सहजानंदको सुगमतासे पासकता।

५–नित्य प्रति दान देकर आहार करना चाहिये। धर्मात्मा पात्रोंको भक्तिपूर्वक व दु खितोंको दयापूर्वक दान देना चाहिये। परोपकार वृत्ति रखकर आहार, औषधि, अभय, ज्ञानदान करना चाहिये। गृहस्थीको अपना धन चारों दानोंके प्रचारमें लगाना चाहिये। त्यागीको ज्ञानदानका प्रचार करना चाहिये। सर्व प्राणीमात्रका हित हो ऐसा विचार रखकर परोपकार भावका आचरण करना चाहिये।

परहितके लिये कष्ट भी सहन करना चाहिये, आत्महितकी रक्षा करते हुए परहितमें प्रवर्तना योग्य है।

सर्व जीवोंपर मैत्रीभाव, गुणवानोंपर प्रमोदभाव, दु खितोंपर करुणाभाव, विरोधियोंपर माध्यस्थभाव रखना चाहिये। इसतरह भेदविज्ञानका अभ्यास करते रहनेसे जब दृढ़ अभ्यास होजायगा तब स्वानुभव होनेका अवसर होजायगा। स्वानुभव होनेसे ही सहजानन्दका लाभ होता है। इसीलिये इस पुस्तकमें पहले भेदविज्ञानके करानेके लिये भिन्न २ पाठ हैं, फिर स्वानुभवके प्रेरक पाठ हैं, फिर सहजानन्दकी रमणता करानेके पाठ हैं, इसतरह तीन भाग हैं। ये सर्व उन ही लेखोंका समह है जो जैनमित्रमें वीर स० २४६०, २४६१ व २४६२ में प्रगट होचुके हैं। ये सब अमृतके भरे हुए प्याले हैं। शब्दोंकी स्थापना दीर्घकाल तक रह सक्ती है। इन प्यालोंमेंसे चाहे जिस प्यालेको पिया जायगा आनन्दका स्वाद आयगा, तौभी इन शब्दोंके सगठनरूप प्यालोंका ममाला कभी कम नहीं होगा।

सहजानन्दके लिये श्री जैन तीर्थंकरोंका व उनके अनुयायी जैनाचार्योंका बहुत बड़ा उपकार है। उन्होंने वस्तुका यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा प्रतिपादन किया है। जिनवाणीके साहित्यके पढ़नेमें सन्तोष होता है। तथा प्रत्येक तत्वज्ञोजीको बहुत सन्तोषपूर्वक आत्मीक तत्वका ज्ञान होजाता है। जगतके हरएक प्राणीको आत्मीक ज्ञानके हेतु जिनवाणीका सूक्ष्मदृष्टिसे अध्ययन करना उचित है। इसमें वस्तुका स्वभाव अनेक अपेक्षाओंसे बताया है स्याद्वादनयसे समझाया है। आत्मा अशुद्ध क्यों है व कैसे होता है इसका विवेचन

बहुत सुंदर कर्मोंके बंधका वर्णन करके उन कर्मोंके बंधक भावोंको, कर्मोंके फल देनेको, उनको रोकनेके भावोंको व उनके क्षय होनेके मर्मोंको—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वोंमें बहुत ही उपयोगी बताया है ।

जैनसिद्धांतमें अहिंसा व परोपकारका सर्व प्राणी मात्रके हित रूप विश्वप्रेमका कथन किया है । गृहस्थ व साधुके लिये भिन्न २ प्रकारका आचरण बताया है जिससे एक गृहस्थ सर्व ही लौकिक काम करता हुआ, देश प्रबन्ध करता हुआ, देशकी रक्षा दुष्टोंसे करता हुआ, दुष्टोंको शस्त्रसे भी लाचार हो निवारण करता हुआ, येनकेन प्रकारसे धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थको भलेप्रकार सिद्ध कर सक्ता है । भोजनपानकी शुद्धि रखनेका ऐसा बढ़िया विवेचन है जिससे कोई प्राणी रोगोंमें नहीं फसकर स्वास्थ्यलाभ करता हुआ उन्नति कर सक्ता है । यदि निष्पक्षभावसे देखा जावे तो यह कहना असंगत न होगा कि जैन तत्वज्ञान आत्मज्ञानकी कुंजी है । अन्य दर्शनोंके शब्द व वाक्योंको ठीक २ वैज्ञानिक ढंगसे समझनेके लिये भी यह कुंजी है ।

हरएक तत्वप्रेमीको जैन सिद्धांत पढ़ना ही चाहिये । अन्य दर्शनोंके ज्ञानके साथ जैन सिद्धांतका ज्ञान होना अपूर्व तत्वकी ज्योतिका प्रकाश कर देगा ।

सहजानंदके लिये आत्माके स्वरूपमें प्रवेश करनेकी जरूरत है। सर्व अन्य भावोंसे मनको रोकनेकी जरूरत है । अन्य दर्शनोंका भी अभिप्राय यही है कि राग द्वेष मोह छोड़कर आत्मध्यान किया

जावे। उनके मार्ग प्रकाशमें और जैन मार्ग प्रकाशमें जो अंतर है उसको देखते हुए जैन तत्वज्ञानका विवेचन चित्तको अधिक संतोष दायक प्रगट होगा इसलिये हरएक दर्शनके जाननेवालेको जैन सिद्धांतका पठन पाठन जरूरी है।

बौद्ध पाली साहित्य–में लिखा है (संयुक्तनिकाय खुद्दो १२)

तस्मादिह आनन्द अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा।
अनण्णसरणा धम्मदीपा धम्मसरणा अनण्णसरणा॥

भावार्थ–इसलिये हे आनन्द! आत्मारूपी दीपमें विहार कर। आत्मा ही शरण है दूसरा कोई शरण नहीं है। धर्म ही द्वीप है वा धर्म ही शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है।

निर्वाणको अजात, अमृत, शाश्वत, आनन्दमई, परमशांत माननेसे शुद्धात्माका स्वरूप निकल आता है। क्षणिकवाद नहीं रहता है। निर्वाणका स्वरूप है–**मज्झिमनिकाय** अरियपरियेसन सूत्र (२६)

निब्बान परियेसमान अजात अनुत्तर योगखेम निब्बानं
अज्झगमं अजर अव्याधि अमत असोक असंकिलिट्ठं॥
अधिगमो मे अय धम्मो गम्भीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो।
पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पंडित वेदनीयो॥

भावार्थ–जो निर्वाण खोजने योग्य है वह अजन्मा है अनुपम है, योग द्वारा प्राप्य है, अजर है, अरोग है, मरण रहित है, अशोक है, क्लेश रहित है। मैंने वास्तवमें इस धर्मको जान लिया। यह धर्म गंभीर है, दुर्गम है, शांत है, उत्तम है, तर्कके अगोचर है, पंडितोंसे अनुभवने योग्य है।

बौद्ध साहित्यमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको लेकर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञानको ही संसार कहा है। इसके त्यागका नाम ही निर्वाण है या निर्वाणका अनुभव है, आत्मध्यानकी महिमा है परन्तु आत्माका भिन्न स्पष्ट स्वरूप प्रतिपादित नहीं है, इससे बौद्ध लोग आत्माके अस्तित्वका अभाव मान लेते हैं तथा किसतरह संसारी आत्मा अशुद्ध है व कैसे परसे छूटेगा इसका वैज्ञानिक ढंगसे निरूपण जैसा स्पष्ट जैन सिद्धांतमें है वैसा नहीं है। इसलिये बौद्ध शास्त्रज्ञाताओंको अपने ही पाली ग्रन्थोंके विवेचनको स्पष्ट व साफ समझनेके लिये जैन तत्वज्ञानका अध्ययन जरूरी है।

ब्राह्मण धर्मका मुख्य ग्रंथ भगवद्गीता है। इसमें भी सहजानंदका उपाय आत्मध्यान व योगाभ्यास ही मिलेगा। गीतामें कहा है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियं।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१।६॥

भा०—जहां यह योगी इन्द्रियोंसे परे ज्ञानमय परम सुखको अनुभव करता है फिर वह निज तत्वमें स्थिर होता हुआ उससे चलायमान नहीं होता है।

अपनेसे ही अपना उद्धार होगा यह भी कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥५–६॥

भावार्थ—अपने आत्माका उद्धार अपनेसे करे, अपने आत्माको दुःखित न रक्खे। आत्मा ही आत्माका मित्र है। तथा आत्मा ही अपना शत्रु है।

योगी सुजीत सततमात्मान रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १०-६ ॥

भावार्थ–मनको जिन्हें योगी वासना रहित व परिग्रह रहित होकर एकांतमें अकेला बैठा हुआ निरंतर आत्माका ध्यान करे।

गीताके जाननेवालेको जैन तत्त्वज्ञान बहुत सहाई होगा। गीतामें सांख्य और वेदांत दर्शनके अनुकूल विशेष कथन है। दोनोंके दर्शनकी प्रक्रिया परस्पर मिलती नहीं है व चित्तको सन्तोषित नहीं करती है। सांख्य आत्माको अपरिणामी कूटस्थ नित्य अकर्ता मानते है–"पुरुषस्य अपरिणामित्वात् तथा अकर्तुरपि फलोपभोगो अन्नाद्यवत।" (योगदर्शन पातञ्जलि १८–४ व सांख्यदर्शन १०५ अ० १) भाव यह है कि आत्मा परिणमनशील नहीं है, न वह कर्ता है किंतु फलका भोक्ता है। यही बात समझमें नहीं आती है। सर्वथा कूटस्थ नित्य होनेमें संसार व मोक्ष नहीं बन सकते। जो करेगा वही भोगेगा। करे नहीं व फल भोगे यह बात भी समझमें नहीं आती। जैन सिद्धान्त कहता है कि यह आत्मा निश्चयसे व द्रव्यस्वभावसे नित्य है। न परका कर्ता है, न भोक्ता है, परंतु व्यवहारनयसे यह परिणमनशील है, रागादिका कर्ता है व सुख दुःखका फल भोक्ता है।

अद्वैत सिद्धान्त वेदांतमें एक ब्रह्मके सिवाय भिन्न २ जीव व जड पदार्थ नहीं माने है तब शुद्ध ब्रह्मका संसारी होना व चेतनका जडरूप होना समझमें नहीं आता। कहा है—

" जीवो ब्रह्मैव नापरः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्य स्वभावं प्रत्येक् चैतन्यमेव आत्मतत्व।" (वेदांतना?)

भावार्थ—जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्त सत्यस्वभावी, वीतराग चैतन्यरूप ही आत्मतत्व है। यदि निश्चयनयसे ऐसा कहा जाता कि यह जीव ब्रह्मके समान शुद्ध है तब जैन सिद्धांतसे बात मिल जाती। ब्रह्मके सदृश है परन्तु भिन्न२ है। जिस मायासे वेदांत संसार अवस्था मानता है वह माया भी ब्रह्मकी ही शक्ति है। कहा है—(शक्ति शक्तिमतोरभेदात् शक्ति और शक्तिमानमें भेद नहीं है। ऐसा माननेसे सर्व दोष सांसारीक दु खोंका ब्रह्मकी मायावी शक्तिपर होजाता है। शुद्ध ब्रह्ममें माया कैसे, यह शंका नहीं मिटती है। भगवद्गीतामें भी ब्रह्मको सबका उपादान कारण कहा है—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥१९-२०।

भावार्थ—हे अर्जुन! जो सर्व भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूं। क्योंकि ऐसा चर अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित होवे इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।

शुद्ध ब्रह्म चेतन स्वरूपसे जड़ चेतनकी उत्पत्ति हो यह बात समझमें नहीं आती। अमूर्तीक सदा ही होवके ब्रह्ममें राग द्वेष नहीं होसक्ते, न चेतनसे जड़ पैदा होसक्ता है। सर्व पदार्थ जड़ व चेतन भिन्न हैं तोभी सत्रूप है, ऐसा यदि माना जावे

व ब्रह्मको एक सत् मादस्य माना जावे तो बात जैन सिद्धांतसे मिल सक्ती है ।

न्यायदर्शन यद्यपि यह कहता है कि संसार दुःखमय है व इससे छूटनेका उपाय तत्वज्ञान है यह बात तो जैन सिद्धांतसे मिल जाती है परन्तु न्यायदर्शन ईश्वरकी प्रेरणासे सर्व कार्मोका होना मानता है, यह बात समझमें नहीं आती । जैसा कहा है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।

(न्यायसूत्र ४–१–१९)

भावार्थ—ईश्वर कारण है नहीं तो पुरुषोंको कर्मका फल न हो।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह जंतु अज्ञानी है । इसका सुख दुःख स्वाधीनता रहित है । ईश्वरकी प्रेरणासे स्वर्ग या नर्कमें जाता है । **वैशेषिक** दर्शन भी मोक्षको प्राप्ति तत्वज्ञानसे बताता है, परन्तु ईश्वरको कर्ता व फलदाता वह भी मानता है । जैन सिद्धांत कहता है कि शुद्ध निर्विकार परमात्मामें कोई संकल्प विकल्प नहीं होसक्ता । वह इच्छा नहीं कर सक्ता । तब वह जगतकी रचना व फलदान कैसे कर सक्ता है ? यह जीव ही स्वयं कर्ता है व भोक्ता है ।

पूर्व मीमांसा दर्शन क्रियाकांडकी मुख्यता बताता है, यज्ञ करना सिखाता है । तत्वज्ञानकी ओर लक्ष्य नहीं है, न मोक्षका ध्येय है । ध्येय स्वर्गका है । यद्यपि वह जगतको बनानेवाले व

रक्षा करनेवाले किसी ईश्वरको नहीं मानता है, वेदको नित्य मान
है। हिंसा रहित क्रियाकाड व्यवहार मात्र साधक है यह जैन
कहता है किंतु जबतक स्वात्मानुभवका अभ्यास न होगा तब
सच्चा मोक्षमार्ग नहीं मिलता है।

थियासोफी—यद्यपि आत्मज्ञान व ध्यानकी तरफ प्रे
करता है परन्तु यह आत्माको स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर एक
पदार्थका विकाश मानता है, इसीसे सब कुछ होता है, यह
जैन सिद्धांतसे नहीं मिलती है। इसमें चेतन व चेतनसे जड़
होसक्ता है।

आर्यसमाजमें जीवको सदा अल्पज्ञ माना है, यह
बिलकुल शुद्ध व सर्वज्ञ नहीं होसक्ता। व, परमात्माके समान
होता है। यद्यपि ध्यानका साधन यहां भी है परन्तु आत्मा
स्वरूप जैन सिद्धांतसे नहीं मिलता है।

ईसाइयोंकी बाइबिलमें आत्माको शुद्ध व पूर्ण बनाने
अपना ही ध्यान करनेका उपदेश है।

Saint John says God is a spirit and th
that worship him must worship him in spi
and in truth Labour not for the meat whi
perisheth, but for that meat which endure
unto a everlasting life Ye shall know t
truth, and the truth shall make you free

भावार्थ–परमात्मा एक आत्मा है। जो उसकी भक्ति करें उसको आत्मा व सत्य जानकर करें। नाशवंत भोगके लिये तप न करो किंतु अनंत अविनाशी जीवनके लिये चेष्टा करो। तुम सत्यको जानोगे तब सत्य तुम्हें स्वतन्त्र कर देगा। इन वाक्योंसे आत्माकी शुद्धि व पूर्ण करनेका मार्ग जैन सिद्धांतसे मिलता है। परन्तु क्यों अशुद्ध है व कैसे शुद्ध होगा इसका विस्तार जैन सिद्धांतसे संतोषपूर्वक जाननेमें आयगा। ईसाई मतका ईश्वरकर्तावाद तो जैन दर्शनसे मिलता नहीं है।

मुसलिम धर्मके कुरानमें भी आत्माको शुद्ध करनेकी बातें आती है। इंग्रेजी उल्थाके वाक्य हैं–(86) 5-35 And who ever shall keep himself pure, he purifieth himself to his own behalf

जो कोई अपनेको पवित्र रक्खेगा वह स्वयं आप ही पवित्र होजायगा, यह बात जैन सिद्धांतसे मिलती है। विस्तारपूर्वक पवित्रताका पाठ जैन सिद्धांतमें संतोषकारक मिलता है। ईश्वरका कर्तावाद जो इस धर्ममें है वह जैन दर्शनसे नहीं मिलता है।

पारसी धर्ममें भी आत्माके अनुभव पानेकी व शांति पानेकी बात है।

Gathe of Atharve Zaturashtra-Ch 34 G ▪ O mazda, teach me the mark of the perfect ideal of life, so that with prayers and hymns for you I can preseed on the way to self realization

भावार्थ—ऐ परमात्मा ! पूर्ण आदर्श जीवनका स्वरूप मुझे सिखा, जिससे मैं भजन व स्तुति करता हुआ स्वानुभवके मार्गपर चल सकूं ।

ईश्वरकर्तावाद जैनदर्शनसे नहीं मिलता है ।

ऊपर जितने दर्शनोंका कथन किया है वे सब सुख शांति पानेका ध्येय रखते हुए भी उस ध्येयका प्राप्तिका उपाय जैसा जैन सिद्धांतमें संतोषकारक है वैसा उनमें देखनेमें नहीं आता। अनेक अपेक्षाओंसे वस्तुको नहीं विचारा है। जो कोई मुकाबला करते हुए जैन दर्शनके साथ अन्य दर्शनोंके मूल ग्रंथोंको पढ़ेगा उसे यह हमारी सम्मति मान्य होजायगी। अतएव जगतके प्राणियोंको हमारा निमंत्रण है कि वे एक दफे जैन सिद्धांतका अध्ययन करें। उनको अपने अपने मान्य दर्शनके वाक्योंका विशेष खुलासा होगा व स्वानुभव द्वारा सहजानंद प्राप्तिका सुगम व सरल मार्ग हाथ लग जायगा। इस पुस्तकका पाठ हरएक जैन व अजैन तत्व ज्ञानीको करना उचित है, यही ही सुख शांति प्राप्त होगी।

उस्मानाबाद (सोलापुर)
२६–१–१९३७

ब्र० सीतलप्रसाद जैन।



निवेदन।

अध्यात्मरसिक श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी वर्षोंसे 'जैन मित्र' के हरएक अंकमें आध्यात्मिक विषयपर लिखते रहते हैं तथा सब लेखोंको पुस्तकाकार प्रगट करानेका प्रयास भी करते रहते हैं, यह जानकर किस अध्यात्म प्रेमीको परम आनंद नहीं होगा?

आपके इन आध्यात्मिक लेखोंका समूह १–अनुभवानन्द, २–स्वसमरानन्द, ३–निश्चयधर्मका मनन और ४–अध्यात्मिक सोपान ग्रन्थोंद्वारा प्रगट होचुका है और यह पांचवां ग्रन्थ–"सहजानन्द सोपान" प्रगट होरहा है। विशेष आनन्दकी बात तो यह है कि यह ग्रन्थ "जैनमित्र" के ३८ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंटमें देसकें ऐसा भी प्रबंध श्रीमान् ब्रह्मचारीजीने करा दिया है।

अर्थात् आपकी प्रेरणासे ही यह ग्रन्थ श्रीमती चंदरबाईजी जैन खण्डवा जो कि अध्यात्मज्ञान रसिक हैं उनकी तरफसे 'मित्र' के ग्राहकोंको भेंटमें दिया जा रहा है, जिसके लिये 'मित्र' के पाठक, श्री० ब्रह्मचारीजी और हम श्रीमती चंदरबाईजीके परम आभारी हैं।

और हम तो श्री० ब्रह्मचारीजीकी जैन समाज सेवा, जैन साहित्य सेवा और अध्यात्म प्रेमका कहां तक आभार मानें? आपने

तो अपना सारा जीवन जैन समाजकी सेवामें ही अर्पण कर रखा है। हमें आप जैसा जैन समाजका कर्मण्य त्यागी दूसरा नजर नहीं आता। श्री० ब्रह्मचारीजी चिरायु होकर इससे भी अधिक जैन समाजकी सेवा करें ऐसी हमारी हार्दिक भावना है। जो लोग 'जैनमित्र' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये इस ग्रन्थकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि जैनसमाज इस अध्यात्म ग्रंथके पठन पाठनका विशेष लाभ उठायगी।

सूरत
वीर संवत् २४६३
आषाढ वदी १४
ता० ७-७-३७।

निवेदक—
मूलचंद किसनदास कापड़िया
प्रकाशक।

"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस, खपाटिया चकला–सूरतमें
मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

श्रीवीतरागाय नमः ।

सहजानंद सोपान

भेद विज्ञान ।

१—अन्न दृष्टान्त ।

भेदविज्ञानकी महिमा अपार है । श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलशमें कहते हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतः बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

जितने जीव संसारसे पार होकर मुक्त होगए हैं वे भेद विज्ञानके प्रतापसे ही हुए हैं व जितने जीव संसारमें बद्ध पड़े हैं वे भेद विज्ञानको न पाकर बद्ध पड़े हैं । भेद विज्ञानकी महिमाका ज्ञान वचन अगोचर है । तथापि भव्य जीवोंके भीतर भेदविज्ञानकी कला उत्पन्न करनेके लिये भेद विज्ञानका ही कुछ वर्णन किया जाता है ।

एक लड़की चावल चुगने बैठी है । चावलमें कंकड़, पत्थर,

तृण, जतु, छिल्के आदि मिले हुए हैं। उसको इस बातका भेद विज्ञान है कि चावलका स्वरूप जुदा है व कंकड पत्थरका स्वरूप जुदा है। वह लड़की चावलको सर्व कुछ अचावलसे भिन्न पहचानती है। यदि गेहूंके भीतर चावल रख दिये जावें तौभी वह चावलोंको भिन्न कर डालेगी। यदि उसे भिन्न करनेको भी न कहा जावे और वह भिन्न नहीं भी करे तौभी जब वह चावलोंको गेहूंके साथ मिला हुआ देखती है तो उसको तुर्त यह भाव झलक जाता है कि चावल भिन्न हैं गेहूं भिन्न है। मिली हुई वस्तुओंको भिन्न२ पहचाननेकी जो बुद्धि है उसको ही भेद विज्ञान कहते हैं।

यह आत्मा अनादिकालसे पुद्गलसे मिला हुआ कुछका कुछ दिख रहा है। इसका ऐसी मिली हुई दशामें भी भिन्न बुद्धिसे यह आत्मा बिलकुल निराला दीखे और जो कुछ परसंयोग है व परसंयोग जनित विकार है वह सब निराला दीखे उसे ही भेद विज्ञान कहते है। आत्मा असलमें आत्मा रूप ही है इसीको परमात्मा, परब्रह्म ईश्वर, निरंजन, निर्विकार, नित्य शुद्ध सिद्ध, अनंतज्ञानी अनंतदर्शनी, अनंत वीर्यवान अनंत सुखी, अमूर्तीक, परम चारित्रवान, परम सम्यक्ती कहते हैं।

भावकर्म रागादि द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि ये सब इस आत्मारामसे भिन्न हैं। ऐसी श्रद्धापूर्वक पहचान होजाना ही भेदविज्ञान है। मैं आज मनसासे भिन्न सर्व परके साथ स्नेह छोड़कर एक निज आत्माको ही आत्मा रूप देखता हुआ जो संतोष पा रहा हूं वह वचन अगोचर है।

२-सूर्य दृष्टान्त।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे निवृत्त होकर निश्चल मन हो निजात्माकी असली सूरत देखनेके लिये उत्सुक होरहा है। संसारी आत्माकी असली सूरत अनादिकालसे पुद्गलके रचे हुए कर्म शरीरके भीतर दबी हुई है और इसी तरह छिपी हुई है जैसे बादलोंके बीचमें सूर्यका प्रकाश छिप रहा हो। चतुर पुरुष मेघाच्छन्न दिवसको देखकर भी व सूर्यके विमानका दर्शन न पाकर भी यही अनुमान लगाता है कि जो कुछ प्रकाश दिवसका होरहा है वह सूर्यका ही है। तथा सूर्यका असली स्वभाव सदा ही तेजस्वी व प्रकाशमान है। यह चतुर पुरुष मेघाच्छन्न होनेपर भी सूर्यको सूर्यरूप परम प्रतापशाली ही देखता है। यह उसके भेदविज्ञानकी कलाका प्रताप है। इसी तरह भेदविज्ञानी महात्माको अपना आत्मा परमात्माके समान दिखता है।

उसने श्री जिनवाणी व श्री जिनगुरुपर विश्वास लाकर उनके उपदेशमें श्रद्धा जमाकर उनके कहनेसे आत्माके स्वरूपका परमात्माके स्वरूपके समान निश्चय कर लिया है। जैसे किसी विश्वासपात्र व्यक्तिसे किसी न देखे हुए पुरुषका सर्व वर्णन उसके शरीरादिका सुनकर मनमें उस पुरुषके शरीरका नक्शा खींच लिया जाता है, वैसे ही श्री गुरुद्वारा बतलाये हुए क्रमसे शुद्धात्माका नक्शा अपने अन्तःकरणमें खींचा जासक्ता है।

श्रुतज्ञानके द्वारा ही आत्मा व परका भिन्न २ ज्ञान अर्थात् भेदविज्ञान पैदा होता है। भेदविज्ञानके द्वारा ही स्वात्मानुभव होता है।

सविकल्प अवस्थामें यह भेदविज्ञान सर्व ही नरनारक पशु-पक्षी वृक्षादि पर्यायोंके भीतर आत्माके स्वरूपको एकाकार शुद्ध झलकाता है। भेदविज्ञानीको हरएक प्राणीके भीतर परमात्माका दर्शन होता है।

उसके भावोंसे मोह, राग, द्वेषका मैल निकल जाता है। जब सर्व आत्माओंको एक समान देखा गया तब न कोई मित्र रहा, न कोई शत्रु रहा, न कोई पुत्र रहा, न कोई पिता रहा, न कोई माता रही, न कोई बहिन रही न कोई पुत्री रही, न कोई स्वामी रहा, न कोई सेवक रहा, न कोई नीच रहा, न कोई पूज्य रहा। आप न सर्व ही आत्माएं समान आत्मभावमें एकरूप दिखने लगीं।

जब वही भेदविज्ञानी निर्विकल्प होजाता है तब वह एक ऐसे स्वानुभवमई भावमें पहुंच जाता है जहां न कुछ विचार है न क्रिया है न शरीरका बन्धन है। यही एक वचनातीत भाव मोक्षमार्ग है। जो इसको पाते हैं वे स्वात्मानंदका विलास भोगते हुए अपने जीवनको सफल बनाते हैं।

३—न्यारियेका दृष्टान्त।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व पर पदार्थोंसे उन्मुख होकर एकमन हो अपने भीतर अपनी निज वस्तुको उसी तरह खोज कर रहा है जिस तरह न्यारिया राखके भीतर सुवर्णकी खोज करता हो। आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें रागद्वेष मोहका अज्ञानका व प्रपंचजालका अभाव है। मनके कार्योंका आत्माके निजस्वभावमें पता नहीं चलता है। आत्मा एक ज्योतिमय स्वपर ज्ञायक पदार्थ है। परम वीतराग, कृतकृत्य व निर्विकार है। इस शुद्ध स्वरूपकी भावनाको अपना मानता हुआ, इससे जो कुछ पर है उसको पर मानता हुआ

यह भेदविज्ञानकी शक्तिको बढ़ा रहा है । भेदविज्ञान एक ऐसा चश्मा है जिसको लगानेसे यह छ द्रव्यमई जगत अपने द्रव्य रूपमें पृथक् पृथक् झलक जाता है । जितनी आत्माएं हैं चाहे वे साधारण वनस्पतिरूपी निगोदमें हों, चाहे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व प्रत्येक वनस्पतिमें हों, चाहे द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चोंद्रिय, पचेंद्रिय, असैनी व सैनीमें हों, चाहें सिद्धपदमें हों, सबका स्वरूप एकसा है, सबका द्रव्य एकसा है, सबका क्षेत्र एकसा ही असंख्यात प्रदेशी है, सबका शुद्ध परिणमन समय समय एकसा ही है, सबका स्वभाव एकसा, परम आनन्दमय व परम शांतिमय है । प्रत्येक आत्माकी सत्ता भिन्न २ होनेपर भी परस्पर हर तरहसे समानता है । आत्माओंको छोड़कर जितने पुद्गल द्रव्य हैं, चाहे परमाणु रूप हो चाहे नानाप्रकार स्कंध रूप हों, औदारिक वैक्रियिक, आहारक तैजस, कार्माण ये पांच शरीर, सर्व नगर, द्वीप, पर्वत, नदी, समुद्र, सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र तारे, सब मेरेसे भिन्न हैं ।

इनका मूल द्रव्य पुद्गल परमाणु है । वे सब भिन्न भिन्न नजर आते हैं । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु तथा आकाश भी भिन्न भिन्न ही दीखते हैं । भेद विज्ञानके प्रतापसे मेरा शुद्ध स्वभाव परम सुखी, परमात्मारूप नजर आता है । आज मैं सर्व प्रपंच जालोंसे उदास होकर निज स्वरूपानंदका ही स्वाद लेकर तृप्त हूंगा । मैं अपने आपमें ही मगन हूंगा । मैं अपने आपको ही देखूंगा । मैं अपनेमें अपने आपको ही भोगूंगा । उसीमें मेरा धन है, वहीं विलास करना निराबाध है ।

४-आत्मगङ्गा स्नान ।

ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपने शुद्ध मन द्वारा सर्व प्रपंच जालोंसे रहित होकर आज यह विचार करता है कि मैं कौन हूं ? यह शरीर क्या है ? यह क्रोध, मान माया, लोभ क्या है ? यह अज्ञान क्या है । इन बातोंपर विचार करते हुए भेद विज्ञान यह बताता है कि यह आत्माराम साक्षात् परमात्मा है, ज्ञाता दृष्टा है, निर्विकार है शुद्ध है वीतराग है, अमूर्तिक है, परमानन्दमई है, अपनी स्वभाव परिणतिका ही कर्ता है व अपने स्वाभाविक आनन्दका भोक्ता है, परम कृतकृत्य है सर्व विश्वके पदार्थोंके गुण पर्यायोंको एक समयमें ही जाननेवाला है । इस आत्माको ईश्वर कहो भगवान कहो, प्रभु कहो, परमेश्वर कहो, पुरुषोत्तम कहो, परमब्रह्म कहो, परमसार कहो परमार्थ कहो परमेष्ठी कहो, निरञ्जन कहो, शिव कहो विष्णु कहो, ब्रह्मा कहो, जिनेश्वर कहो बुद्ध कहो, सुगत कहो योगीश्वर कहो, ध्यानेश्वर कहो, ज्ञानेश्वर कहो इत्यादि अनेक अपेक्षाओंसे स्थापित अनेक नामोंको लेकर स्मरण करो, यही साक्षात् सिद्ध है, लोकोत्तम है, परम मंगल है, परम शरण है । इसके साथ जो कुछ ज्ञानावरणादि कर्मोंका रचा हुआ कार्माण देह है वह पुद्गलमय है। आत्माके स्वभावसे सर्वथा भिन्न है । स्थूल दिखनेवाला औदारिक शरीर भी पुद्गलद्रव्य रचित जड़ है । रागद्वेषादि भावकर्म भी कर्मोदय जनित विकार है । इस आत्माके स्वभावसे सर्वथा दूर है। यही भेदविज्ञान अपने भीतर जिस तरह परमात्माको भिन्न बताता है उसी तरह विश्वके सर्व संसारी प्राणियोंके भीतर आत्माको अनात्मासे भिन्न बताता है । भेदविज्ञानके प्रतापसे सर्व विश्वकी आत्माएं चाहे शुद्ध

हों एक रूप ही देखनेमें आती है। वहां उच्च नीचका, पिता पुत्रका, स्वामी सेवकका, गुरु शिष्यका, शत्रु मित्रका कोई भी भेद भाव नजर नहीं आता है। इस कारण परम समता भावका शांत जल आत्मा रूपी घरके भीतर बहने लगता है। यही ज्ञानी इसी गंगा समान पवित्र जलमें स्नान करता है, इसीका पान करता है, इसीमें कल्लोल करता है। व इसी जलमें मगन होकर जिस परमानन्दका लाभ करता है, वह वचन अगोचर है। वे ही संत हैं जो इस अपूर्व रसको पान कर सदा सुखी रहा करते हैं।

५–आत्मा हीरेकी खोज।

एक भेदविज्ञानका प्रेमी भव्यजीव भेदविज्ञानका अभ्यास करके निज स्वरूपका लाभ करता हुआ बड़ा ही सुखी रहता है। अपना स्वरूप अपने ही पास है। आप ही परमात्मा, परब्रह्म व सिद्ध भगवान है। परन्तु औदारिक तैजस व कार्मोण शरीरोंके भीतर ऐसा छिपा पड़ा है कि इसका पता भी नहीं चलता है। जैसे किसी घरमें एक हीरेका रत्न हो परन्तु उसके ऊपर मिट्टीका ढेर व कूड़ा करकट जमा होगया हो तो उस हीरेके पानेके लिये सर्व ही कूड़े करकटको हटाना पड़ेगा तब ही उस रत्नका पता चलेगा।

इसी तरह भेद विज्ञानकेद्वारा सर्व ही अन्य पदार्थोंके द्रव्य, गुण, पर्यायोंसे भिन्न आत्माके द्रव्य गुण पर्यायको भिन्न करके जानना होगा। भेद विज्ञानी शुद्धोपयोगका प्रेमी होजाता है। वह शुभो पयोगके कार्योंको करता हुआ भी शुद्धोपयोगकी तरफ दृष्टि लगाए हुए भेदविज्ञानके प्रतापसे शुद्धोपयोगको पा लेता है।

यदि वह मुनि है तो वह स्वाध्याय करता हुआ, भाव पूजन करता हुआ प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, व सामायिकका पाठ करता हुआ, आहार व विहार करता हुआ भेदविज्ञानके प्रतापसे शुद्धोपयोगको पाता रहता है। इसीके प्रभावसे ज्ञानी मुनि सामायिक चारित्रका लाभ करते हुए रागद्वेषके फन्दसे बचे रहते हैं। लाभ, अलाभ, पूजा व निंदामें समताभावको पाते रहते हैं। गृहस्थ भी द्रव्यपूजाके साथ भाव पूजा करते हुए गुरुभक्ति करते हुए शास्त्र स्वाध्याय करते हुए, संयमको पालते हुए सामायिक करते हुए भेदविज्ञानके प्रतापसे शुद्धोपयोगी उदाको पा लेते हैं। मैं भी इस समय भेदविज्ञानकी दृष्टिसे अपनेको सबसे भिन्न परमात्मारूप अनुभव करता हुआ परमानंदका विलास लेता हूं और आत्मानुभवमें गुप्त होकर मन वचन कायकी क्रियाओंसे छूटकर निष्क्रिय होजाता हूं।

६–मोह मदिराका नशा।

एक ज्ञाता व्यक्ति जब अपनी दशा देखता है तो इसे एका एक उदासी छाजाती है। अरे! मैं बारबार जन्म मरण करनेवाला, रोग शोक, व्यथाको भोगनेवाला, पशु मानवकी अनेक योनियोंमें चक्कर लगानेवाला पांचों इन्द्रियोंकी नेगिनती इच्छाओंकी दाहमें जलनेवाला, रातदिन उनकी पूर्तिके लिये न्याय व अन्यायका विचार न करके यत्न करनेवाला धनके लिये असत्य, चोरी आदि पापोंमें प्रवृत्ति करनेवाला तृष्णाकी दाहको शमन न कर सकनेके कारण आकुलतामें मग्न हो शरीर छोड़नेवाला होता हुआ क्यों इस दशाके हटानेका उपाय नहीं करता हूं। सच है मैंने मोहको अपना साथी

बना लिया है । मोहने ऐसी अज्ञानकी मदिरा पिलादी है जिससे मैं उसीका नचाया नाच रहा हू । वह जिधर लेजावे उधर लेजाया जारहा हू । दुःख सहता हुआ भी मोहको नहीं छोड़ता हू । परन्तु अब तो मुझे जगना चाहिये और परम दयालु श्री गुरुने जो तत्वज्ञान बताया है उसको स्मरण करना चाहिये । श्रीगुरुने बताया है कि भेदविज्ञानकी दृष्टिसे जगतके पदार्थोंको देख निश्चयनयका चश्मा लगाले तब यह जगत जो मूल द्रव्योंका समुदाय है सो इसके द्रव्य सब अलग २ दीख पड़ेंगे ।

निश्चयनयसे देखते हुए जितने पुद्गल है वे सब परमाणुरूप दीखते हैं । धर्म, अधर्म आकाश, काल अलग ही मालूम पड़ते हैं। सर्व जीव अलग अलग शुद्ध परमात्मारूप झलकते हैं । मैं अपनेको भी जब निश्चयनयसे देखता तो उसे परमात्मा ही पाता हू । न मेरेमें रागद्वेषादि आठ कर्मोंके पुंज दीखते हैं, न शरीर वस्त्रादि परिवारादि अपना दीखता है । मैं एक अकेला अपने स्वरूपमें एक रूप परम भगवान ज्ञातादृष्टा अमूर्तीक अनन्तवीर्यमई परम वीतरागमई हू । यही अनुभूति मुझको होरही है । उचित है कि मैं इसी ही अनुभूतिको ग्रहण किये रहू । वास्तवमें श्रीगुरुने बताया है कि जो परसे भिन्न निज आत्माका अनुभव करता है वही परम सुखशांतिका भोगी होता हुआ मुक्त होजाता है, ससार-सागरसे पार होजाता है।

वास्तवमें आप ही नौका है आप ही नौकाका खेवटिया है व आप ही नौकाका यात्री है । जो इस निर्द्वन्द भावमें एकतान हो एकाग्र होजाता है, वह एक ऐसे अद्वैत भावमें पहुच जाता है, जहा सिवाय आत्मानन्दके स्वादके और कुछ विकल्प नहीं आता। अध्या-

असमान दमई दिखलाई पडते हैं। कोई भेद मालुम नहीं पड़ता है। सत्ता भिन्न २ होनेपर भी स्वरूपकी अपेक्षा सब आत्माए समान हैं। तथा आकाश, काल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, तथा सर्व पुद्गल चतना रहित है। मेरे स्वभावसे बिल्कुल भिन्न है। मैं इनको अपनाऊ नहीं तो ये मेरा बिगाड नहीं कर सके। इसलिये इनसे उदासीन होकर व सर्व आत्माओंको समान देखकर मैं साम्यभावरूप चारित्रको पाता हू। और विना किसी भय व शकाके अपने ही शुद्ध असख्यात प्रदेशमई आत्मारूपी गढ़में विश्राति लेता हू और जिस परमान दका स्वाद पाता हू वह वचन अगोचर है।

९—आत्मगुफा प्रवेश।

एक भेदविज्ञानी तत्वज्ञानके प्रेमसे आकर्षित होकर जब देखता है तो इस ससारके भयानक जगलमें अपनेको उलझा हुआ पाता है। जैसे कोई पक्षी जालमें फसा हुआ उड़नेकी इच्छा रखते हुए भी व स्वतन्त्रतासे विचरनेकी कामना रहनेपर भी तडफ २ कर रह जाता है व जालसे निकलनेका मार्ग नहीं पाता है, इसी तरह यह ज्ञानी अपनेको सकल्प विकल्पोंमे या औपाधिक भावोंसे जालमें उलझा हुआ पाकर अतिशय आकुल व्याकुल होरहा है। तथापि भेद विज्ञानके प्रतापसे इसको इस जालसे निकालनेका मार्ग मिल गया है। भदविज्ञान इसे बताता है कि तू अपनी सत्ताको यथार्थ समझ ले, तथा जो तू नहीं है उसे भी यथार्थ समझलें। फिर अपनेसे गाढ़ प्रेम रखना व परसे दृढ़तापूर्वक उदासी वर्तना ही इस महत् जालसे निकल जानेका उपाय है।

शक्ति है जिसके असरसे आत्माके प्रदेश सकंप होते हैं व आत्माके भावोंमें कषायोंका झलकाव होता है जिससे क्रोध संहार करनेको, मान अपमान करनेको, मायाचार ठगनेको, लोभ अन्यायसे धन संग्रह करनेको तैयार होजाता है। पुद्गलकी ही समलतासे जगतमें हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रहके पाप फैले हुए हैं। इन्हींके कारण जगतके जीव मदिरा पीनेवालेके समान उन्मत्त रहकर पुद्गलके प्रपचमें मोही होते हुए चिन्ताकी दाहमें जलते हैं। कभी शोक कभी खेद कभी संताप सहते हैं। भेदविज्ञानी ऐसा विचार कर सर्व पुद्गल मात्रसे अपना नाता छोड देता है और सर्व जीवोंसे भ्रातृभाव कर आप ही अपने ज्ञानानन्दमय स्वभावमें तन्मय होजाता है। फिर जिस आनन्दका भोग भोगता है उसका कथन वचनसे हो नहीं सक्ता। वह एक अनुभवगोचर परम अमृत रस है जिसका पान भव्य जीव ही करता है।

११—योग निद्रा।

एक ज्ञानी आत्मा जब विचारने लगता है तो उसको पता चलता है कि जिसको वह मैं करके कहता है और जिसको ममकार करके पुकारता है वह सब मैं नहीं हूं न वह मेरा है, भेदविज्ञानके प्रतापसे ही ऐसी निर्मल दृष्टि प्रकाशित हो जाती है जिसकेद्वारा ज्ञानाको आत्माका जो निज स्वभाव है वही मैं रूप भासता है व जो उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र वीर्यादि गुण हैं उनहीमें ममपना झलकता है। अनादिकालसे अज्ञानीने कर्मके निमित्तसे जो २ पुद्गल पर्याय पाई थी उसीमें वह अपनापना मानता था व जिन २ पदार्थोंका सम्बन्ध था उनहीको मेरा मेरा करके मानता था। चारों

गतिकी अनेक योनियोंमें अनेक प्रकारके भेष जीवने धारण किये हैं इन भेषोंमें अपनापना जानना ही मोहमई अज्ञान है। इस अज्ञानके कारण इस जीवने महान सङ्कट उठाए हैं। इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगकी घोर यातनाएं सही हैं।

आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानके कारण घोरतर कर्मबंध किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके स्वादका ही भोग किया है। कषाय रहित निर्मल आत्मीक आनन्दका स्वाद नहीं प्राप्त किया है। अब तो इस ज्ञानीने अपना स्वरूप पहचाना है। अब तो इसको अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका पका निश्चय होगया है। अब तो यह जान गया है कि मेरी सत्ता सर्व अन्य आत्माओंसे तथा सर्व अनात्माओंसे बिल्कुल निराली है। इसको अपने हीमें परमात्माका दर्शन होता है। यह आप ही अपनेको परमात्मा समझ रहा है। इसके उपयोगमें शुद्धताका चित्र खिंच गया है। शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग सर्व ही बंधके कारण मालूम होरहे हैं। यह पुण्य पाप दोनोंको ही बेड़ी समझ रहा है। इसकी दृष्टि आत्मस्वातन्त्र्य पर है। यह शारद्रव्यके बहिरंग कारण सब चेतन पदार्थोंको अपने समान देखता हुआ समभावधारी होजाता है। सर्व ही अचेतन पदार्थोंसे या वानर भी गेज्ञान है। यह निश्चिन्त होकर निज तत्वकी गुफामें प्रवेश करता है। वहीं निश्चिंत होकर स्वानुभवका चन्दरमें गुप्त होकर योगनिद्रामें मगन होजाता है। उस समय जिस अपूर्व आनन्दका स्वाद पाता है वह वचन अगोचर है और मात्र अनुभवगम्य है।

१२-आत्मयोग रमण।

एक ज्ञानी महात्मा अपने अन्तरङ्ग लोकमें जब दृष्टि पसार कर देखता है तो उसे बहुतसे सङ्कल्प विकल्प नजर आते हैं। एक ज्ञानकी परिणति होती है, मिटती है जब दूसरी होती है। यद्यपि ज्ञान जाननेका काम करता है, परन्तु वह एक इन्द्रिय द्वारा एक कालमें जानता है तब दूसरी इन्द्रिय द्वारा नहीं जान सक्ता है। जब मनके द्वारा जानता है इन्द्रिय द्वारा नहीं जान सक्ता है। पांच इन्द्रिय और छठे मनके द्वारा क्रमवर्ती ज्ञान बड़ी भारी आकुलताका कारण है। क्योंकि जब एकको जानता है तब दूसरे विषयको जाननेकी आकुलता पैदा होजाती है। ज्ञानी विचारता है कि क्या ऐसा ज्ञान मेरे आत्माका स्वभाव है तब भेदविज्ञानके द्वारा पता चलता है कि आत्मापर ज्ञानावरण व दर्शनावरणका पर्दा पड़ा है। इनका जितना २ क्षयोपशम होता है उतना २ अल्प, अशुद्ध ज्ञान प्रगट होता है। यह ज्ञान अशुद्ध इसलिये है कि इसपर केवलज्ञानावरणका घोर पर्दा पड़ा हुआ है। यदि यह पर्दा न हो तब तो यह ज्ञान आत्माका स्वाभाविक प्रकाश है। इस प्रकाशमें यह ताकत है कि इसमें सर्व ही जानने योग्य पदार्थ एक कालमें झलकते हैं। यहां पूर्ण ज्ञान है इसमें कोई प्रकारका अज्ञान नहीं रहता है। वास्तवमें यही मेरा स्वभाव है। मति श्रुत अवधि मनःपर्यय ज्ञान सब विभाव हैं। मेरा स्वभाव तो एक सहज शुद्ध ज्ञान है। फिर मैं देखता हूं कि मेरे अन्तरङ्गमें क्रोध मान माया लोभ, भय, ग्लानि, कामादि विकार बड़ी ही भयानक सत्ता दौड़ रहे हैं।

मैं जब भेदविज्ञान द्वारा विचारता हू तो ये भी मेरे स्वभाव नहीं है क्योंकि इनके कारण मेरे भीतर घोर आकुलता होती है। मेरा ज्ञान मलीन होजाता है, मुझे बड़ा दु ख मालूम होता है। वास्त वमें यह भी मोहनीय कर्मका रस है। मोहनीय कर्मके विपाकसे आत्माके सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान गुणोंका विभाव परिणमन होता है। आत्मा अपने स्वभावमें परम वीतराग व शातस्वरूप है। इसकी शातिका कोई घात नहीं कर सक्ता। जहा शाति है वहा आनन्द रहता है।

भेदविज्ञानकी दृष्टिसे विचारते हुए यह आत्मा परमात्माके साथ सदृशता रखता है। यह ज्ञानी अब सर्व विकारी भावोंको त्यागकर निजानन्दमय आत्माके रमणीक बागमें रमण करता हुआ जिस सन्तोष व सुखको प्राप्त कर रहा है उसका वर्णन नहीं होसक्ता है।

१३–आत्मा अकर्ता अभोक्ता है।

एक ज्ञानी महात्मा सर्व तरफसे चित्तको मोड,–प्रमाद भावको छोड जगतकी रचनापर विचार कर रहा है। बुद्धि यही कहती है कि इस जगतकी सर्व रचना अनादि है। अनादि वस्तु अकृत्रिम होती है। जगत द्रव्योंका एक समूह है। द्रव्य सब सत् होते हैं। तथापि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हैं। जगतके सर्व ही द्रव्य परिणमनशील हैं तथापि स्वभावसे ध्रुव हैं। वायुसे मिलकर जल और जलसे वायु होती है। लकडीका कोयला, कोयलेकी राख होती है। समुद्रके जलसे भाफ, भाफसे मेघ, मेघसे जल होता है। अवस्था बदलती है परन्तु जड पुद्गलोंका न जन्म है न नाश है। जगतमें

चेतनता व अचेतनता दोनों गुण अनुभवगम्य हैं। चेतनता गुणका धारी जीव, अचेतनता गुणका धारी अजीव कहलाता है। शुद्ध निर्विकार ज्ञानानन्दमय अशरीर परमात्मामें न इच्छा न प्रयत्न, न विकार न क्रिया, कुछ भी सम्भव नहीं है, जो उसने किसी समय इस जगतका निर्माण किया हो। न वह इस जगतका उपादान कर्ता है न वह निमित्त कर्ता है। परमात्माके सदृश्य हरएक आत्मा भी है। यदि ज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया जावे तो इस आत्माका स्वभाव भी यही है। न यह किसीका उपादान कर्ता है न यह निमित्त कर्ता है। संसारी आत्माएं कर्मबंध सहित अशुद्ध है, उन कर्मोंके प्रभावसे मन वचन कायद्वारा योग चलते हैं व रागद्वेष मोहपूर्ण उपयोग होता है। बस येही योग व उपयोग ही जगतमें निमित्त कर्ता होजाते हैं। यदि कर्मोंका सम्बन्ध न हो तो यह आत्मा भी परमात्माके समान अकर्ता ही है।

भेदविज्ञान बताता है कि मैं एक अकेला अकर्ता, अभोक्ता, अविनाशी, अमूर्तिक, ज्ञाता, दृष्टा, निर्विकार, सत्, शुद्ध, परमानन्दमय, बन्ध व मोक्षकी कल्पनासे रहित तथापि नित्य मोक्षरूप परमसिद्ध हूं। इसके सिवाय कुछ भी मेरा नहीं है। मैं अब सर्वसे नाता तोड़, आप आपमें हितको जोड़, सर्व विकल्प जालोंसे मुक्त हो निज शुद्ध बुद्ध परमात्माकी परमगुप्त शय्यापर शयन कराता हुआ स्वानुभूतितियासे सहज होकर जिस आनन्दामृतका पान कररहा हूं वह वचन अगोचर व मनसे भी परे है।

१४–अन्तरंग जगत विहार।

एक ज्ञानी महात्मा एक परमाणु द्वारा घेरने योग्य एक आकाशके प्रदेशकी तरफ दृष्टिपात करता है तो उस एक प्रदेशके भीतर अनन्त सूक्ष्म स्कंध भरे हुए हैं। जीवोंके प्रदेश भी हैं, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायके पदार्थ हैं, कालका एक अणु है। एक जीव घनागुलके असंख्यातवें भाग जघन्य शरीरकी अवगाहना करता है। असंख्यात प्रदेश संकुचित होकर इतने होजाते हैं तब एक प्रदेशमें संकुचित कितने ही प्रदेश आसक्ते है। इन संकुचित आत्म प्रदेशोंके साथ अनन्त तैजस व कार्माण वर्गणाएं हैं। एक२ वर्गणामें अनंत अपूर्व शक्ति भरी हुई है। यद्यपि इस एक प्रदेशमें छहों द्रव्य हैं तथापि प्रयोजनभूत एक जीव द्रव्य है क्योंकि वह ज्ञाता भी है ज्ञेय भी है, अन्य पाच द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं। शुद्ध जीव द्रव्य परमात्मा स्वरूप है। इस जगतमें जीव द्रव्य अनन्त है। सबकी सत्ता एक दूसरेसे भिन्न है, तथापि स्वभावसे सब समान हैं। भेदविज्ञानके प्रतापसे सर्व ही जीव परसे रहित एकाकार शुद्ध दृष्टिगोचर होरहे हैं। मुझे तो अपने स्वरूपसे प्रयोजन है। मेरा स्वरूप अन्य शुद्ध आत्माओंके समान होनेपर भी अपनी सत्ताद्वारा निराला ही है। जो कोई अपने ही स्वभावमें तन्मय होता है उसीको ही अपने भीतर भरे हुए अतीन्द्रिय आनन्दका अपूर्व स्वाद आता है।

वास्तवमें भेदविज्ञान ही स्वात्मानुभवके लिये परमोपकारी साधन है, स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वहीं निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्रकी एकता है।

[illegible] जिनको [illegible] कहते हो [illegible] [illegible] ये [illegible] वायु [illegible] है, [illegible] है, उनको [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] आकाशादि। [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] है। [illegible] और [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] और दूधका, [illegible] और कोयला [illegible] और [illegible] है। [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] होती है।

८४—अणुरूपवाद।

यह [illegible] और [illegible] [illegible] पदार्थविज्ञानकी [illegible] करता है। पदार्थविज्ञान वह [illegible] है जिससे [illegible] [illegible] [illegible] है। भिन्न भिन्न पर्यायों [illegible] [illegible] करनेमें सहायक है, एकदम नहीं दिखलाई पड़ती है। अतएव सम्पूर्ण दृश्य एक भिन्न भिन्न पर्यायका [illegible] खेल है। [illegible] अग्नि, वायु, आकाश आदि सर्व पुद्गलकी पर्याय है। [illegible] [illegible] करने योग्य सर्व ही [illegible] [illegible] पुद्गलकी पर्याय है। आँखोंसे देखनेमें आनेवाले सब ही [illegible] पुद्गलके स्कन्ध बनने बिगड़नेवाले हैं। सुननेमें आनेवाले शब्द भी पुद्गलके गुण व गुणके विकार पर्याय है। [illegible] छिपनेवाली धूप [illegible], रोशनी भी पुद्गलकी पर्याय है। नासिकाई [illegible]

ही सुगंध तथा दुर्गंध पुद्गलके गुणोंका विकार है। जिह्वासे जाननेमें आने योग्य सर्व ही प्रकारके रस पुद्गलके ही गुणके विकार हैं। शरीरके स्पर्शमें आनेयोग्य हवा आदि व ठंडा गर्म, रूखा चिकना, नरम कठोर, हलका भारी ये सब पुद्गलकी पर्याय हैं। पांचों इंद्रियोंसे जो कुछ ग्रहणमें आता है वह सब पुद्गल है।

एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके सर्व जीव जंतु पुद्गलके मिश्रित स्कंध हैं। इनमें जीव भिन्न है। जीव ज्ञान दर्शन सुख वीर्य मय शुद्ध निर्विकार परमात्माके समान है। साथमें रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिक व तैजस व वैक्रियिक व आहारक शरीरादि नोकर्म सब पुद्गलमय हैं। मैं भी जो कुछ हूं सो पुद्गलकी सर्व रचनाओंसे पृथक् हूं।

इस भेदविज्ञानसे द्रव्योंको अलग २ जानकर स्वहित कार्यकर्ताका यह कर्तव्य है कि प्रयोजनभूत तत्त्वको ग्रहण करें और सर्व अप्रयोजनभूत तत्त्वको त्याग करदें। मुमुक्षुका प्रयोजन स्वतंत्रता है तथा स्वाधीन सुख व शांतिका लाभ है। यह हेतु तब ही सिद्ध हो सक्ता है जब सर्व ही अनात्मासे नाता तोड़ा जावे, केवल एक आत्मामें ही रंजकता प्राप्त की जावे। केवल एक अपने आपको ही रुचिमें व ज्ञानमें लाकर आपका ही अनुभव किया जावे। इसलिये मैं सर्व प्रपंच जालोंसे मुंह मोड़, केवल एक अपने आत्मासे नाता जोड़, रागद्वेष मोहकी जंजीरोंको तोड़, सर्व त्यागने योग्य भाव व द्रव्यको छोड़, एक शुद्धात्माके ध्यानमें तन्मय होता हूं और उसी ध्यानकी एकतानतामें बैठकर, जिस अमृत रसका पान करता हूं, वह किसी भी शब्दसे वर्णन नहीं किया जाता।

२६–स्वरमणोपाय।

एक ज्ञानी आत्मा जब सर्व विकल्पोंसे अलग होकर अपने में बैठता है तब इसके अनुभवमें ऐसा झलकता है कि वह अनुभव रहा है जो अनादिकालसे आते जानेवाले कर्मोंके बन्धनरूपके बीच पड़ा है और रागद्वेष मोहकी बहुत तीव्र रंगोंके योगके कारण उसका दर्शन नहीं होता है। मिथ्यात्वके न होनेसे अबतक तो इसे अपनी खबर ही नहीं थी मिथ्यात्वके अभावात्मक हटानेसे व सम्यक्त्वका प्रकाश होनेसे इसके भीतर भेदविज्ञानकी दृष्टि जगगई है। जिससे इसे अपना आत्मा स्वच्छ कर्मपंकके बीचमें पड़ा है ऐसा बोध होता है। इसको अपने स्वरूपका पूर्ण निश्चय होगया है। अब केवल इस कर्मपंक दलको पृथक् करना है, जिससे अपना रत्न अपने हाथमें आजावे। इस कर्मको चारित्र कहते हैं। चारित्रके लिये भी ज्ञानी जीव भेदविज्ञानका सहारा लेता है।

रागद्वेषकी कालिमाको हटाना ही चारित्र है। वीतराग भाव ही चारित्र है। स्वरूपमें थिरता पाना … है। भेदविज्ञानके प्रतापसे यह ज्ञानी … है और उस तीक्ष्ण बुद्धिसे वही … दृष्टिको … तब तब … चारित्रका … है। वीतरागताके … हटना … दूर होता

लिया जाता है। तब वह रत्न अपनी मनोहर आत्मासे सदा चमकता रहता है।

इसी रत्नको निर्वाणरूप, मोक्षरूप, सिद्धरूप, ईश्वर स्वरूप, परब्रह्मरूप व परमानन्दमय शांत सुखका सागर कहते हैं। भेदविज्ञान जगतके सर्व प्रपंचोंसे भिन्न एक अनुभवगम्य पर्यायका संकेत कराता है। जितने भाव साधक अवस्थामें साधक कहे जाते थे वे ही वहां बाधक होजाते हैं। शब्दोंके आडम्बरसे उस अपूर्व पदार्थको बतानेका प्रयत्न किया जाता है तथापि शब्दोंके वाच्य मात्र भावसे उसका पता नहीं चलता है। मनके विकल्प होते हैं उन सबसे बाहर वह है। इसीसे वह विकल्पातीत है। भेदविज्ञानने इतनी तो कृपा की है कि मुझे यह बता दिया है कि इन्हें मैं अनात्मा समझूं।

इन अनात्माओंसे परे जब साधककी प्रज्ञा जाती है तब उसे निज रत्नका दर्शन होजाता है। कठिनसे कठिन व सुगमसे सुगम निज वस्तुको पाना है। अब मैं श्रीगुरुके उपदेशे हुए मार्गके अनुसार मन, वचन, कायकी गुप्तिमई एक अत्यन्त प्रच्छन्न गुफाके भीतर बैठता हूँ। इस गुफाको साम्यभाव कहो, समाधि कहो, सामायिक कहो, मोह क्षोभ रहित आत्मपरिणाम कहो, रत्नत्रयकी एकता कहो, स्वरूपाचरण चारित्र कहो, स्वसमय कहो, स्वात्मध्यान कहो, स्वरमणोद्यान कहो। मैं अब इसी उद्यानमें क्रीड़ा करता हुआ जिस आत्म-स्वसंवेदनका आनन्द पारहा हूं उसका अनुभव, अनुभवकर्ताको ही आसकता है।

२७—अपूर्व सम्यग्ज्ञान।

एक ज्ञानी आत्मा एक वृक्षकी छायाके नीचे बैठा हुआ एक-

आमके फलका विचार कर रहा है। वह सोचता है कि इस फलमें बहुतसा निसार है थोड़ासा ही सार है, सार ही खाने योग्य है, शेष त्यागने योग्य है। इसके इस तरहके ज्ञान व श्रद्धान होते ही इसे उस फलके खाने जैसा सन्तोष होजाता है। इसी दृष्टांतसे जब यह अपने आत्माकी तरफ लक्ष्य देता है तो उसको भेदविज्ञानकी दृष्टिसे यही झलकता है कि मैं एक शुद्ध आत्माराम हूं, परब्रह्म स्वरूप हूं, सिद्धसम शुद्ध हूं, स्फटिक मूर्तिसम निर्विकार हूं, आकाशके समान निर्लेप हूं वायुके समान अमण हूं, सूर्यके समान तेजस्वी व प्रतापशाली हूं, चन्द्रके समान सुधाका वर्षानेवाला हूं, समुद्रके समान गुणरूपी रत्नोंकी खान हूं। मेरे साथ जो कुछ भी पुद्गलका सम्बन्ध है सब मुझसे निराला है।

भेदविज्ञानकी दृष्टिसे यह अपने भीतर आपको ही परमात्मा रूप देखता है और बार बार यह मनन इसे परमात्मा रूप होनेकी श्रेणीपर आरूढ़ कर देता है। भेदविज्ञानकी दृष्टि बहुत ही मनोहारिणी व सत्य मार्ग प्राप्त करानेवाली है। भेदविज्ञानरूपी पैनी छेनी है जो आत्माको अनात्मासे एकदम ऐसा भिन्न करके पृथक् कर देती है कि आत्माके गुण व पर्याय आत्मामें रहते हैं तथा अनात्माके गुण पर्याय अनात्मामें रहते हैं।

, भेद विज्ञानी महात्मापर कभी लक्ष्मी कृपादृष्टि करती है, अटूट धनका समुद्र बना देती है। भेद विज्ञानी इस धनको पर ही समझता है, पुण्यका विपाक समझता है। पुण्य क्षणिक है, पुण्य विपाक भी क्षणिक है। कभी पापके उदयसे धन चला जाता,

संतानकी हानि होजाती, संकटपर संकट आजावे तौ भी वह इसे पापका विपाक समझकर इससे उदासीन रहता है।

भेदविज्ञानी जगतको पर्याय दृष्टिसे देखना छोड़कर मात्र द्रव्य दृष्टिसे जगतको देखता है तब सिवाय शुद्ध जीव, शुद्ध पुद्गल, शुद्ध आकाश, शुद्ध काल, शुद्ध धर्म व अधर्म द्रव्यके और कुछ देख नहीं पड़ता। जहा आप भी शुद्ध, पर भी शुद्ध, सब सम्बन्ध भी शुद्ध अनुभवमें आवे वहा रागद्वेष मोहका तम जरा भी नहीं दिखाई पड़ता है। इस अपूर्व सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे यह जीवात्मा कर्मोंसे भारी होनेपर भी अपनेको हलका जानता है। धीरे२ इस ज्ञानीके भीतर पर्याय दृष्टि बन्द होती जाती है और द्रव्यदृष्टिका विकास होता जाता है, तब समताभाव आजाता है, सामायिक भाव झलक जाता है, तब यह सर्व प्रपंचजालोंसे अलग हो अपने ही भीतर दृष्टि घाता है और बड़े गौरवसे आप ही आपमें तन्मय होजाता है। उस समय जो अनिर्वचनीय सुख पाता है उसका वर्णन कोई कर नहीं सक्ता।

२८-साम्यवन क्रीडा।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच जालोंसे रहित हो जब एकांतमें बैठता है तो वह यह विचार करता है कि मैं एक शुद्ध क्षीरसमुद्रके समान शुद्ध पदार्थ हू। जैसे समुद्र अथाह व गंभीर है, वैसे मैं अनंत गुणोंका समुदाय परम गंभीर हू। जैसे समुद्र परम शीतल है वैसे मैं परम शात वीतराग हू। जैसे समुद्र परम मिष्ट है वैसे मैं परमानन्दमई हू। मेरी सत्तामें सिवाय मेरी सत्ताके और कोई सत्ता नहीं है। वास्तवमें सत् पदार्थ अपनी मर्यादामें रहनेवाला ही होता

मैं एक सामान्य अगुरुलघु नामका गुण रहता है जिसस
ई अपने अनंत गुणमई समुदायको कभी नहीं त्यागता ।
क भी गुण न तो उसमेंसे छूटता है न उस गुणमें कोई
ता है न कोई गुण बाहरसे आकर उसमें मिलता है । यही
जो एक जीव अन्य जीवमें व किसी पुद्गल परमाणुमें परि
ी होता है । ऐसी वस्तुकी मर्यादा होते हुए मैं किसको
हूं व कौन मुझको अपना कहे । यह अहङ्कार ममकारका
ात है, भ्रम भाव है जो मोह राग, द्वेषका कारण है ।
विज्ञानकी दृष्टिसे सर्व पदार्थोंका निज स्वरूप विचार
ता है, यहा मेरा आत्मा एक निराला स्वतंत्र अविनाशी
कता है । मेरा अब यही कर्तव्य भान पड़ा है कि मैं अब
ता तोड़ूं और केवल अपनी ही निज सत्तासे नाता जोड़ं ।
झे न तो सिद्धोंसे काम है न अरहंतोंसे प्रयोजन है, न
उपाध्याय, साधुसे कोई सरोकार है न मुझे बहिरात्मा,
ा, परमात्माके विकल्पोंसे कोई प्रयोजन है, न मैं जीवादि
त तत्वोंका विकल्प करता हूँ । मैं तो एकाकार आत्मीयतामें
ीयता मानकर परम निस्पृह और निर्द्वंद होकर अपने ही
त्मोद्यानमें रमण करता हूँ ।

स वनमें रमण करते हुए न तो कोई हिंसामई सिंह कष
न मनचर हाथीसम प्रमादभाव आक्रमण करते हैं, न पंचे
र्दयमई मृगी मनको लुभाती हैं न विकराल कषायरूपी
आकर विह्वल करते हैं । न यहां कोई सङ्कल्प विकल्पमई
भिनर करते हैं न यहां दर्शमशक रूप कोई हास्यादि

-नोकषाय ही पीड़ा उपजाते हैं। न वहां विषयशक्तिरूपी शीत है न तृष्णारूपी आताप है। समताका शांत वातावरण चहुओर निराकुलताकी मन्द सुगन्ध पवन चला रहा है। ऐसे परम सुन्दर साम्यरूपी वनमें क्रीड़ा करता हुआ मैं अपने ही रूपका आप मोही होता हुआ जिस अपूर्व अनुभवानन्दका भोग कर रहा हू उसको मन विचार नहीं कर सक्ता, वचन उसे कह नहीं सक्ता।

२९—तीक्ष्ण आरी।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प विकल्पोंसे रहित होकर एकान्तमें विचार करता है तो उसको विदित होता है कि भेदविज्ञानके प्रतापसे ही परमात्माका दर्शन होता है। यदि कोई परब्रह्म परमेश्वरका दर्शन करना चाहे तो उसको सर्व उपायोंको छोड़कर एक यही उपाय करना होगा कि वह अपने आपको देखे। आप ही परमात्मस्वरूप है। अपने भीतर जो कुछ अपना नहीं है उस सबको बुद्धिबलसे हटा देनेपर जो कुछ बचा रहता है वही परमात्माका स्वरूप है। रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म शरीरादि नोकर्म सब कुछ मेरा नहीं है। शरीराकार मंदिररूपी आकाशमें निर्मल आकाश सम चैतन्य मूर्तिका धारी परमेश्वर परमात्मा परम निर्विकार व परमानन्दमय विराजमान है। उसका अनुभव करपाना, उसकी झलक पाजाना, उसीमें तन्मयता पाजाना ही परमात्माका दर्शन कर लेना है। योगियोंका योग द्वारा अनुभवगम्य वही सिद्धात्मा है। इस अपने ही आनदमय रूपका ध्यान ही मोक्षमार्ग है। यही मोक्ष-स्वरूप भी है। कारण और कार्यकी समानता होती है।

भेदविज्ञान एक ऐसी तीक्ष्ण आरी है जो आत्माको अनात्मासे एकदम भिन्न कर देती है। जो इस आरीको धारण करता है वही मोक्षमार्गमें एक सिपाहीके समान काम करता हुआ, काम क्रोधादि शत्रुओंके आक्रमणसे बचा रहता है। वह निर्भय हो विना किसी संकोचके मोक्षमार्गमें बढ़ा चला जाता है। जब कभी रागद्वेष भाव आक्रमण करते हैं यह वीर योद्धा भेदविज्ञानके शस्त्रसे उनको भगा देता है। यह संसार महामोहका जाल है। संसारी प्राणी पांच इन्द्रियोंके विषयरूपी शिकारीके जालमें फँसकर बहुत भारी२ कष्ट उठाते हैं। तृष्णाकी दाहमें गलते रहते हैं। शांतभावको पाना अति ही दुर्लभ होजाता है।

तृष्णाका आताप भवरमें त्रासित रखता है। तृष्णाके दाहको शमन करनेके लिये स्वानुभवरूपी अमृतका प्रवाह आवश्यक है। जो ज्ञानी महात्मा आत्माके निश्चय स्वरूपपर लक्ष्य लगाकर मन, वचन, कायकी क्रियासे अतीत चला जाता है उसको भेदविज्ञानके ही प्रतापसे स्वानुभवरूपी अमृत मिल जाता है। तब परम अपूर्व शांतिका लाभ होजाता है। ऐसा समझकर मैं भेदविज्ञानको अपने गले लगाता हूं और मन विकल्पोंसे अतीत जाकर एक अपने परम रमणीक आत्मीक उद्यानमें सैर करता हुआ उस आत्मीक बागके प्रत्यक्ष ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंका रस लेता हुआ, कभी अखण्ड आत्माका स्वाद लेता हुआ जिस परमानन्दका लाभ कर रहा हूं, उसका वर्णन होना अतिशय दुर्लभ है। जो जाने वही जाने। वह वचनोंकी शक्तिसे बाहर है।

३०–निराकुल स्वाद।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व रागद्वेष भावोंको टालकर जो एकांतमें विचार करता है तो उसे यह झलकता है कि सर्व जगतकी प्रपञ्च-मायामें मेरा स्वरूप बिल्कुल ढक गया है। इसके ऊपर अनन्तानन्त तैजस व कार्माण वर्गणाओंके ढेर हैं। आहारकादि वर्गणाएं भी अपना अड्डा जमा रही हैं। इन कर्म प्रपंचकी रचनाके कारण ऐसे तीव्र विभावोंका मैल आत्माके ऊपर छाया हुआ है कि उसका वीतरागभाव तो कभी अनुभवमें ही नहीं आता है। जब देखो तब २५ कषायोंका रङ्ग ही झलकता है। क्रोध मान, माया, लोभ अपने अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान व संज्वलन भेदको लिये हुए १६ प्रकार होकर नौ नोकषायोंके साथ २५ प्रकार होजाते हैं।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय शोक, घृणा, पुवेद कामभाव स्त्रीवेद कामभाव, नपुसक वेद कामभाव, इनके अनेक प्रकारकी शक्तिके प्रकाशसे अनेक तरहके भावरूपी रङ्ग होजाते हैं। जब देखा जावे तब रातदिनमें हर समय इनही कषायके रंगोंका झलकाव रहता है। वीतरागभावका तो कहीं पता नहीं चलता है। वीतरागभाव मेरा भाव है, रागादि सब पर भाव है, ऐसा भेदविज्ञान किस तरह उत्पन्न हो यही चिन्ता करता हुआ ज्ञानी एकदमसे ऐसा जान लेता है कि जैसे जलमें लवणके मिश्रणसे उस अशुद्ध जलका पान लवणका स्वाद देता है, निर्मल जलका स्वाद नहीं देता है। परन्तु निर्मल जलका स्वाद लवणरूप नहीं है किंतु मिष्ट है। इसी तरह आत्माका मोहनीय कर्मके साथ मिश्रण होनेसे आत्म का स्वाद क्रोधादि रूप आता है, कुछ देर

भी इन विभावोंको दूरकर यदि थिरता पाई जावे तो शुद्ध वीतरागताके अंशका स्वाद आजाता है। तब ही भेदविज्ञान पक्का झलक जाता है कि मैं आत्मा हूं मेरा स्वाद साम्यभाव है, शांतभाव है, निराकुल आनन्द है। क्रोधादि भावका स्वाद मेरा स्वाद नहीं है। क्रोधका स्वाद क्रोधमय है, मानका स्वाद मानमय है मायाका स्वाद मायामय है लोभका स्वाद लोभमय है। मैं इस भेदविज्ञानसे अपने ही स्वादका भेद पाकर परस्वादोंसे विरागी होजाता हूं और निश्चल रहकर एक अपनी ही शुद्ध वस्तुका निराकुल स्वाद लेता हूं। यही मेरा अनुभव मोक्षमार्ग है। इसी अनुभवमें मैं सदा तल्लीन रहूं, यही मेरी भावना है।

३१-प्रिय आत्मानुभूति।

एक ज्ञानी आत्मा जब एकांतमें बैठकर विचार करता है तो इसको पता चलता है कि मैं एक ऐसे भारी अज्ञानके मार्गमें प्राप्त हूं कि मुझे मेरा स्वरूप बिलकुल अनभिज्ञसा होरहा है। जब कभी जिसपर भी दृष्टिपात करता हूं उधर ही मुझे अनात्माका ही दर्शन होता है। आत्माके पवित्र मुखका दर्शन होना अतिशय कठिन होगया है। भेदविज्ञान ही एक ऐसा उपाय है कि जिससे अनेकोंके भीतर गुप्त पड़ी हुई किसी चीजको अलग करके जान लिया जाता है।

एक न्यारिया सुनारका मनों राखके भीतरसे सुवर्णकी कणिकाओंको भेदविज्ञानके प्रतापसे ढूंढ़ निकालता है। एक जौहरी रत्न पाषाणोंके भीतर बहुमूल्य रत्न बनने योग्य पाषाणको भेदविज्ञानसे छांट लेता है। एक धातुका व्यापारी अनेक धातुओंके भीतरसे

इच्छित सुवर्ण या रजत धातुको भेदविज्ञानसे ही छांट लेता है। एक शाकभाजी व फलका खरीददार सुन्दर व स्वादिष्ट फलोंकी छटनी एक बड़े ढेरमेंसे भेदविज्ञानके प्रतापसे ही कर लेता है। इसी तरह तत्वज्ञानी आत्माका सच्चा स्वरूप भेदविज्ञानसे पालेता है। आत्मा आत्मारूप है, पर संयोगजनित भावोंसे शून्य है। इसलिये मैं आत्मा ही हूं, इसीको चाहे परमात्मा कहा जावे। परमात्मा और आत्मा एक समान स्वभाववाले हैं ऐसा ज्ञान भेदविज्ञानसे पाकर इस तत्व ज्ञानीको यह उपादेय बुद्धि होती है कि अपना ही पद सर्वथा हितकारी है, इसलिये प्रथम तो वह निजस्वरूपका प्रेमालु होता है फिर अपनी शक्तिको परमें रमन करनेसे रोकता है और बार बार निज आत्मशक्तिके मननमें उसे तल्लीन करता है। चिरकालके अभ्याससे उसकी परणति निजमें ठहरने लगती है, तब आत्मानुभूतिका झलकाव होता है। तब यह इस परमप्यारी आत्मानुभूतिका ऐसा रसिक हो जाता है कि इसे हरसमय यही प्यारी लगती है। यह फिर सिवाय आत्मदर्शनके और किसीका दर्शन ही नहीं करना चाहता है। यदि दृष्टिमें अन्य पदार्थ आता भी है तो यह झटसे दृष्टि फेर लेता है। इस तरह निजात्माका दर्शन करता हुआ जो परमानन्दपूर्ण सन्तोष पाता है उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं किया जासक्ता है।

३२—अपूर्व रसायन।

ज्ञातादृष्टा आनन्दमई एक परमात्म प्रभु कर्मबंधके फलमें नाता जोड़े हुए अपने स्वरूपको भूल रहा है। आप परम शांत

इसी तरह जब व्यवहारकी अभूतार्थ दृष्टिसे देखा जाता है तो नारकी व पशु नीच दिखते है, देव ऊँच दिखते है। मानवोंमें दीन दु खी मजूर नीच सेवा करनेवाले सब नीच दिखते है। व व्यापार आदि करनेवाले मानव ऊँच दिखते है। इस प्रकारकी दृष्टि राग द्वेष बढ़ाती है। देवोंसे व मानवोंसे राग पैदा करती है। नीच मानवोंसे व पशुओंसे द्वेषभाव जगा देती है।

भेदविज्ञानके प्रतापसे जब व्यवहार दृष्टिको बंद करके निश्चय दृष्टिसे देखनेका अभ्यास किया जाता है तब नीच ऊँच छोटे बड़े आदिका दृश्य सब निकल जाता है और हरएक सचेतन प्राणी समान रूप ही दिखता है। उनमें कोई भी भेद भाव नहीं मालूम पड़ता है।

निश्चय दृष्टिके प्रतापसे सर्व राग द्वेष काफूरकी तरह उड़ जाता है। साम्यभावका परम शांत जलका प्रवाह ऐसा आश्चर्यकारक बहने लगता है जिससे मानवके दिलमेंसे सर्व कलुषता मिट जाती है। क्रोधादि कषायोंकी कालिमा नहीं दिखती है। न इन्द्रिय विषयोंकी वासना सताती है। परमानंदका चमत्कार छाजाता है।

मोक्षमार्ग वास्तवमें एक साम्यभाव है या राग द्वेष मोहरहित आत्माका शुद्ध परिणाम है। जो ज्ञानी इस जीवनको सुखदाई बनाना चाहते है वे इस मोक्षमार्गपर अवश्य चलते हैं। भेदविज्ञान ही वह परम मित्र है जो अनादिकालके भ्रमभावको दूर कर देता है। सत्य सत्य स्वरूप झलका देता है। एक तत्वज्ञानी इसीलिये भेदविज्ञानकी शरण लेता हुआ अपने आत्माको परमात्माके समान

ज्ञाता दृष्टा मानन्दमई देखता है। और इसी दृष्टिमें एकाग्रता प्राप्त करता है। यही स्वात्मसमाधि है। जो योगीश्वरोंको प्यारी है। जो कर्मबन्धनके काटनेको तीक्ष्ण आरी है। जो मोक्ष महलमें पहुंचनेको अमल व निश्चल श्रेणी है। धन्य हैं वे महात्मा जो इस श्रेणीका आरोहण करके परम सुखका लाभ प्राप्त हुए संतोषी रहते हैं।

३४-समयसार।

एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपने भीतर परमात्माका दर्शन जिस भेद विज्ञानके प्रतापसे करता है, उसकी महिमा अपार है। वही एक सूक्ष्म दृष्टि है जो हरएक द्रव्यको भिन्न २ देखती है। धन्य हैं वे महात्मा जो इस अपूर्व दृष्टिको पाकर मलिन दृष्टिके विकारसे छूट जाते हैं।

इस भेद विज्ञानकी दृष्टिवालेको संसारका नाटक नाटकवत् प्रतीत होता है। न वहां किसी परिणमनमें हर्ष है न किसी परिणमनमें विषाद है। न वहां सांसारिक दुःख है न सुख है। न वहां परमें अहंकार है न परमें ममकार है। समतामई सरल दृष्टिका प्रकाश इस भेद विज्ञानीको परमात्माके समान निर्विकार व ज्ञाताद्रष्टा बनाए रखता है। क्रोध, मान, माया, लोभके भयानक आक्रमणसे यह दूर रहता है।

इस भेद विज्ञानकी प्राप्तिका उपाय छः द्रव्योंके गुण व पर्यायोंका ज्ञान है। हरएक द्रव्य अन्य द्रव्यसे बिलकुल भिन्न है, निश्चय दृष्टि हरएकको अपने ही स्वभावमें देखती है। तब जितने पुद्गल हैं सब परमाणु रूप दिखते हैं। औदारिक, वैक्रियिक,

आहारक, तैजस, कार्माण शरीरोंके भेद, नाना प्रकार भूमियोंके ढेर, पर्वत वन, आदि नाना प्रकार सरोवर, नदी समुद्र आदि, नाना प्रकार अग्निके प्रकार, नाना प्रकार वायुके भेद नाना प्रकार साधारण तथा प्रत्येक वनस्पतिके दृश्य, नाना प्रकार त्रसादिक शरीर, सूर्य व चन्द्रमा, नक्षत्र ग्रह व तारोंके विमान, मेघ आदि इन सब पर्यायोंका, इन सब दृश्योंका पता ही नहीं लगता है। धन्य है यह निश्चयदृष्टि जिसमें सर्व ही पुद्गल परमाणुरूप अपने स्वभावमें दीखते हैं। राग द्वेषके कारण सुन्दर व असुन्दर स्कंधोंका कहीं पता नहीं चलता है। इस निश्चय दृष्टिसे सर्व असंख्यात कालाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाश अपने स्वभावमें मगन ही झलकते हैं। जितने जीव हैं भले ही व्यवहारमें उनको स्थावर व त्रस देखा जावे, संसारी और सिद्ध माना जावे, भव्य तथा अभव्यमें गिना जावे परन्तु निश्चयसे वे सब शुद्ध एकाकार परमात्मा रूप ही दिखते हैं। यह ज्ञानी इसी दृष्टिसे देखकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता रूप परम साम्यभाव रूपी स्वसमयमें या समयसारमें या स्वानुभवमें या ज्ञानचेतनामें तन्मय होजाता है और जिस अद्भुत आनंदामृतका पान करता है उसका कथन वचनोंसे बाहर है।

३९–नैष्कर्म्यभाव।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पको त्यागकर जब देखने लगता है तब उसको सिवाय अपने शुद्ध स्वरूपके और कुछ नजर नहीं आता है। उसके भीतर भेद विज्ञानकी दृष्टि जागृत होजाती

है। दृष्टिके प्रभावसे आत्म और परका भिन्न २ स्वरूप जैसाका तैसा दिख जाता है।

भेद विज्ञानका गुण गान करना वचनसे बाहर है। सम्यक् दृष्टि मात्रके भीतर यह दृष्टि सदा जागृत रहती है। इसीके प्रतापसे पर्याय दृष्टिका मोह मिट जाता है, द्रव्यार्थिक दृष्टिका वैराग्यभाव जागृत होजाता है।

इस भेद विज्ञानकी दृष्टिके उत्पन्न करनेका उपाय तत्वोंका सूक्ष्मदृष्टिसे अभ्यास है। अभ्यासके साथ २ श्रद्धा व विवेककी आवश्यक्ता है। श्रद्धा व विवेक बार बार मननकेद्वारा उत्पन्न होता है। जैसे कृषकका बालक धान्यमें चावल और तुषको भिन्न २ देखते हुए दोनोंके भेद विज्ञानको पालेता है। जौहरीका शिष्य नाना प्रकारके रत्नोंको देखते हुए दीर्घकालके अभ्याससे उन सबके भिन्न २ गुण दोषका ज्ञाता होजाता है। भेद विज्ञानकी दृढ़ता ही जगतके दृश्यके कारण मूल पदार्थोंको भिन्न २ झलकाती रहती है। राग, द्वेष, मोह संसारके बीज हैं। इनकी उत्पत्ति मोहनीय कर्मके उदयसे होती है। मोहनीय कर्म कामाण पौद्गलिक वर्गणाओंका परिणमन है। यही ज्ञान आत्माको आत्मारूप दिखलाता है। आत्मा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चारित्र सम्यक्त आदि गुणोंकी अपेक्षा पुद्गलसे बिलकुल भिन्न है। यही ज्ञान, यही श्रद्धान, यही अनुभव मोक्षमार्ग है। इसहीको आत्मध्यान कहते हैं। संत पुरुष निरंतर आत्मा ध्यानकी धूनी रमाते है। और आत्माको निर्मल करते हुए चले जाते हैं। आत्माकी निर्मलता हरएक विज्ञ प्राणीका ध्येय रहना

चाहिये जिससे यह किसी समय अपने शुद्ध स्वभावमें सदाके लिये थिर होजाय, परमात्मपदका इसको लाभ होजावे ।

भद विज्ञानक प्रतापसे ही मैं सदा निजानदका विलास करता हू । मुझे इन्द्रियजनित सुखके विकार विकारी नहीं बनाते है । ज्ञानीको न रोगसे प्रेम है न रोगके इलाजसे प्रेम है । वह अपने निरोगपनेकी सदा भावना भाता है । यही भावना अनतकालके लिये निरोग कर देती है । मैं इसीलिये सर्व प्रपच जालोंसे मुह मोडकर एक अपने ही अद्वितीय ज्ञान स्वरूपी आत्माके उपवनमें ही रमन करता हू जहा पुण्य भावके आक्रमण नहीं होते है, और यह आत्मा नैष्कर्म्यभावमें सदा जागृत रहता है ।

३७–सिद्धोंका क्रीड़ावन ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपचजालोंसे निवृत्त होकर जब अत रगमें विचारता है तब उसे पता चलता है कि यह जगत जड़ चेतनका समुदाय है । भद विज्ञान जड़को जड़ व चेतनको चेतन देखता है । यह एक उपवनमें प्रवेश करता है । वहापर नीम, पीपल, बरगद सहतूत, बेल, कैथा, अमरूद, अनार सेव, नासपाती, अँगूर, खजूर, कमरख, केला, सतरा, गुलाब, बेला, चमेली, जुही आदि अनेक वृक्षोंकी शोभा देखकर रजायमान होता है । कभी सरोवरके निकट मन्द सुगध पवनका विलास करता है । कभी नाना प्रकारके रमणीक बागोंकी पक्तियोंको देखता है जो उस बागमें बनी हुई हैं । बागके भाग व बागकी क्यारियां आखोंको रमणीक भास रही हैं । इस सब रचनाके उपादान अर्थात् मूल कारणपर

जब दृष्टिपात करता है तब विदित होता है कि इन सब सचेतन वृक्षोंके भीतर जाननेवाला आत्मा अलग है और शरीरादिकी रचना करनेवाले पुद्गल अलग हैं। जीवोंका भी जब स्वरूप विचारता है तब उनके एकेन्द्रियादि नामकर्मका उदय है। रागद्वेष, मोहकी कालिमा है। यह सब भी पौद्गलिक कर्मका विकार है। इन विकारोंसे रहित जब देखा जाता है तब यही दिखता है कि सर्व ही जीव समान प्रदेशवाले, निर्विकार, शुद्ध व परमशांतिमय हैं।

जब अपने आत्माकी तरफ देखता है तब उसे भी अन्य आत्माओंके समान पाता है। इसी तरह जगतके अनेकानेक सयोगके भीतर आत्मा आत्मारूप पुद्गल पुद्गलरूप दीखता है। भेद-विज्ञानकी दृष्टिमें वृक्ष, पशु, मनुष्य, देव, नारकी सब ही जीव एक समान दीखते हैं। अनात्मासे दृष्टि फेरते हुए मात्र आत्मद्रव्यको अवलोकन करते हुए सर्व ही आत्माओंकी सदृशता जब दिखाई पड़ती है तब सर्व ही समुदाय एक ज्ञानसागररूप बन जाता है।

यह ज्ञानी इस ज्ञानसागरमें रमण करता हुआ परम साम्य भावरूपी जलसे अपने मलको धोता है और बारबार इसीमें रमण करता हुआ एक अद्भुत परमानन्दका स्वाद पाता है।

स्वस्वरूपका स्वाद वेदन ही मोक्षपथ है। इसीमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकताका झलकाव है। यही ध्यानकी अग्नि है जो कर्मोंको दग्ध करती है। यही शुद्ध पारिणामिक भाव है। यही सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान है। यही आठवेंसे आगेतक शुक्लध्यान है। यही स्वानुभवरूप अविरत सम्यक्ती, श्रावक, प्रमत्त,

जो बिजलीकी शक्ति रखता है। पुद्गलोंमें ही मनुष्य व तिर्यंचोंका औदारिक शरीर व देव व नारकियोंका वैक्रियिक शरीर बनता है व ऋद्धिधारी मुनियोंके आहारक शरीर बनता है। पुद्गलोंसे ही भाषा बनती है, पुद्गलोंमे ही आठ पांखडीका कमलाकार द्रव्य मन बनता है। पुद्गल मूर्तिक है, मैं आत्मा अमूर्तिक हूं। पुद्गल ज्ञान रहित है, मैं ज्ञान सहित हूं। पुद्गल पूरण गलन स्वभाव है मैं अखण्ड हूं। पुद्गल जीवके साथ मिलकर विकारी भावोंका कारण है। मैं स्वयं निर्विकारी हूं न किसीमें विकार पैदा करनेका स्वभाव रखता हूं। यद्यपि आकाशके आधारसे मैं रहता हूं तथापि आकाश जड़ अचेतन है। मैं सदा चेतन हूं। मेरी सत्ता सर्व आत्माओंसे निराली है, यद्यपि मेरा स्वभाव सर्व आत्माओंके बराबर है। जब मूल द्रव्य, पुद्गल, धर्म अधर्म काल आकाश भी मेरे नहीं है तब स्त्री, पुत्र, मित्र मकान, मंदिर, वस्त्र, आभूषण, रुपया, पैसा मेरा कैसे होसक्ता है? मैं सबसे निराला हूं। सब मुझसे निराले हैं। मैं एकाकी हूं। मेरा कोई शरण नहीं है। मैं केवल हूं। मुझे किसीका सहायका जरूरत नहीं है। मैं परम सुखी स्वभावसे ही हूं। मुझे सुख भोगनेके लिये पांच इन्द्रियोंके विषयोंके भोगनेकी जरूरत नहीं है।

इसतरह अपने स्वभावको सम्हालते हुए मैं परमात्मासे किसी भी तरह कम नहीं हूं अतएव मैं सर्व संकल्प विकल्प त्याग करके मन वचन कायकी गुप्तिसे अपने ही अंतरंग गुणोंमें प्रवेश करके कभी आत्मा व उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र सुख, वीर्य, सम्यक्त आदि गुणोंकी भावना भाता हूं। कभी भावनाओंको भी त्याग करके आपमें

आपी तन्मय होजाता हू । तब स्वरूप समाधिको प्राप्त कर जो अकथनीय आनन्द पाता हू, उसका कथन किसी तरह नहीं होसक्ता । वह तो आप आपके ही गोचर है ।

३९–ज्ञानमय गंगा ।

एक ज्ञानी महात्मा अपने पास मिश्रित जगतको देखकर जब भेदविज्ञानकी दृष्टि फैलाता है तब जितने द्रव्योंसे यह जगत बना है वे सब द्रव्य भिन्न २ ही दिखलाई पडते है । कोईकी सत्ता किसीसे मिलती नहीं है । सर्व ही द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पृथक् पृथक् हैं । एकमें दूसरेका नास्तित्व है, अपनेमें अपना ही अस्तित्व है । हरएक द्रव्य अस्तित्व नास्ति स्वरूप या भावाभावरूप है । एक जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव दूसरे जीवके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे भिन्न है । एक पुद्गलके परमाणुका द्रव्य क्षेत्र, काल भाव अन्य परमाणुके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे भिन्न है ।

भेदविज्ञानके प्रतापसे एकत्व भावनाको भाता है, तब अपनेको एक अकेला ज्ञानावरणादि कर्म रहित, रागादि भाव कर्म रहित व शरीरादि नोकर्म रहित देखता है जहा व्यवहार नयसे या भेद विवक्षासे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त आदिक भेद है, परन्तु निश्चयनयसे या अभेद विवक्षासे कोई भेद नहीं है वहा यही विचार है कि मै अखंड चिंतिंड ज्ञान काण्ड स्वानुभव गम्य ही हू ।

इसतरह अपने एकत्वको पाकर यही ज्ञानी ज्ञानस्वरूपी गंगा नदीमें वारवार स्नान करता हुआ अपने आप जो आनन्दामृतका स्वाद पाता है उसका वर्णन किसीतरह हो नहीं सकता ।

जो बिजलीकी शक्ति रखता है। पुद्गलोंमे ही मनुष्य व तिर्यंचोंका औदारिक शरीर व देव व नारकियोंका वैक्रियिक शरीर बनता है व ऋद्धिधारी मुनियोंके आहारक शरीर बनता है। पुद्गलोंसे ही भाषा बनती है, पुद्गलोंमे ही आठ पांखड़ीका कमलाकार द्रव्य मन बनता है। पुद्गल मूर्तिक है, मैं आत्मा अमूर्तिक हू। पुद्गल ज्ञान रहित है मैं ज्ञान सहित हू। पुद्गल पूरण गलन स्वभाव है मैं अखण्ड हू। पुद्गल कर्म जीवके साथ मिलकर विकारी भावोंका कारण है। मैं स्वयं निर्विकारी हू न किसीमें विकार पैदा करनेका स्वभाव रखता हू। यद्यपि आकाशके आधारसे मैं रहता हू तथापि आकाश जड़ अचेतन है। मैं सदा चेतन हू। मेरी सत्ता सर्व आत्माओंसे निराली है, यद्यपि मेरा स्वभाव सर्व आत्माओंके बराबर है। जब मूल द्रव्य, पुद्गल, धर्म अधर्म, काल आकाश भी मेरे नहीं है तब स्त्री, पुत्र, मित्र मकान, मन्दिर, वस्त्र, आभूषण, रुपया, पैसा मेरा कैसे होसक्ता है? मैं सबसे निराला हू। सब मुझसे निराले हैं। मैं एकाकी हू। मेरा कोई शरण नहीं है। मैं केवल हू। मुझे किसीकी सहायताकी जरूरत नहीं है। मैं परम सुखी स्वभावसे ही हू। मुझे सुख भोगनेके लिये पांच इन्द्रियोंके विषयोंके भोगनेकी जरूरत नहीं है।

इसतरह अपने स्वभावको सम्हालते हुए मैं परमात्मासे किसी भी तरह कम नहीं हू अतएव मैं सर्व संकल्प विकल्प त्याग करके मन वचन कायकी गुप्तिसे अपने ही अंतरंग गुणोंमें प्रवेश करके कभी आत्मा व उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र सुख, वीर्य, सम्यक्त आदि गुणोंकी भावना भाता हू। कभी भावनाओंको भी त्याग करके आपमें

आपी तन्मय होजाता है। तब स्वरूप समाधिको प्राप्त कर जो अकथनीय आनन्द पाता है, उसका कथन किसी तरह नहीं होसक्ता। वह तो आप आपके ही गोचर है।

३९–ज्ञानमय गंगा।

एक ज्ञानी महात्मा अपने पास मिश्रित जगतको देखकर जब भेदविज्ञानकी दृष्टि फैलाता है तब जितने द्रव्योंसे यह जगत बना है व [illegible] द्रव्य भिन्न २ ही दिखलाई पडते हैं। कोईकी सत्ता किसीसे मिली नहीं है। सर्व ही द्रव्य अपने द्रव्य क्षेत्र, काल, भावसे पृथक् पृथक् हैं। एकमें दूसरेका नास्तित्व है, अपनेमें अपना ही अस्तित्व है। हरएक द्रव्य अस्तित्व नास्ति स्वरूप या भावाभावरूप है। एक जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव दूसरे जीवके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे भिन्न है। एक पुद्गलके परमाणुका द्रव्य क्षेत्र, काल भाव अन्य परमाणुके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे भिन्न है।

भेदविज्ञानके प्रतापसे एकत्व भावनाको भाता है, तब अपनेको एक अकेला ज्ञानावरणादि कर्म रहित, रागादि भाव कर्म रहित व शरीरादि नोकर्म रहित देखता है जहां व्यवहार नयसे या भेद विवक्षासे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त आदिके भेद हैं, परन्तु निश्चयनयसे या अभेद विवक्षासे [illegible] भेद नहीं है वहां यही विचार है कि मैं अखंड निर्विष्ट ज्ञान [illegible] स्वानुभव गम्य ही हूं।

इसतरह अपने एकत्वको पाकर यही ज्ञानी ज्ञानस्वरूपी गंगा नदीमें वारवार स्नान करता हुआ अपने आप जो आनन्दामृतका स्वाद पाता है उसका वर्णन किसीतरह हो नहीं सकता।

रसे बुद्धिमान भी अपने घरको भूल जाता है, कुछका कुछ मानने लगता है, इसीतरह मोह कर्मरूपी पुद्गलके असरसे जगतके प्राणी अपने निज असली स्वरूपको ही बिलकुल भूल गए हैं और जिस भेषमें व जिस पर्यायमें वे खेल करते हैं उसी पर्यायको या भेषको ही अपना रूप मानके न करने योग्य कार्य कररहे हैं ।

आप है तो परभावके अकर्ता व पर भावके अभोक्ता परन्तु अपनेको कर्ता व भोक्ता मानके आकुल व्याकुल होरहे हैं । जो वस्तु छूटनेवाली है उससे ऐसा गाढ़ प्रेम कर रहे हैं मानो कभी छूटेगी ही नहीं । जगतके प्राणी शरीरमें धनमें, कुटुम्ब परिवारमें, मानमें एम लुब्ध है कि रात दिन इन हीके लिये उद्यम करते हैं । कभी भूलकर भी यह विचार नहीं करते ह कि हम असलमें कौन हैं । भेदविज्ञानकी दृष्टिसे विचारते हुए यह साफ ■ फ झलक जाता है कि जगतके प्राणियोंमें आत्मा तो एक बिलकुल जुदा पदार्थ है । इसके साथ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर तथा भाषा व मन जो सब पुद्गलके बने हुए है, रहकर नाना प्रकार खेल खिलाते हैं । आत्माको जब निराला देखा जावे तो वह परमा मावत् ज्ञातादृष्टा निर्विकार आनंदमई परमवीतराग परमानन्दमय एक अविनाशी अखंड पदार्थ है ।

भेदविज्ञानी अपनेको ऐसा निश्चय करके स्वात्मानन्द पानेके लिये अन्य सर्व विकल्पोंसे दूर रहकर अपने आत्माके परम मनोहर गुणरूपी उपवनमें जाता है । गुणोंकी सैर करते करते सुखशांतिकी छायामें जब निद्रा लेता है तब जो आनंद भोगता है वह वचनातीत है ।

४२–सच्ची सामायिक।

परम वीर आत्मा सर्व संकटोंसे हटकर निकटक सारभूत निज आत्मारूपी भूमिमें चलनेके लिये उत्साहित होता हुआ किसी ऐसे परम मित्रकी शरण लेता है जिसके प्रतापसे आत्माका यथार्थ दर्शन होता रहे। वह परम मित्र है–**भेदविज्ञान।**

भेदविज्ञान जल और तेलकी तरह आत्माको रागद्वेषादि भावोंसे, ज्ञानावरणादि कर्मोंसे व शरीरोंसे जुदा दर्शाता है। भेद-विज्ञान जगतभरकी आत्माओंको एकरूप स्वभावमें परमात्माके समान दिखाता है। यह भेदविज्ञानका ही प्रताप है जिससे समताभाव जग जाता है और राग द्वेष मोहका झडा उखड़ जाता है। समता-भाव ही सामायिक शिक्षाव्रत श्रावकोंका है। समताभाव ही श्राव-कोंकी तीसरी प्रतिमाका व्रतभाव है। समताभाव ही प्रमत्तविरत व अप्रमत्त विरत मुनिकी सामायिक है। समताभाव ही अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसापराय गुणस्थानोंका शुद्धोपयोग रूप सामायिक चारित्र और शुक्लध्यान है।

समताभाव ही उपशांत मोह व क्षीण मोहका वीतराग यथा-ख्यात चारित्र और शुक्लध्यान है। समताभाव ही सयोग केवली और अयोग केवलीका परम आभूषण है। समताभाव ही सिद्धोंका आसन है। भेदविज्ञानके उपकारसे ही समताभावका लाभ होता है।

पर्याय दृष्टिमें अनंत भेद है, अनंतरूप है, अनंत भाव है। जहाँपर कषायका संचार है तब कुछ रूप व कुछ भाव शुभ दिखते है। कुछ रूप व कुछ भाव अशुभ दिखते हैं। द्रव्य दृष्टिमें न भेद

न रूप है न भाव है । वहा तो अभेद अखण्ड एक ज्ञायक भाव । ज्ञानी सर्व प्रपंचजालोंसे विरक्त होकर इस एक अखण्ड ज्ञायक भावमें तन्मय होता हुआ, जिस परमानन्दका स्वाद लेता है वह वचन अगोचर केवल अनुभवगम्य है । तथापि सिद्ध सुखका यही प्रकाश है । यही दोयजका चन्द्रमा है जो पूर्णमासीका चन्द्र हो जायगा।

४३—द्रव्य दृष्टि उपादेय ।

एक ज्ञानी विद्वान एकातमें बैठकर नयोंके विचारमें तल्लीन है। जब वह पर्यायार्थिक नयका विचार करता है तब उसको यह जगत नाना रूप भासता है । अनेक वर्णके व अनेक तरहके मानव भिन्न भिन्न अनेक कार्य करते दिखलाई पड़ते हैं । कोई सिपाही है, कोई कृषक है, कोई लेखक है, कोई व्यापारी है, कोई सुनार है, कोई लुहार है, कोइ बढ़ई है कोइ थवई है, कोई दरजी है कोई बर्तन बनानेवाला है, कोई कपड़े बुननेवाला है, कोई धनिक है कोई गरीब है, कोई निरोगी है, कोई रोगी है, कोई बलवान है, कोई निर्बल है, कोई बालक है कोई युवान है, कोई वृद्ध है कोई प्रतिष्ठावान है, कोई दाता है कोई मगता है, कोई स्वरूपवान है कोई कुरूपवान है, कोई स्त्री है कोई पुरुष है, कोइ मर रहा है कोई जन्मा है । इसी तरह पशु समाजमें कोई कुत्ता है कोई बिल्ली है, कोई घोड़ा है कोई गधा है, कोई हाथी है कोइ ऊट है, कोई बैल है कोई गाय है, कोई भैंस है, कोई बकरा है कोइ बकरी है, कोई सूकर है, कोई मृग है, कोई बाघ है, कोई सिंह है, कोई काक है कोई कबूतर है, कोई मोर है कोई तोता है, कोई मैना है, कोई

नाग है, कोई गिलहरी है कोई चूहा है, कोई मक्खी है, कोई भ्रमर है, कोई पिपीलिका है कोई लट है। एकेन्द्रिय समाजमें कोई कठोर पृथ्वी है, कोई नम्र है, कोई बावड़ीका पानी है कोई कूपका व नदीका पानी है, कोई ठंडी वायु है, कोई अग्निरूप है कोई वनस्पतिकायमें नींव है, अगूर है, आम है, अनार है, नासपाती है, अमरूद है, केला है, नारंगी है, सीताफल है, खरबूजा है, ककड़ी है, खीरा है, मटर है चने हैं। आदि २।

जीवोंके भीतर अनेक भेस व बेगिनती पर्यायें सब दीख पड़ती हैं। जिनसे प्रयोजन होता है उनसे राग करता है, जिनसे प्रयोजन नहीं है उनसे द्वेष करता है। पर्यायोंके देखनेसे राग द्वेष मोह होता है। कर्म बंध ही संसारका बीज है। यह ज्ञानी अब इस पर्यायदृष्टिको बंद करके द्रव्यार्थिक नयसे देखता है—शुद्ध निश्चयनयसे देखता है तब भेद विज्ञानरूपी मित्र सामने खड़ा होजाता है। उसके संकेत मात्रसे सर्व ही लोककी आत्माएँ एकाकार शुद्ध सदृश परमात्मा रूप दिखती हैं। बस यकायक राग द्वेष मिट जाता है। यह ज्ञानी इसी समताभावमें तन्मय होता हुआ जो आनंद पाता है वह वचन अगोचर है।

४४–शुद्ध कुन्दन।

आज यह ज्ञानी आत्मा अपने निज धर्मकी सम्हाल करता है तो वहा क्रोधके असख्यात लोकप्रमाण भावोंके भेदोंको पाता है। क्रोधकी कालिमासे मलीन परिणामोंका जब यह अनुभव करता है तब इसे क्रोधका ही मलीन स्वाद आता है। आत्माका निज

हैं न रूप हैं न भाव हैं। वहां तो अभेद अखण्ड एक ज्ञायक भाव है। ज्ञानी सर्व प्रपचजालोंसे विरक्त होकर इस एक अखण्ड ज्ञायक भावमें तन्मय होता हुआ, जिस परमानन्दका स्वाद लेता है वह वचन अगोचर केवल अनुभवगम्य है। तथापि सिद्ध सुखका यही विलास है। यही दोयजका चन्द्रमा है जो पूर्णमासीका च द्र हो जायगा।

४३–द्रव्य दृष्टि उपादेय।

एक ज्ञानी विद्वान एकातमें बैठकर नयोंके विचारमें तल्लीन है। जब वह पर्यायार्थिक नयका विचार करता है तब उसको यह जगत नाना रूप भासता है। अनेक वर्णोंके व अनेक तरहके मानव भिन्न भिन्न अनेक कार्य करते दिखलाई पड़ते हैं। कोई सिपाही है, कोई रक्षक है, कोई लेखक है, कोई व्यापारी है, कोई सुनार है, कोई लुहार है, कोई बढ़ई है कोई थवई है, कोई दरजी है कोई बर्तन बनानेवाला है, कोई कपड़े बुननेवाला है, कोई धनिक है कोई गरीब है, कोई निरोगी है, कोई रोगी है, कोई बलवान है, कोई निर्बल है, कोई बालक है कोई युवान है, कोई वृद्ध है कोई प्रतिष्ठावान है, कोई दाता है कोई मगता है, कोई स्वरूपवान है कोई कुरूपवान है, कोई स्त्री है कोई पुरुष है, कोई मर रहा है कोई जन्मा है। इसी तरह पशु समाजमें कोई कुत्ता है कोई बिल्ली है, कोई घोड़ा है कोई गधा है, कोई हाथी है कोई ऊट है, कोई बैल है कोई गाय है, कोई भैंस है, कोई बकरा है, कोई बकरी है, कोई शूकर है, कोई मृग है, कोई बाघ है, कोई सिंह है, कोई काक है कोई कबुतर है, कोई मोर है कोई तोता है, कोई मैना है, कोई

नाग है, कोई गिल्हरी है कोई चूहा है, कोई मक्खी है, कोई भ्रमर है, कोई पिपीलिका है कोई लट है। एकेन्द्रिय समाजमें कोई कठोर पृथ्वी है, कोई नम्र है, कोई बावड़ीका पानी है कोई कूपका व नदीका पानी है, कोई ठही वायु है, कोई अग्निरूप है कोई वनस्पतिकायमें मेव है, अगूर है, आम है, अनार है, नासपाती है, अमरूद है, केला है, नारंगी है, सीताफल है, खरबूजा है, ककड़ी है, खीरा है, मटर हैं चने है। आदि २।

जीवोंके भीतर अनेक मेल व बेगिनती पर्यायें मन दीख पड़ती हैं। जिनसे प्रयोजन होता है उनसे राग करता है, जिनसे प्रयोजन नहीं है उनसे द्वेष करता है। पर्यायोंके देखनेसे राग द्वेष मोह होता है। कर्म बंध ही संसारका बीज है। यह ज्ञानी अब इस पर्यायदृष्टिको बंद करके द्रव्यार्थिक नयसे देखता है—शुद्ध निश्चयनयसे देखता है तब भेद विज्ञानरूपी मित्र सामने खड़ा होजाता है। उसके संकेत मात्रसे सर्व ही लोककी आत्माएँ एकाकार शुद्ध सदृश परमात्मा रूप दिखती हैं। बस यकायक राग द्वेष मिट जाता है। यह ज्ञानी इसी समताभावमें तन्मय होता हुआ जो आनंद पाता है वह वचन अगोचर है।

४४–शुद्ध कुन्दन।

आज यह ज्ञानी आत्मा अपने निज धर्मकी सम्हाल करता है तो यहां क्रोधके असंख्यात लोकप्रमाण भावोंके भेदोंको पाता है। क्रोधकी कालिमासे मलीन परिणामोंका जब यह अनुभव करता है तब इसे क्रोधका ही मलीन स्वाद आता है। आत्माका निज

स्वाद नहीं आता। जैसे लवणसहित पानी पीनेसे खटाईका स्वाद, शक्कर मिला पानी पीनेसे शक्करका स्वाद, कीच मिला पानी पीनेसे कीचका स्वाद आता है वैसे क्रोधादिक साथ मिश्रित ज्ञानोपयोगका स्वाद क्रोधरूप ही आता है। अब यह शुद्ध आत्मीक स्वाद पानेका प्रेमी होकर मेदविज्ञानरूपी मंत्रके प्रभावसे सर्व क्रोधकी कालिमाको बुद्धिसे दूर फेंक देता है और केवल एक आत्माका ही स्वाद लेता है। इसीतरह मानकी कालिमाको, मायाकी अशुचिताको, लोभके मैलको भीतरसे दूर करता है। तब क्रोध, मान, माया, लोभ रहित एक वीतराग भावके साथ मिश्रित आत्माका स्वाद लेता है। यह स्वाद बड़ा ही शांतिप्रद है। एक दफे जिसको निज शुद्धात्माका वीतराग विज्ञानमय आनन्दका स्वाद आजाता है वह उसी क्षणसे मिथ्यादृष्टिसे सम्यक्दृष्टि होजाता है। वह विषय कषायके सुखका त्यागी व सहज आत्मीक सुखका प्रेमी होजाता है। अब इसका सर्व जीवन आत्मिक सुख लाभके ध्येयपर खड़ा होजाता है। इन्द्रिय सुखका ध्येय नहीं रहता है।

अतींद्रिय आनन्द मेरे ही पास है, अपनेसे ही अपनेको मिल सक्ता है, यह प्रतीति जागृत होजाती है। प्रतीतिके प्रतापसे सम्यग्ज्ञानके प्रकाशमें रहता हुआ यह सम्यक्ती जीव वस्तुको वस्तुरूपसे यथार्थ जानता देखता है। वह जब कभी अपने आत्माकी तरफ दृष्टि डालता है तो उसे परमात्मारूप ही देखता है। उसे कभी भी अपना आत्मा रागी, द्वेषी, मोही, लोभी, कामी, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, बाल, वृद्ध, युवा, रोगी, निरोगी आदि रूप नहीं दीखता

है किन्तु सदा ही स्फटिकके समान व शुद्ध कुन्दनके समान परम शुद्ध वीतराग विज्ञानमय ही दिखता है। इसी आत्माका स्वाद लेते लेते एक अद्भुत परमानन्द जाग्रत होता है जिसका गुणका वर्णन हो नहीं सक्ता।

४८-सत्यका सुगम पथ।

आज एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिंताओंसे रहित हो भेदविज्ञान रूपी दृष्टिसे अपने भीतर देखता है तो वहां कभी क्षमा, कभी क्रोध, कभी मार्दव, कभी मान, कभी सरलता, कभी माया, कभी संतोष, कभी लोभ, कभी सत्य कभी असत्य, कभी संयम, कभी असंयम, कभी तप कभी इच्छा, कभी त्याग कभी ग्रहण, कभी निर्ममता, कभी ममता कभी ब्रह्मचर्य, कभी अब्रह्म इन विरोधी स्वभावोंको देखकर आश्चर्यमें पड़ जाता है। फिर ज्यों ही वस्तुके स्वरूपका विचार करता है त्यों ही पता चलता है कि मेरे भीतर दो भिन्न२ द्रव्य हैं, एक आत्मा दूसरा पुद्गल। दो द्रव्योंके बिना ऐसा विरोधभाव नहीं मालूम होसक्ता है। आत्माके गुण क्षमा आदि हैं कर्म पुद्गलोंके विकार क्रोधादि हैं। जैसे कहीं पानीमें इतना कम रंग मिला हो कि उस पानीके बहते हुए कहीं तो निर्मलता दीखे, कहींपर रंग दीखे तो बुद्धिमानको तुरत यह विचार होजाता है कि निर्मलता पानीकी है, रंग पानीका नहीं है, किंतु किसी रंगीन मिट्टीका है। भेदविज्ञानके प्रतापसे यह जान लेता है कि मेरे आत्माका स्वभाव परमनिर्मल, ज्ञानमय, दर्शनमय, चारित्रमय, आनन्दमय, वीर्यमय, निर्विकार, अमूर्तीक, अविनाशी है। इस स्वभावके सिवाय जितना कुछ भी शुभ

भाव है या अशुभ भाव है व पाप पुण्यका सम्बन्ध है सो सब पुद्गलका है आत्माका नहीं ।

इस भेदविज्ञानके प्रतापसे जो श्रद्धान व ज्ञानपूर्वक आत्माके स्वभावमें तल्लीन होता है वही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई मोक्षका मार्ग होजाता है ।

इसी मार्गको स्वात्मानुभव कहते हैं स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं । सत्यका सुगम पथ है । भेदविज्ञानी सर्व ज्ञानावरणादि कर्मसे, रागादि भाव कर्मसे, शरीरादि नोकर्मसे नाता तोड़-संसारके प्रपंचसे मुहमोड़-आध्यात्मीक भावसे नाता जोड़, स्वात्माराममें प्रवेश करता है तो वहां सर्व प्रकारसे पूर्ण आत्माका दर्शन करके परम तृप्त होजाता है । यह स्वानुभव अयवत हो जो हमारे जीवनका सार है ।

४६-ज्ञानी महामच्छ ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित होकर भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखता हुआ जगतभरमें उत्तम क्षमा व रत्नत्रय धर्मका साम्राज्य देखता है और देख देखकर परम साम्य भावमें तन्मय होजाता है । इस विश्वलोकमें कोई स्थान या प्रदेश ऐसा नहीं है जहांपर जीव द्रव्य न हो। सूक्ष्म एकेंद्रिय स्थावर तो सर्वत्र व्यापक है, बादर आधारमें है तब भी बहुत स्थानोंपर है। एक भी लोकाकाशका प्रदेश जीवके आकारसे व्याप्त न हो ऐसा नहीं है । इन सर्व जीवोंके साथ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तैजस, कार्माण इन पांच प्रकार शरीरोंका सम्बन्ध है। कार्माण शरीर आठ कर्मरूप है। उनमें बंध प्राप्त

कार्माण वर्गणाओंमें ऐसी कुछ शक्ति है जिससे वे जीवके भावोंमें कलुशता पैदा कर देते हैं तब जीव पापभाव या पुण्यभावमें, मंद कषायमें, तीव्र कषायमें वर्तते है।

कभी हिंसा करते, कभी दया पालते, कभी असत्य कहते, कभी सत्य बोलते कभी चोरी करते, कभी ईमानदारीसे व्यवहार करते, कभी व्यभिचार करते, कभी शीलव्रतको पालते, कभी अति-तृष्णा करते, कभी सन्तोष धारते, कभी परकी हानि करते, कभी परका उपकार करते, कभी आरम्भ करते, कभी पूजापाठ करते, कभी कुकथाको पढ़ते, कभी सुकथाको पढ़त, कभी शृंगार नाटक देखते, कभी धर्ममन्दिर तीर्थस्थानोंको देखते, कभी विषय सेवनार्थ गमन करते, कभी साधु व तीर्थ दर्शनार्थ गमन करते, इस तरह विचित्र अशुभ व शुभ कार्योंको मन, वचन, कायसे करते दिखलाई पड़ते हैं। सच पूछो तो यह मोहनीय कर्मका प्रभाव है। उसके मदमें उन्मत्त हुए ये सब संसारी जीव शुभ व अशुभ चेष्टाएं कर रहे हैं। भेदविज्ञानकी दृष्टिसे जब ज्ञानी जीव इन सब जीवोंको मोह रहित, कर्म रहित, शरीर रहित देखता है तो वे सर्व ही जीव शुद्ध निर्वि-कार आनंदमय ज्ञातादृष्टा दिखलाई पड़ते हैं। सर्व ही आत्माओंमें उत्तम क्षमा वास कर रही है। उत्तम मार्दव कल्लोल कर रहा है। उत्तम आर्जवका वास है। उत्तम सत्यका झलकाव है। उत्तम शौचकी पवित्रता है, उत्तम संयमकी छटा है। उत्तम तपकी तृप्ति है। उत्तम त्यागकी उदारता है। उत्तम आकिंचन्य धर्मकी वीतरागता है। उत्तम ब्रह्मचर्यकी शीतलता है।

सर्व ही आत्माओंमें सम्यग्दर्शनका तेज है। सम्यग्ज्ञानका प्रकाश है। सम्यक्चारित्रकी अमृतधारा है। सर्व ही चन्द्रमावत् परम शांत आत्मानन्द सुधाको वर्षा रहे हैं। जगतव्यापी आत्माओंमें एकसा गुण एकसा स्वभाव, एकसा धर्म देखकर यह ज्ञानी जीव रागद्वेषकी कालिमाके प्रकाशके कारणको न पाकर जैसे आधार विना अग्नि बुझ जाती है वैसे ही सर्व रागद्वेषके भावको शांतकर परम वीतरागता पूर्ण, परम धैर्यभावसे गभीर, परम वीतरागके साथ तिष्ठे हुए आत्मानुभवके समुद्रमें स्नान करता है। तथा महामच्छके समान उसहीका जल पीता है, उसीमें अपना जीवन मानके परम तृप्तिको पाकर परम सुखी रहता है।

४७—आठकर्म नाटक।

एक भेदविज्ञानी महापुरुष इस जगतमें जीवाजीवादि पदार्थोंके समूहको द्रव्य व पर्यायकी दृष्टिसे यथावत् देखकर परम संतोष भावमें लीन है। वह जानता है कि संसार एक नाटक है। मैं उसका मात्र दृष्टा हूं। आठ कर्मोंका संयोग नाना प्रकारके भेष बनाते हैं। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे बहुतसा ज्ञान ढका रहता है। जितना उसका क्षयोपशम होता है उतना ही ज्ञान प्रगट रहता है। उस प्रगट ज्ञानके अनन्त भेद हैं। एक लब्ध्यपर्याप्तक निगोदजीवको सबसे कम ज्ञान है। उससे अधिक २ होता रहता है। जब ज्ञानावरणका सर्व उदय मिट जाता है, तब केवलज्ञानीको पूर्ण ज्ञान होजाता है। दर्शनावरण कर्मके उदयसे बहुतसा दर्शन गुण ढका रहता है। जितना उसका क्षयोपशम होता है उतना दर्शन गुण प्रगट होता है।

यह दर्शन गुण एकेन्द्रियमें बहुत अल्प है सो ही बढ़ते२ दर्शनावरण कर्मके सर्वथा क्षयसे केवलज्ञानीके अनन्त दर्शन या पूर्ण दर्शन प्रगट होजाता है। मोहनीय कर्मके उदयसे नानाप्रकार एकान्त, विपरीत, संशय अज्ञान तथा विनय मिथ्यात्व भावके धारी प्राणी मिलते हैं।

अनंतानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन सोलह कषाय और हास्यादि नौ नोकषायके तीव्र मंद, मंदतर आदि उदयके कारण नानाप्रकार राग द्वेष भावोंके धारी, नानाप्रकार कामविकारके धारी तथा नानाप्रकारके अशुभ भावोंके व नानाप्रकार अन्य भावोंके धारी रूप जगतमें दिख रहे हैं। कोई परोपकार करता है तो कोइ हानि पहुंचाता है, कोई रक्षा करता है, तो कोई संहार करता है, कोई सत्य वचन बोलता है, तो कोई असत्य बोलता है, कोई नीतिसे लेता देता है, कोई चोरी करता है, कोई सन्तोषसे धन कमाता है, कोई अति तृष्णा रखता है। जगतमें मोहनीय कर्मके विपाकमें अनन्तानन्त जीवोंके भावोंमें बड़ी ही विचित्रता देखनेमें आरही है। अन्तराय कर्मके उदयसे आत्मबल प्रगट नहीं है। जितना उसका क्षयोपशम है उतना आत्मबल एकेंद्रिय साधारण निगोदमें प्रगट है। वही अधिक२ प्रकाशित होता हुआ केवलीके सर्वांश प्रगट है। आयु कर्मके उदयसे शरीरमें जीव कैद रहता है। नाम कर्मके उदयसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पतिके व द्वेंद्रियादि त्रसोंके, पशु तिर्यंचोंके देव नारकादिकोंके, मानवोंके, नानाप्रकारके, सुहावने, असुहावने, छोटे, बड़े, भारी, लघु शरीर बनते हैं। बाहरी दिखनेवाले सम्पूर्ण शरीरके आकार नामकर्मके ही उदयसे चले हुए हैं।

९०-आत्मभानु आराधन।

एक भेदविज्ञानी महात्मा अपने घरमें अँधकार देखकर भ्रम भेमें आजाता है। सूर्यके होते हुए अंधेरा होना क्या आश्चर्यकी बात नहीं है? परन्तु जब अंधेरा होता है तो सूर्यके ऊपर आए हुए मेघोंका दोष है-सूर्यका अपराध नहीं है इसीतरह भीतर मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म, अन्तराय कर्मका उदय ही अंधकारके फैलानेका जिम्मेदार है। आत्मप्रभुमें बिलकुल अंधकार नहीं है। आत्मप्रभु तो सूर्यके समान परम वीतरागी व ज्ञानमें प्रकाशमान है। इस कर्मके आवरणके हटानेका उपाय भेदविज्ञान द्वारा आत्मारूपी सूर्यका आराधन है। यही सूर्यपूजा है, यही सूर्यपूजा सूर्यको प्रकाश करनेवाली है और कर्म मेघ पटलोंको हटानेवाली है। शुद्ध निश्चयनय वह दृष्टि है जो शुद्धात्माको सिद्ध भगवानके समान दिखाती है। इस दृष्टिसे देखते हुए आत्मामें न आठ कर्म हैं न शरीरादि नोकर्म है न रागादि भाव कर्म हैं, न मनका विकल्प है, न इन्द्रियजन्य ज्ञान है, न वचनका विलास है, न कायकी क्रिया है, न कोई संसारकी अशुभ क्रिया है न शुभ क्रिया है, न कोई दुष्ट है न कोइ सुन्दर है। न कोई शुभाचार है न कोई अशुभाचार है, न वहा श्रावकके अणुव्रत है न साधुके महाव्रत है न वहा गुण स्थानकी श्रेणिया है। न वहा पूज्य है न कोइ पूजक है, न वहा स्वामी है न कोइ सेवक है। मैं मात्र अनुभवगोचर एक अखड द्रव्य हूं। मेरा कोई सम्बन्ध जगतकी किसी भी शुभ अशुभ क्रियासे नहीं है। मैं व्यवहार धर्मसे अतीत हूं। न मुझे कर्मोंका आस्रव है न

कर्मोका बन्ध है न कोई संवर व निर्जरा तत्वका विकल्प है न मोक्षका उद्देश है, न वहां मोक्षमार्गका कोई संकल्प है। मेरा आत्म सूर्य एक निराला ही पदार्थ है। जो कोई सर्व अन्यसे पराङ्मुख होकर इस एक आत्मसूर्यको स्वानुभव रूप अर्घ चढ़ाता है, इसीको सच्चे भावसे श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, वही कर्मवैरियोंको हटाता जाता है। ज्यों२ भक्ति की जाती है त्यों२ मयाडम्बर हटता है। भक्तिकी पराकाष्ठा वहीं है जहां कभी भी अद्वैतानुभवसे पीछा न पलटे। अखंड अद्वैतानुभव सर्व मयाडम्बरको भगा देता है और आत्मभानुको यथार्थ रूपमें प्रकाश कर देता है।

आत्मभानुको पाना ही भेदविज्ञानका फल है। ज्ञाता प्रवीण पुरुष भेदविज्ञानके अद्भुत मंत्रके प्रभावसे जगतमें रहता हुआ भी जगतसे उदास है। वह निरंतर निजात्मारूपी सूर्यका भक्त होता हुआ सर्व अन्य विकल्पोंसे बुद्धि हटाकर अपने ही शुद्ध स्वरूपमें तन्मय होता है, उसीका स्वाद लेता है परमानन्दको पाता है। परम तृप्तिको पाकर जिस अवस्थाको पहुंचता है वह वचन अगोचर है, मन अगोचर है केवल ज्ञानीके ही स्वानुभव गोचर है।



स्वानुभव ।-

१—एकांत मिथ्यात्वनिषेध।

मोनका द्वार स्वानुभव है, क्योंकि मोक्ष भी स्वानुभव है। जैसा साधन होता है वैसा साध्य होता है। स्वानुभवका मूल भेदविज्ञान है, जैसे दूधके बिलोनेसे मक्खन निकलता है वैसे भेदविज्ञानके अभ्याससे स्वानुभव उत्पन्न होता है। स्वात्मानुभव स्वालम्बन है। पराकम्बनका घातक है। स्वानुभव सुखसागर है, अतींद्रिय परमामृत-रूपी जलसे भरा है। इसमें जो मिठास है वह चक्रवर्ती इन्द्रादिके विषय सुखमें नहीं है। स्वानुभव परम तृप्तिकारी भोजन है जो अनादिकी क्षुधाको मिटा देता है। स्वानुभव ही वह उष्ण वस्त्र है जिसको ओढ लेनसे रागद्वेषकी शीतता असर नहीं करती है।

स्वानुभव वह दुर्ग है जिसमें बैठनेसे कर्मोंके प्रवेश होनेको मार्ग नहीं मिलता है। स्वानुभव वह ध्यानाग्नि है जो कर्म समूहको दग्ध कर देती है। स्वानुभव ही वह कला है जिससे गृहस्थ जीवनमें रहते हुए, क्षत्रिय हो युद्धादि करते हुए, वैश्य हो व्यापारादि करते हुए व नाना प्रकारका योग धारा करते हुए भी भवबनमें भ्रमण नहीं होता है, जगत प्रपंच करते हुए भी अलिप्त रहनेकी कला स्वानुभवसे ही प्राप्त होती है। स्वानुभव ही वह दृढ़ जहाज है जो इस अथाह भवसमुद्रसे पार करके शिवद्वीपमें पहुंचा देता है। मिथ्यात्वकी खाईको बुरा कहा जाता है क्योंकि यह अंधकार है जिसमें वस्तु जैसी है वैसी दिखलाई नहीं पड़ती है। एकांत मिथ्यात्वके आधारमें यह अज्ञानी प्राणी वस्तुको नित्य ही या अनित्य ही एक

ही या अनेक ही, सत्‌रूप ही या असत्‌रूप ही माना करता है। यह नित्य भी है अनित्य भी है, एक भी है अनेक भी है, सत्‌रूप भी है असत्‌रूप भी है ऐसा नहीं मानता है। आत्मा शुद्ध ही है या अशुद्ध ही है ऐसा मानता है, परन्तु आत्मा किसी अपेक्षा शुद्ध है किसी अपेक्षा अशुद्ध है ऐसा नहीं मानता है। जब आत्माको आत्माके निजद्रव्यमें देखा जाता है तो न वहां मिथ्यात्व है न वहां नयका विकल्प है, न वहां एकांत है, न अनेकान्त है, न वहां भाव है न अभाव है। न वहां मन है, न वचन है, न काय है। न कर्म है, न रागादि भाव है न शरीर है। न कुछ चिंता है, न कुछ मनन है, न कुछ भेदविज्ञान है। अर्थात अपने ज्ञानानंदमय स्वभावका ही झलकाव है। ज्ञानोपयोगका इसी शुद्ध आत्मीक द्रव्यकी सत्तामें या सुखसत्ता चैतन्यबोधमई प्राणधारी आत्मामें मग्न होजाना, गुप्त होजाना, समाधिमय होजाना ही स्वानुभव है।

२–विपरीत मिथ्यात्व निषेध।

एक ज्ञानी वीर भेदविज्ञानके प्रतापसे स्वानुभवका उद्योग करता हुआ पहले परसे भिन्नताकी भावना करता है। अनादिकालसे जिस विषके चढ़नेसे यह अपने शुद्धात्मानुभवसे छूटा हुआ भव भ्रमण करता रहा वह मिथ्यात्वका विष है। वस्तु अनेक धर्मात्मक होते हुए भी एक धर्मरूप ही है ऐसा एकांत मिथ्यात्व जिस तरह असत्य है उसी तरह विपरीत मिथ्यात्व भी असत्य है। हिंसासे धर्म नहीं होसक्ता तौभी हिंसामें धर्म मानकर यज्ञोंमें पशु होमना व देवी देवताओंके सामने भैंसों व बकरोंका बलिदान करके चढ़ाना विपरीत

देवदर्शन या पूजन करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, णमोकार मंत्रका जप करते हैं, नियम आखड़ी पालते हैं, रात्रिको भोजन नहीं करते हैं, अष्टमी चौदसको कभी एकासन करते हैं कभी उपवास करते हैं। हरी नहीं खाते हैं दान भी देते हैं परन्तु इन सब क्रियाओंको मूढ़तावश देखादेखी करते हैं। साधनोंमें वीतराग भावोंकी सिद्धि करनी है इस तत्वको नहीं समझते हैं। अज्ञान भावसे बहुत दीर्घ कालतक बड़े भारी परिश्रमसे किया हुआ भी तप कर्मोंके मैलको नहीं काट सक्ता है। आत्मज्ञानपूर्वक थोड़ा भी किया हुआ तप कर्मोंकी बहुलताकी निर्जरा कर देता है।

अज्ञानके कारण प्राणी शुभ भावोंको ही मोक्षमार्ग मान लेते हैं। जिन भावोंसे पुण्य बंध होता है उन्हींसे निर्जरा समझ लेते हैं। अज्ञानपूर्वक किया हुआ व्रत, जप, तप, शास्त्राराधन कंकड़ पत्थरके मूल्यके समान है। इस ज्ञानीने अज्ञान मिथ्यात्वको वमन कर दिया है। इसको इस बातका यथार्थ ज्ञान है कि अशुभ भावोंसे पाप बंधता है, शुभ भावोंसे पुण्य बंधता है तथा शुद्ध भावोंसे कर्मोंका क्षय होता है तथा धर्मका साधन एक मात्र भावोंकी शुद्धि होनेके लिये करना योग्य है, और कोई कषाय जनित कामना न रखनी चाहिये। इस कारण ज्ञानी जीव स्वतंत्रताका अभिलाषी होकर बंधके नाशका परम पुरुषार्थ करता है। वह जानता है कि शुद्ध भाव ही वह ध्यानाग्नि है जो कर्मोंके ईंधनको जलाता है। जहां स्वानुभव है वहीं शुद्ध भावका प्रकाश है।

भेदविज्ञानके द्वारा जब अपने ही आत्माको सर्व आत्मद्रव्योंसे, सर्व पुद्गलादि अनात्म द्रव्योंसे, सर्व कर्मजनित विभावोंसे, सर्व प्रक

रके शरीरोंसे, सर्व प्रकारके भेदभावरूप विकल्पोंसे भिन्न जाना जाता है और उपयोगको सर्व परसे हटाकर केवल अपने आत्माके शुद्ध द्रव्यमें उपयुक्त किया जाता है परम लीन किया जाता है तब यकायक स्वानुभव उदय होता है। भेदविज्ञानरूपी उदयाचलमें स्वानुभवका सूर्य उदय होकर संसार भ्रांतिके तमको मेट देता है, आनंद कमलको प्रफुल्लित कर देता है व परमामृतके समुद्रमें स्नान करनेको उत्साहित कर देता है। स्वानुभव ही सामायिक है, यही यथार्थ भवोदधि तारक नौका है। जो चढ़ता है वह परमानंदमय होकर परम तृप्ति पाता है।

४–संशय मिथ्यात्व निषेध।

ज्ञान दर्शन गुणधारी एक अन्तरात्मा भेदविज्ञानके प्रतापसे जब जगतकी वस्तुओंको देखने लगता है तब उसे पता चलता है कि यह जगत छ द्रव्योंका मिश्ररूप विचित्र अवस्थाको रखनेवाला है। नर, नारक, पशु देव चार गतिमें नाना कुउधारी जीव नाना प्रकारका दृश्य बता रहे हैं। चर्म–चक्षुओंसे देखते हुए सर्व तरफ पुद्गल ही पुद्गल दिखलाई पड़ता है। सो भी पुद्गलके स्थूल स्कंध ही नजर आते हैं। सूक्ष्म स्कंध तथा परमाणुओंका तो दर्शन ही नहीं होता। जीव, धर्म, अधर्म आकाश, काल तो कहीं दिखते ही नहीं। चर्म चक्षुधारी बहिरात्माको यदि कोई आत्मा, परमात्मा पुण्य तथा पापके अस्तित्वका उपदेश देता है तो उसके मनमें संशय मिथ्यात्वका उदय होजाता है। जीव है कि नहीं, पुण्य पाप है कि नहीं, इस द्विकोटि झूलेमें झूलनेके कारण यह बिचारा कुछ भी

निर्णय नहीं कर पाता है। मिथ्यात्वका पलड़ा अधिक भारी होनेसे वह धर्मकी तरफसे उसवर रहता हुआ जीवन बिताता है। अमूल्य नर जन्मको वृथा ही खोदेता है। अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिको पूरा निश्चय है कि जीवकी सत्ता विना पुद्गलका ज्ञान नहीं होसक्ता। पुद्गल न तो आपको जानता है और न परको जानता है। चेतना गुण इन द्रव्योंमें कहीं भी दिखलाई नहीं पड रहा है तथा चेतना गुण है अवश्य क्योंकि हरएकको इस बातका अनुभव है कि मैं जानता हू। ज्ञान लक्षणसे ही जीव पुद्गलसे भिन्न झलक रहा है। चर्म-चक्षुको बंद कर जब ज्ञान नेत्रसे देखा जाता है तब जीव तथा पुद्गलकी सत्ताके साथ २ धर्मादि चार द्रव्योंकी सत्ता भी सिद्ध होजाती है। जीव पुद्गल इस जगतमें चलनेका ठहरनेका, अवकाश पानेका तथा अवस्थांतर होनेका काम करते हैं। इन कामोंके मूल कर्ता तो ये ही है परन्तु जब हरएक कार्यके लिये उपादान (मूल) तथा निमित्त कारण दोनोंकी आवश्यक्ता पड़ती है तब निमित्त कारण क्रमसे धर्म अधर्म, आकाश तथा काल है। इस तरह बुद्धिद्वारा विचार करने पर छहों द्रव्योंका स्वरूप अन्तरात्मा ज्ञानीको झलकता है। जीवोंकी विचित्रता जो पुद्गलके संयोगसे नाना प्रकार दीख रही है इसकी तरफ जब यह ज्ञाता भेदविज्ञानकी सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है तो इसे स्पष्ट पुद्गलसे भिन्न जीव दिख जाता है। इसे दिखता है कि इस मेरे ही जीवकी सत्तामें न ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी सत्ता है न रागद्वेषादि भाव कर्मोंकी सत्ता है न शरीरादि नोकर्मोंकी सत्ता है न अनंतानंत और जीवोंकी सत्ता है। यह जीव सिद्ध भगवानके समान परम शुद्ध ज्ञान दर्शनमय अमूर्तिक

परमानंदका भंडार है। इस तरह निश्चय करके यह ज्ञानी सर्व परमे गुह मोह, एक अपने ही शुद्ध स्वभावकी तरफ सन्मुख हो एकाग्र हो जिस अवस्थाको प्राप्त होता है इसीको स्वानुभव कहते हैं।

स्वानुभवके प्रकाश होनेपर इसे अपना ईश्वरपना अपने ही भीतर नजर आता है। परम शांतिका साम्राज्य छा जाता है। परम सुखका विलास झलक जाता है। तब इसे ऐसी स्वरूपमग्नता प्राप्त होजाती है कि इसमें रहते हुए इसे यह विकल्प नहीं होता है कि मैं कौन हूं। जिसका मेरे साथ मेल है वह एक अद्वैत ब्रह्मभावमें पहुंच जाता है, जहां परम गंभीरता है, परम शीलता है, परम वैराग्य है। यही स्वानुभव ध्यानकी ज्वाला है जो आत्मारूपी सुवर्णको अवश्य शुद्ध कर देती है।

५–विनय मिथ्यात्व निषेध।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित हो भेदविज्ञानके स्वरूपका विचार कर रहा है। तब इसके सामने आत्माकी मूर्ति अलग व अनात्माकी मूर्ति अलग खड़ी होजाती है। जैसे चतुर सराफके सामने सोने, चांदीका मिश्रित आभूषण आनेपर उसकी बुद्धि सोनेको चांदीसे अलग देख लेती है। यथार्थ आत्माका श्रद्धालु ही सम्यग्दृष्टी है। जगतके प्राणी नाना प्रकार मिथ्यात्व भावमें गृसित होकर सम्यक् आत्मतत्वको नहीं पहचानते हैं। कोई२ विनय मिथ्यात्वके भावसे प्रेरित होकर भोले स्वभावको धारण करते हैं। सर्व ही धर्मोंको, सर्व ही देवोंको, सर्व ही साधुओंको, सर्व ही शास्त्रोंको एकसा लाभकारी मानकर सर्व हीकी समान भक्ति करके अपने सादे भोले-

पनसे ठगा जाते है। उनके इस समान विनयकी तृष्णाके अधिका-रमें सत्य तत्वका प्रकाश नहीं दीखता है। जैसे कोई सुवर्णका अभि लाषी होकर भी असली सुवर्ण, कल्पित सुवर्ण पीतल व दूसरी पीत धातुओंको एकसा मानकर आदर करने लग जावे तो उसको कभी भी असली सुवर्णका ज्ञान न होगा। वह बहुधा ठगाया जायगा। विनय मिथ्यात्वके कारण उसके भावमें सत्य धर्मसे, सत्य देवसे, सत्य गुरुसे व सत्य शास्त्रसे कभी भी हार्दिक प्रीति न होगी। ऐसे विनय मिथ्यात्वके दोषसे दूषित प्राणीको वेदांत समान आत्मा ब्रह्मांश है, यह भी तत्व उसी तरह पर जच जाता है जैसे सांख्यके समान आत्मा व पुरुष पृथक्२ है। यह तत्व मान्य होजाता है। वह आत्माको परिणामी भी मान लेता है। व अपरिणामी भी मान लेता है। यह उसे अशुद्ध मान लेता है व शुद्ध भी मान लेता है। उसको न संशय है, न विचार है, केवल मूढ़ भक्ति है।

परमात्मा कृतकृत्य अकर्ता है, इस तत्वको वह जैसे मानता है वैसे परमात्मा जगतकर्ता है--यह बात भी उसे प्यारी लग जाती है। परमात्माको निर्गुण भी मान लेता है व सगुण भी मान लेता है। भिन्न२ अपेक्षासे भिन्न२ विवेचन है। ऐसा न समझते हुए भोलेपनसे सर्व ही विरुद्ध मान्यताओंको समान मानकर विनय करना मिथ्यात्व है। इस विनय मिथ्यात्वको दूर करके तत्वगवेषीने यथार्थ तत्व जाना है। यह ज्ञानी अनेक धर्मात्मक उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अनेक सामा न्य व विशेष गुणोंके धारी अपने आत्माको निश्चयनयसे सिद्धके समान शुद्ध एकाकार रागद्वेष मोहरहित, कर्मरहित, मन, वचन,

कायके विकल्प रहित मानता है। अपने आत्माकी सत्तामें कथचित् भाव व कथचित् अभाव देखता है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सद्भाव है तब ही परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका अभाव है। इस तरह अपनेको परम शुद्ध एक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमय अविनाशी अमूर्तिक देखता हुआ यह ज्ञानी अपनी परिणतिको परसे हटाता है और मात्र एक स्वरूपमें जोड देता है। जोडने समय तो अनेक विशेषणों द्वारा आत्माका मनन होता है फिर ये सब विशेषण भी विलय होजाते हैं और यह एक अनिर्वचनीय स्वपदमें एसी विश्रांति पाजाता है कि जिसका कथन हो नहीं सक्ता। यही स्वानुभव है।

६–तीन प्रकार आत्मदशा।

एक ज्ञानी आत्मा जगतके आकुलतामय प्रपचजालसे उदार होकर निराकुल परमानदमय पदमें विराजमान होनेकी भावना करता है। वह जानता है कि वह पद कहीं मुझसे भिन्न नहीं है, आप ही है। वह पद औदारिक तैजस व कार्माण इन तीन शरीरोंके तथा इन शरीरोंके फलसे होनेवाले विकारोंके भीतर गुप्त होरहा है। भेद-विज्ञानके प्रतापसे ही अपना स्वभाव भिन्न ज्ञानदृष्टिमें आसक्ता है।

शास्त्रोंके द्वारा व गुरुके उपदेश द्वारा व न्याय शास्त्रकी युक्तियोंके द्वारा अपना स्वभाव परसे भिन्न जान लेनेपर भी दृष्टि निज स्वरूपमें स्थिर नहीं होती है। इसका कारण यह है कि अनतानुबधी क्रोधादि कषाय और दर्शन मोहनीय कर्मके विकारोंके कारण निज स्वरूपका स्वसवेदन व स्वानुभव नहीं होता है। एकात, विपरीत, अज्ञान, सशय तथा विनय इन पाच प्रकार व्यवहार मिथ्यात्वको त्याग

त्रसकायिक है । योग मार्गणामें कोई काय योगधारी है, कोई काय और वचन योगधारी है, कोई मन, वचन, काय तीनों योगधारी है। यद्यपि एक समयमें हरएक जीवमें एक ही योग उपयोग पूर्वक काम करता है । पूर्व प्रयोगसे अन्य योग भी काम करता रहता है। कोई स्त्रीवेदी है कोई नपुंसकवेदी है, कोई पुरुषवेदी है, कोई तीनों वेदी है । यद्यपि एक कालमें एक ही वेद भाव रहता है । क्रोधादि चारों कषायोंके भीतर सर्व संसारी जीव मग्न हैं । यद्यपि एक समयमें क्रोध मान माया लोभमेंसे एक ही का आक्रमण रहता है, यह कषाय मार्गणा है ।

ज्ञान मार्गणामें कोई मतिश्रुत उभय ज्ञानी है। कोई कुमति ज्ञानी है, कोई इन दोनोंके साथ कुअवधि, कोई सुअवधि ज्ञानी है, कोई मति श्रुत मन पर्यय व कोई मति श्रुत अवधि तथा मन पर्यय ज्ञानी है, कोई केवलज्ञानी है । चार ज्ञान तक साथ रहते हुए भी एक कालमें एक ज्ञान ही काम करता है । संयम मार्गणामें कोई असंयमी है, कोई देश संयमी, कोई पूर्ण संयमी है । पूर्ण संयमी होकर कोई सामायिक व छेदोपस्थापना दो संयम सहित है । कोई सामायिक छेदोपस्थापना व परिहारविशुद्धि तीन संयम सहित है। कोई सूक्ष्म सांपरायवान है, कोई यथाख्यातचारित्रवान है । यद्यपि एक कालमें एक ही संयम होता है ।

इस तरह विचारते हुए ज्ञानी नाना विकल्पोंकी तरंगोंमें ग्रसित होता हुआ स्वानुभवसे बहुत दूर २ रहता है। अब यह इन सर्व विचारोंको त्यागता है और एक निश्चयनयकी दृष्टिसे सबको

समान देखता है, फिर अपने ही आत्माकी स्वेच्छ भूमिमें विश्राम पाकर संतुष्ट होजाता है तब निश्चय नय भी छूट जाता है और यह अपने ही उपवनमें एकाग्रतासे रमण करता हुआ अपने परम मित्र स्वानुभवके दर्शन पाकर परम कृतार्थ होकर परमानंदका भोग करता है।

८—मार्गणाओंके भेद।

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व बाधाओंसे रहित होकर एकांतमें निश्चल बैठ भेदविज्ञानके द्वारा तत्वोंका विचार कर रहा है। वह जानता है कि सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी चमकमें ही स्वानुभवका प्रकाश होता है। स्वानुभवके प्रकाशसे ही आत्मीक सुख व शांतिका अनुभव होता है। यह सम्यग्दर्शन यद्यपि आत्माका गुण है तथापि व्यवहार सम्यग्दर्शनके प्रयोगसे ही इसका निरोधक कर्ममल हटता है। व्यवहार सम्यग्दर्शनके विषयभूत तत्वोंका मनन करनेपर चौदह मार्गणाओंका विचार करते हुए दर्शन मार्गणामें कोई अचक्षुदर्शनवान है, कोई अवधिदर्शन सहित तीन दर्शनधारी है, कोई केवलदर्शन-धारी हैं, यद्यपि एक समयमें एक ही दर्शन होता है। लेश्या मार्गणामें भावोंका विचार है। अशुभ, अशुभतर, अशुभतम भावोंको क्रमसे कृष्ण, नील व कापोत लेश्या कहते हैं। शुभ, शुभतर, शुभतम भावोंको क्रमसे पीत पद्म तथा शुक्ल लेश्या कहते हैं। संसारी जीव कोई तीन अशुभ लेश्याधारी है, कोई पीतलेश्या सहित चार लेश्याधारी हैं, कोई पद्म शुक्ल सहित छः लेश्याधारी है, कोई पीत पद्म शुक्ल तीन लेश्याधारी हैं, कोई एक एक लेश्याधारी है, एक समयमें एक ही लेश्या होती है। लेश्या ही कारण कर्मोंका सम्बन्ध होता है।

गिर पड़ता है या फिर चौथेमें चला जाता है। यदि उपशम सम्यक्तीके सम्यक्त मोहनीयका उदय आजाता है तब चौथे गुणस्थानमें रहते हुए भी क्षयोपशम या वेदक सम्यक्ती होजाता है। जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होजाता है तब देशविरत नाम पांचवें गुणस्थानमें आजाता है। यहां आकर श्रावकके व्रतोंको नियमानुसार पालता है। जितना जितना प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय निर्बल होजाता है अर्थात् उसका क्षयोपशम बनता जाता है उतना २ अतरङ्ग व बहिरंग चारित्र बनता जाता है। दर्शन प्रतिमासे लेकर व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग अनुमतित्याग, उद्दिष्टत्याग इन ग्यारहों प्रतिमाओंके ऊपर चढ़ता चला जाता है। जब प्रत्याख्यानावरण कषायका बिलकुल उपशम होजाता है तब पांचवे गुणस्थानसे एकदम सातवेंमें चढ़ जाता है। जब कोई गृहस्थ सर्व वस्त्राभूषण त्याग कर केशोंका लोंच करता है और सामायिक चारित्रकी प्रतिज्ञा ग्रहण कर ध्यानमें बैठ जाता है तब सातवां अप्रमत्त विरत गुणस्थान होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। फिर प्रमाद आजानेसे छठे प्रमत्त गुणस्थानमें आजाता है। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान बारबार हुआ करते हैं। प्रमत्तमें संज्वलन कषाय और नौ नोकषायका तीव्र उदय होता है। जब कि अप्रमत्तमें उनहीका मन्द उदय होता है। यहांसे आगे उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी दो दरजे ऊपर चढ़नेके [illegible] हैं। जो साधु चारित्र मोहकी प्रकृतियों [illegible] रहता है। तथा

जो इन प्रकृतियोंका क्षय करता है वह क्षपकश्रेणी चढ़ता है। उपशमश्रेणीके आठवें, नौमें, दसवें, ग्यारहवें गुणस्थानोंकेद्वारा मोहनीय कर्मका उपशम कर देता है। अन्तर्मुहूर्त पीछे अवश्य पतन होता है। मोक्षगामी जीवको अवश्य क्षपकश्रेणी पर आना पड़ता है। क्षपकश्रेणीके आठवें, नौवें व दशवें गुणस्थानकेद्वारा मोहका सर्वथा क्षय होजाता है। तब साधु १० वेंसे बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थानमें आजाता है। यहां अन्तर्मुहूर्त ठहरकर शुक्लध्यानके प्रभावसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तरायको क्षय करके तेरहवें गुणस्थानमें आकर जिन अरहन्त होजाता है फिर आयु पर्यन्त ठहरकर कुछ काल पहले ही चौदहवें गुणस्थानमें आजाता है। तब नाम गोत्र वेदनीय आयुका नाशकर सिद्ध परमात्मा होजाता है। ये १० गुणस्थान कर्म और आत्माके संयोगसे हैं। जब ज्ञानी कर्म संयोग रहित शुद्ध आत्मामें उपयोग लगाता है और उस उपयोगको पांच इंद्रिय तथा मनके विकल्पोंसे हटा लेता है तब भेदज्ञानपूर्वक यकायक स्वानुभवका उदय होजाता है। यही सच्चा आनन्दामृतका स्रोत है।

१०-पुद्गल द्रव्य विचार।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर जब एकांतमें बैठता है तो उसको भेदविज्ञानरूपी मित्रका स्मरण होजाता है। भेदविज्ञानके महात्म्यसे ही स्वानुभवका प्रकाश होता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है, स्वानुभव ही अभेद रत्नत्रय है। स्वानुभव ही ध्यानकी शक्ति है जो कर्मोंके ईंधनको जलाती है। स्वानुभव

परमानन्दका सागर है । स्वानुभव ही साधन है । स्वानुभव ही ध्येय है । जहा सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्मीक गुणका प्रकाश होता है वहींपर स्वानुभवका उद्योत होजाता है ।

इस सम्यक्त रत्नको रोकनेवाले मिथ्यात्व कर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषाय है । इनका उदय जब मिटता है तब उपशम सम्यक्त प्रगट होता है । जीवादि सात तत्वोंके श्रद्धानसे भेदविज्ञान पैदा होता है । भेदविज्ञानसे ही सम्यक्तका प्रकाश होजाता है । यह जीव अपनी सत्ता सर्व संयोगजनित भावोंसे निराला रखता है । यह जीव निश्चयसे चौदह गुणस्थान तथा मार्गणास्थानोंके विकल्पसे निराला है ।

यदि सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जावे तो यह जीव अपने सर्व गुण और स्वभावोंको लिये हुए अखंड अभेद अमिट द्रव्य है जो त्रिकाल अबाधित है, अनन्य है, निश्चल है, परसंयोग रहित है । न कर्मोंसे बंधा है न उनसे स्पर्शित है, परमानन्दमई है । इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेद भी व्यवहारनयसे है। निश्चयसे यह भेद रहित अभेद है । इस जीव पदार्थसे भिन्न अजीव पदार्थ है । जिसके पांच भेद वास्तविक है–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । जो पूरे और गले, मिले और बिछुड़े उसे पुद्गल कहते है । यह लक्षण परमाणुमें पाया जाता है । परमाणु अपनेसे दो अंश अधिक स्निग्ध तथा रूक्ष गुणके कारणसे परस्पर मिलकर स्कंध बन जाते है । यद्यपि एक जघन्य अंश सहित परमाणु अबन्ध होता है तथापि कालान्तरमें जब द्रव्य, क्षेत्र, कालके निमित्तसे उसमें अंशवृद्धि हो

जाती है तब वह भी बंध योग्य होजाता है । इस दो अंश अधिकके नियमसे पुद्गलोंमें परिवर्तन हुआ करता है । कभी स्निग्धताके अंश अधिक होते हैं तब रूक्ष परमाणु भी स्निग्ध होजाता है। कभी रूक्षताके अंश अधिक होते हैं तब स्निग्ध परमाणु रूक्ष होजाता है। परमाणु इतना छोटा होता है कि उसका दूसरा अंश नहीं होसक्ता है । परमाणुमें पांच गुण सदा पाए जाते हैं ।

एक कोई रस, एक कोई गन्ध, एक कोई वर्ण तथा दो स्पर्श स्निग्ध या रूक्षमेंसे एक, ठण्डा व गर्ममेंसे एक स्कंधमें दो गुण अधिक होजाते हैं । हलका या भारीमेंसे एक, नरम तथा कठोरमेंसे एक । इन पुद्गलोंके छ प्रकारके भेद जगतमें पाए जाते है । १–स्थूल २–जैसे कठोर पदार्थ लकड़ी, मिट्टी, पत्थर जिनके दो खण्ड किये जानेपर स्वयं न मिल सकें । २–स्थूल–जैसे वहने वाले पदार्थ पानी दूध आदि जो अलग होनेपर स्वयं मिल जाते हैं, ३–स्थूल सूक्ष्म–जो देखनेमें आवें, परन्तु ग्रहण न होसकें। जैसे धूप छाया, उद्योत। ४–सूक्ष्म स्थूल–जो देखनेमें न आवें, परन्तु अन्य चार इन्द्रियोंसे ग्रहण हों जैसे हवा, शब्द, गन्ध, रस। ५–सूक्ष्म–जो कोई भी इन्द्रियसे ग्रहणमें न आवें। जैसे कार्माण, तैजस, भाषा, मन व आहारक वर्गणा। ६–सूक्ष्म सूक्ष्म–एक पुद्गलका अविभागी परमाणु। इस तरह विकल्पोंको करते हुए उपयोग परके विचारमें फंस जाता है। ज्ञानी उपयोगको हटाकर निज शुद्ध स्वरूपमें उसे जोड़ता है। जोड़नेके साथ ही स्वानुभव उत्पन्न होजाता है। तब जो परम सन्तोषपूर्ण आनन्द प्राप्त करता है, उसका कथन

जा नहीं सकता। वह केवल स्वानुभवगम्य है, वही योगियोंका ध्येय है व इसे ही सिद्ध परमात्मा निरन्तर भोगते रहते हैं।

११-चार अजीव विचार।

एक अज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठकर स्वानुभवके लिये विचार करता है। भेदविज्ञान स्वानुभवका मूल है। जिसको अपने आत्माका स्वरूप सर्व पर आत्माओंसे, पुद्गलके परमाणु व स्कंधोंसे, धर्म अधर्म, आकाश व कालसे तथा सर्व रागादि संयोगिक भावोंसे भिन्न झलक जाता है, वही अपने स्वरूपको पाकर उसमें रमण करने लग जाता है, यही रमण ही स्वानुभव है। भेदविज्ञानका सच्चा प्रकाश सम्यक्‌द र्शन गुणके प्रकाशपर निर्भर है। इस गुणपर जिन कषायोंका व दर्शनमोहका परदा पड़ा है उनके उदयको हटानेके लिये व्यवहार सम्यग्दर्शनका सेवन आवश्यक है। व्यवहार सम्यक्तके विषय जीवादि सात तत्व हैं।

अजीवपर विचार करते हुए पुद्गलका स्वरूप कथित होचुका है। शेष चार द्रव्योंकी क्यों आवश्यक्ता है इस बातपर विचार किया जावे तो प्रगट होगा कि छ द्रव्योंमेंसे दो द्रव्य ही क्रियावान है, हलनचलनशील हैं तथा विभावरूप या विकार भाव शक्ति रखते है। संसाररूपी नाटकमें ये ही दोनों नाचनेवाले है।

जीव पुद्गलका ही जगतमें नाटक है। ये ही मुख्य चार क्रियाओंको करते हैं, चलते हैं, ठहरते हैं, स्थान पाते हैं तथा परिणमन करते हैं।

हरएक कार्यमें उपादान और निमित्त दोनों कारणोंकी आव-

द्यक्ता है। वस्तुमें जो पर्यायोंमें परिणमनकी शक्ति है वही उपादान कारण है। उस परिणमनमें जिन सहायकोंकी जरूरत पड़ती है वे ही निमित्त कारण हैं।

सुवर्णसे आभूषण बनता है, मिट्टीसे घडा बनता है, गेहूसे रोटी बनती है, परमाणुओंसे स्कंध बनते हैं। इन दृष्टांतोंमें उपादान कारण क्रमसे सुवर्ण, मिट्टी गेहू तथा परमाणु हैं। निमित्त कारण अनेक शस्त्र, सुनार कुम्हार पाचक तथा द्रव्य क्षेत्र कालादि हैं।

ऊपर लिखित जीव व पुद्गलोंके चार मुख्य कामोंके लिये उपादान कारण तो वे स्वयं ही हैं। निमित्त कारण कोई नित्य द्रव्य चाहिये। अतएव जो जीव तथा पुद्गलोंके गमनमें सहकारी निमित्त है वह धर्म द्रव्य है जैसे मछलीके गमनमें जल निमित्त है। इनके ठहरनेमें जो निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है। जैसे मुसाफिरको छाया। स्थान पानेमें निमित्त आकाश द्रव्य है। परिणमने या पलटनेमें निमित्त काल द्रव्य है। आकाश अमूर्तिक अनंत है। इसीके मध्यमें लोक है, लोकव्यापी अमूर्तीक धर्म द्रव्य है। लोक व्यापी अमूर्तिक अधर्म द्रव्य है। कालाणु द्रव्य एक प्रदेशधारी है। लोकाकाशकी माप यदि प्रदेशकी मापसे की जावे तो इसके असंख्यात प्रदेश आते हैं। यह कालाणुद्रव्य भी असंख्यात हैं अलग २ हैं, कभी मिलते नहीं हैं, अमूर्तीक हैं। इनहीसे समय पर्याय तब प्रगट होती है जब पुद्गलका परमाणु मन्द गतिसे एक कालाणुको उल्लंघकर निकटवर्ती कालाणुपर जाता है। जगतमें ऐसा हलन चलन परमाणुओंमें होता रहता है। समय पर्यायको ही व्यवहारकाल कहते हैं। अविभागी पुद्गल

परमाणु जितने आकाशको रोके वही प्रदेश जाव अजीव स्वरूप ब्र द्रव्योंका समुदाय ही यह जगत है। इस मनके चिंतवनके अवकाशमें अपना स्वरूप नजर नहीं आता है। अतएव भेदविज्ञानी अपने उपयोगको मनके विचारोंमे भी हटाता है और उसे अपने आत्माके भीतर जोड़ देता है, सर्व चिंताओंसे निवृत्त होजाता है। बस यकायक स्वानुभवका प्रकाश होजाता है। इस भावके उदय होते ही परमानन्दका झल्काव होजाता है। संसारमें रहते हुए ही सिद्ध भगवानकी भी दशाका लाभ होजाता है और वचनातीत सतोष प्राप्त होता है।

१२-योगशक्ति आस्रव है।

एक ज्ञानी आत्म स्वानुभवके लिये भेदविज्ञानके दर्पणको लेकर जगतका अवलोकन करता है तब उसको सर्व ही द्रव्य अपने२ स्वभावमें दिखलाई पड़ते हैं। वह अन्य सर्व परद्रव्योंसे उपयोगको हटाकर जब आपसे ही आपमें ही रमण करता है तब यकायक स्वानुभव जागृत होजाता है। जहां विकल्प, विचार, व हलन चलन सर्व ही बन्द होजाते हैं एक निश्चल समुद्रके समान आत्माकी परिणति होजाती है। और जैसे मधुकर मधु पुष्पमें रमणकर तन्मय होजाता है वैसे ही तत्वज्ञानी निज तत्वमें रम जाता है। इस स्वानुभवमें स्वरूपमात्र अद्वैतरूपसे झलकता है। इसका कारण सम्यग्दर्शनरूपी परम मित्र है। सम्यक्तके प्रभावसे ही अपना दर्शन होता है, अपना प्रेम होता है, आत्मकलाकी जागृति होती है। इस सम्यक्तके निरोधक अनन्तानुबन्धी कषाय तथा दर्शन मोह है। इनका

उदय या विपाक मिटानेका उपाय व्यवहार सम्यक्तके द्वारा तत्वोंका मनन है। यह सम्यक्त सात तत्वोंकी श्रद्धापर आलंब रखता है। जीव व अजीवका विचार कर चुका है। अब यह आस्रव तत्वका विचार करता है।

आत्माका स्वरूप विचार किया जावे तब तो इसमें आस्रवके कारण कोई भी भाव नहीं हैं। न इसमें पांच प्रकार मिथ्यात्व है न हिंसादि अविरत भाव है, न प्रमाद है, न कषाय है और न मन वचन कायके परिणमनद्वारा आत्मप्रदेशोंका परिस्पदन होता है। मन वचन कायकी क्रियाद्वारा जो आत्मप्रदेश परिस्पदन होता है वही द्रव्ययोग है। द्रव्ययोगके होते ही भाव योग जो कर्मवर्गणाओंके आकर्षणकी एक शक्ति है वह काम करती है। वह शक्ति द्रव्य पुद्गलोंके उदय बिना या पुद्गलकी उत्तेजना बिना अपना काम करनेके लिये प्रस्तुत नहीं होती है। जैसे वीर योद्धा वीरता व रक्षकत्वकी शक्ति रखते हुए बिना कारण किसीकी रक्षामें व किसीके घातमें प्रवृत्त नहीं होता है वैसे ही बिना कर्मोंके उदयकी प्रेरणाके योगशक्ति काम नहीं करती है। संसार दशामें अनंतकालसे यह संसारी प्राणी पुद्गलके संयोगमें ही है अतएव इसकी योगशक्ति शरीर नामकर्मके उदयसे काम करती रहती है।

एकेन्द्रियोंके केवल कायके वर्तनद्वारा, द्वेन्द्रियके काय और वचनके वर्तनद्वारा, पंचेन्द्रिय सैनीके काय, वचन या मनकेद्वारा, एक समयमें तीनोंमेंसे एकके वर्तनद्वारा योगशक्ति काम करती है। पुद्गल संयोग रहित आत्मामें यह शक्ति काम नहीं करती है क्योंकि

न वहां द्रव्ययोग है न मन वचन कायका आलम्बन है। विग्रह गतिमें कार्माण योगद्वारा यह शक्ति काम करती है। अतएव सर्व ही भग जागृत, निद्रित व विग्रहगति या स्थूल शरीर रहित अवस्थामें योगकी प्रणालिकाद्वारा कर्मवर्गणाओंका आस्रव करते हैं। एक मात्र अयोग केवली नहीं करते है, न सिद्ध परमेष्ठी करते हैं।

इस तरह आस्रवका विचार करते हुए विचारोंके जालमें उलझा हुआ प्राणी अपने तत्वसे बाहर रहता हुआ स्वानुभवसे दूर दूर हो जाता है। अब यह अपनी विचार सरनिको बन्द करता है और मनकी संगतिको त्यागता है। आप आत्मा अकेला होजाता है, आप गमें रम जाता है, अपने ही स्वभावमें आप ही समा जाता है। स्वानुभवमें पहुच जाता है। तब जो निजानन्दमई अमृतका स्वाद पाता है, उसका स्वाद वचन अगोचर मात्र अनुभवगम्य है।

१३-१०८ जीवाधिकरण।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिंताओंसे निश्चिन्त होकर भेदविज्ञानके प्रतापसे आत्माको आत्मा व अनात्माको अनात्मा जानता है। क्योंकि आनंदका सागर आत्मा ही है, शांतिका समुद्र आत्मा ही है। अतएव तत्वज्ञानी अनात्मासे उपेक्षा बुद्धि करके आत्मीक निर्मल समुद्रमें मग्न होकर स्वानुभवका लाभ प्राप्त कर लेता है। इस भेदविज्ञानका यथार्थ उपाय सम्यक्दर्शनका लाभ है। यह सम्यक्त आत्माका ही गुण है। इसको आवरण करनेवाला मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायका विकार है। इस विकारके मेटनेका उपाय सप्त तत्वोंका ज्ञान व मनन है।

जीव व अजीव तत्वोंका विचार करनेके पीछे यह ज्ञानी आस्रव तत्वपर दृष्टिपात करता है। आस्रवके होनेमें योग और कषाय मुख्य हेतु है। योगोंसे कार्माणवर्गणा आती है। कषाय सबंधी भाव अनेक प्रकारके होने हैं। इससे आस्रव भी अनेक प्रकारका होता है। तीव्र क्रोधादि कषायसे अधिक व मंद क्रोधादिसे कम आस्रव होता है। जानबूझकर कोई कार्य करनेपर यदि उस कार्यसे विराग है परन्तु किसी प्रयोजन वश करना पड़ता है तो कम आस्रव होता है।

यदि उस कार्यसे तीव्र राग है और जानकरके भी ढीठतासे करता है तो अधिक आस्रव होता है। भोलेपनसे विना जाने कार्य करनेपर कम जब कि ढीठतासे न जानकर कार्य करनेसे अधिक आस्रव होता है। जैसा जीव सम्बन्धी कामका व अजीव सम्बन्धी संयोगका आधार होता है वैसा कम या अधिक कर्मास्रव होता है। जीवोंके भावोंके मूल भेद १०८ प्रकार है। उत्तर भेद ४३२ हैं। और भी उत्तर भेद संख्यात तथा असंख्यात होसकते हैं। यह जीव किसी कामको स्वयं करनेका मनसे विचार करता है, उस विचारको वचनसे कहता है व कायके संकेतसे बताता है। किसी कामको परसे करानेका मनमें विचार करता है, उसे वचनसे कहता है, कायसे संकेत करके बताता है। किसीने किसी कामका विचार किया है यह उसकी अनुमोदना या प्रशंसा मनसे, वचनसे या कायके संकेतसे करता है। इस तरह मन, वचन, कायसे कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा नौ भेद हुए। यह नौ भेद संरम्भ या संकल्प या विचार करनेकी अपे

क्षाम हुए। इसी तरह नौ भेद समारम्भ तथा आरम्भके होंगे। किसी कामको करनेके लिये सामग्री जुटाना, प्रबन्ध जोड़ना समारम्भ है। किसी कामको करने लगना आरम्भ है।

इस तरह २७ सत्ताईस भेद होते हैं। कोई मन, वचन, कायका वर्तन क्रोधवश, कोई मानवश कोई मायावश, कोई लोभवश होता है। इस तरह १०८ भेद जीवकी प्रवृत्ति द्वारा होते हैं। अनतानुबंधी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलनके भेदसे कषायके चार भेद हैं। अतएव सर्व भेद ४३२ होते हैं। इनमेंसे किसी न किसी भावमें सना हुआ यह जीव कर्मोंका आस्रव करता है। शरीर व परवस्तुका संयोग भी निमित्त होता है। इस तरह यह आत्मा उसी तरह कर्मरूपी मैलको एकत्र करता है जिस तरह काले पानीमें चलता हुआ जहाज छिद्रित होकर काले पानीका संचय करता है। काले पानीमें निर्मल जहाज मलीन व चलनेमें अशक्य होजाता है उसी तरह यह आत्मा कर्म मैलको एकत्र कर मलीन होजाता तथा मोक्षद्वीपकी तरफ चलनेको अशक्य होजाता है। इस तरह विचारकी तरंगोंमें डोलायमान होता हुआ यह मन आत्मानुभवसे दूर२ चला जाता है। अब यह अपने कार्यकुशल प्रवीण उपयोगको मनके विचारोंमें रोकता है व इन्द्रियोंके द्वारा भी उसको वर्तने नहीं कराता है। ज्ञानी इस उपयोगको एकाग्र करके अपने आत्मामें ही रमा देता है, आत्मस्थ होजाता है आत्मीक उपवनमें क्रीड़ा करने लगता है। अनुपम स्वानुभवको पाकर मन, वचन, कायके वर्तनसे बाहर चला जाता है और परमानंदित होजाता है।

१४-११ अजीवाधिकरण।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मानंदके पानेका उपाय स्वानुभवको ही समझता है। स्वानुभवका कारण भेदविज्ञान है। वास्तवमें देखा जावे तो हरएक आत्मा अपने स्वभावसे स्वानुभवमें ही विद्यमान है। परन्तु कर्मोंकी अनादि संगतिके कारण यह जीव मोहके नशेमें चूर होकर परानुभवमें ही दिन रात वर्तन कर रहा है। तथैव मोहकी प्रबलतासे इसको आत्माका अमल स्वभाव भी स्मरणमें नहीं रहा है। यह अज्ञानी रागादि विकारोंको अपने आत्माके वीतराग विज्ञानमय स्वभावसे भिन्न नहीं जानता है न प्रतीतिमें लाता है। इसीसे कभी भी परम उन्मुक्त हो निज आत्माका अनुभव नहीं कर पाता। वास्तवमें स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है व यथार्थ कल्याणका उपाय है।

भेदविज्ञानकी प्राप्ति तब ही यथार्थपने होती है जब सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश हो। उसके प्रकाशके लिये अनंतानुबंधी कषायोंके व मिथ्यात्व कर्मके हटानेकी आवश्यक्ता है। इस कार्यका उपाय सात तत्वोंका मनन है। आस्रव तत्वपर विचार करते हुए जीवाधिकरणके भेद जाने जाचुके हैं। अजीवके आधारसे भी कर्मोंका आस्रव होता है इसलिये अजीवाधिकरणके ११ भेदोंको भी जाननेकी आवश्यक्ता है।

रचनाको निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं—मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीरादिकी रचना मूलगुण निर्वर्तना है व शरीरके द्वारा पुस्तक, चित्राम, मकान, वस्त्र, वर्तन आदिकी उत्तरगुण निर्वर्तना है। बहुतसे काम पदार्थोंके बनावटके किये जाते

हैं, उनमें ये दोनों निर्वर्तनाएँ उपयोगमें आती हैं। इनके आधारसे जैसा अभिप्राय होता है वैसा कर्मोंका आस्रव होता है। यदि कोई शस्त्रको बनाता है तो उसका भाव हिंसारूप भी होसकता है और रक्षा रूप भी होसकता है। शुभोपयोगसे की गई रचना पुण्य बंधक है जब कि अशुभ उपयोगसे की गई रचना पाप बंधक है।

निक्षेप चार प्रकारका है। अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण–बिना देखे हुए प्रमादभावसे किसी वस्तुको रख देना। दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण–दुष्टतासे क्रोधमें आकर किसीकी प्रेरणासे किसी वस्तुको पटक देना। सहसा निक्षेपाधिकरण–जल्दीमें किसी वस्तुको जहां तहां पटक देना। अनाभोग निक्षेपाधिकरण–जिस वस्तुको जहां रखना चाहिये वहां न रखकर कहीं भी रख देना। इन चार प्रकारके निक्षेपोंमें प्रमादभाव है, जिसमें कषायका उद्वेग झलकता है। यह क्रियाएँ इसीलिये आस्रवमें विशेष आधार होजाती हैं।

राग भावके वश होकर खानेकी वस्तुयें पीनेकी वस्तु मिलाना भक्तपान संयोग है। शीत वस्तु उष्ण वर्तनमें व उष्ण वस्तु शीत वर्तनमें रख जानेकी क्रिया प्रयोजनवश की जाती है। इसलिये ये भी आस्रवमें निमित्त होजाते हैं।

द्रव्य मन, द्रव्य वचन व द्रव्य कायका वर्तना भी निमित्त पड़ता है। इस तरह ११ निमित्तोंके आधीन होकर यह प्राणी अजीवके आधारसे कर्मोंका आस्रव करता है।

इस तरह भेद व्यवहारका विचार करते हुए उपयोग थिर होता। अतएव ज्ञानी जीव अपने उपयोगको सर्व परभावोंसे

रोकता है और एकाग्रताके साथ अपने आत्माके गुणोंके भीतर रजायमान करता है। आत्मीक गुणोंका चिंतवन करते हुए यह ज्ञानी यकायक जब आत्माके भीतर तन्मय होजाता है तब इसको स्वानुभवका लाभ होजाता है। स्वानुभवके प्रतापसे यह परमानन्दका लाभ करता है। और परम संतोषको पाकर सच्चा मोक्षमार्गी बन जाता है।

१५-ज्ञानावरण दर्शनावरणास्रवके विशेष भाव।

एक ज्ञानी आत्मा स्वानुभवके लाभके लिये भेदविज्ञानका विचार करता है। भेदविज्ञानके ही प्रतापसे स्वानुभवका लाभ होता है। भेदविज्ञानमें ही वह शक्ति है जो हरएक द्रव्यको भिन्न२ अपने स्वरूपमें झलकाती है। भिन्न भिन्न द्रव्योंकी पहचान इसीके द्वारा होती है। आत्मा कर्मपुद्गलोंके साथ दूध पानीकी तरह मिला हुआ है। इसका पृथक्२ करण सूक्ष्म विवेकसे ही होता है तब अपना ही आत्मा सर्व अन्य द्रव्योंके द्रव्य, क्षेत्र काल, भावसे भिन्न ही झलकता है। तब यह सिद्धसम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक अविनाशी परमानन्दमई व परम शांत प्रतीतिमें आता है। इसी प्रतीति भावमें उपयोगकी थिरताके होते ही स्वानुभव होजाता है।

तथापि इस अपूर्व लाभका लाभ मिथ्यादृष्टिको नहीं होता है, सम्यग्दृष्टिको ही होता है। सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है उसका प्रकाश उस समय तक नहीं होता है जबतक अनंतानुबंधी कषाय तथा मिथ्यात्वका उदय हो। अतएव इन विकारोंके हटानेके लिये व्यवहार सम्यग्दर्शनका मनन कार्यकारी है। सात तत्वोंका यथार्थ

। यह शुद्धोपयोगकी महिमासे बाहर होता है, और नीचे लिखे वोंके लिये अपना उद्देश्य रखता है व अभिप्राय पूर्वक उनमें मन, वन, कायका वर्तन करता है तो उसके उन भावोंके निमित्तसे सातावेदनीयका विशेष अनुभाग पड़ता है।

भूतानुकम्पा–सर्व प्राणीमात्रके ऊपर करुणाका भाव। ऐसा भाव कि जगतके प्राणियोंका कष्ट निवारण हो। इस भावमें कपित होकर वह दूसरोंके ऊपर पड़ती हुई पीड़ाको अपनेपर पड़ती हुई पीड़ा मानता है और अपनी शक्तिभर स्वयं या दूसरोंके द्वारा प्राणियोंके कष्ट निवारणमें पुरुषार्थ करता है।

व्रती अनुकम्पा–जो अहिंसादि व्रतोंके एक देश व सर्व देश पालक हैं, उनपर विशेष दयाभाव रखता है। उनकी धार्मिक वृत्ति उसको विशेष प्रेरित करती है कि उनका कष्ट निवारण किया जावे।

दान इसीलिये वह धर्मके पात्रोंको भक्तिपूर्वक व जगतके सर्व प्राणियोंको दयापूर्वक आहार, औषधि अभय व विद्यादान करता है।

सराग संयम–मुनिव्रत पालते हुए जितने अंश धर्मानुराग होता है।

संयमासंयम–श्रावक धर्म पालते हुए जो धर्मानुराग होता है उसमें यह मध्यजीव परोपकारमें सदा दत्तचित्त रहता है। आत्म ज्ञान रहित मंदकषाय सहित वैराग्यपूर्ण तप करते हुए व कष्टोंके पड़नेपर समतासे सहते हुए अर्थात बाल तप व अकाम निर्जरा करते हुए भी साताका बंध करता है।

ध्यान करते हुए, उत्तम क्षमा पालते हुए, सन्तोष रखते हुए जितने अंशमें शुभ भाव होते हैं उनसे सातावेदनीयका बन्ध होता है। इस आस्रव तत्वकी करपनाके करते हुए भी आस्रव और बन्ध ही होता है। ऐसा समझकर ज्ञानी जीव व्यवहार मार्गमे पराङ्मुख होता है और निश्चय धर्मकी तरफ सन्मुख होकर अपने आत्माके रमणीक आनन्दसागरमें जाता है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे बाहर होकर अपने उपयोगको उसीमें डुबाता है, उसीमें स्नान करता है, उसीका अनुपम जल पीता है, उसीमें तृप्ति पाता है, तब जिस दशाको अनुभव करता है उसे ही स्वानुभव कहते हैं और यह दशा परमात्म दशासे किसी भी तरह कम सुखप्रद नहीं है।

१७-असातावेदनीयका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्प त्यागकर एकांतमें बैठकर भेदविज्ञानके प्रतापसे अपने आपको यथार्थ द्रव्यरूप ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी परम पुरुष वीतराग निर्विकार अनुभव करता है तब उसको शुद्ध निराकुल आनन्दका स्वाद आता है। उसके अनुभवमें आत्माकी विभाव दशाएं नहीं आती हैं। क्योंकि उसका लक्ष्य सिद्धसम शुद्ध आत्मा ही पर रहता है। परन्तु यह स्वानुभव उसी ही महात्माको होता है जिसके अंतरंगमें सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यका प्रकाश होगया है, मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायका अंधकार मिटगया है।

इस अन्धकार मेटनेका उपाय भी भेदविज्ञान है। जहां आत्माको अनात्मासे भिन्न२ भावना रूपसे विचारा जाता है उसी तरह जिसतरह भूसीसे चावल, भूसीसे तैल व छिलकेसे दाल,

पानीसे दूध, काष्टसे अग्नि, पानीसे चिकनाई भिन्न२ विचारी जाती है, तब भेदविज्ञानकी भावना कही जाती है। क्या२ अनात्मा है व क्या२ आत्मा है इस तत्वज्ञानके लिये सात तत्वोंका विचार कार्यकारी है। आस्रव तत्वके विचारमें यह विचारता है कि असाता वेदनीय कर्मका बन्ध होते हुए अनुभाग किन२ भावोंसे अधिक पड़ता है। जहा स्वय दुःखी भाव किये जावें, दूसरेको दुःखित कर दिया जावे व, स्वय भी दुःखी हो और दूसरेको भी दुःखी किया जावे, जहा स्वय शोकमें भरा जावे, दूसरेको शोकित किया जावे या स्वय भी शोकाकुल हुआ जावे और दूसरेको भी शोक गर्भित कर दिया जावे, जहा किसी प्रकार हानि या अपमान होनेपर स्वय ताप किया जावे, दूसरेको तप्तायमान किया जावे या स्वय भी पश्चात्ताप हो और दूसरेको भी पश्चात्तापमें डाला जावे, जहा किसी कारणसे स्वय रुदन किया जावे, दूसरेको रुलाया जावे या स्वय भी रुदन करे व दूसरेको भी अश्रुपातके वश किया जावे, जहा स्वय अपघात व पीड़ित किया जावे दूसरेको घात या पीड़ा दीजावे या स्वय भी घात या पीड़ित किया जावे और दूसरेको भी घात या पीड़ित किया जावे, जहा स्वय ही दूसरेको करुणा उत्पन्न करानेके भावसे परिदेवन या रुदन किया जावे, दूसरेको परिदेवन कराया जावे या स्वय भी परिदेवन करे व दूसरेको भी करावे। जहा किसी प्रकार भी अपने परिणामोंमें कलुषित, मलीन, आकुलित, क्षोभित, पीड़ित भाव किये जावें, या दूसरेके भाव कलुषित, पीड़ित, मलीन, आकुलित व क्षोभित किये जावें या आप व पर दोनों ही कलुषित भावोंमें सने हों वहापर असाता

वेदनीय कर्मका विशेष अनुभाग बन्ध पड़ता है। इस तरह विचार करनेसे असाता वेदनीय कर्मके बन्धकारक भावोंसे ग्लानि होजाती है, अबन्ध अवस्थासे प्रेम पैदा होता है, तथापि यह विचार एक प्रकारका ऊहापोह उपयोगका परिणमन है, जो बन्ध हीका कारण है। जब कोई ज्ञानी इन सर्व विचारोंको तथा सर्व ही मन, वचन, कायकी क्रियाओंको बुद्धिपूर्वक निरोध करके अपने अनात्माके द्रव्योंसे भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे भिन्न जानकर व श्रद्धानकर उसी हो ज्ञान श्रद्धानमें उपयुक्त होजाता है, लीन होजाता है, तन्मय होजाता है, एकाग्र होजाता है, एकतान होजाता है, मग्न होजाता है व उसी ही निज आत्माके उपवनमें रमण करने लग जाता है, अन्य सर्वसे उदासीन होजाता है तब निजका साक्षात्कार होते हुए जो परमानन्दका स्वाद आता है वह वचन व मनके विचारसे अगोचर केवल अनुभव-गम्य ही है। वही स्वानुभव है। वही आपसे आपका उपभोग है।

१८–दर्शनमोहनीय कर्मका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मीक सुख-समुद्रमें भरे हुए अमृत-रसका पान करनेके लिये अपनी परिणतिको सर्व ही अपने आत्माके मूल द्रव्य स्वभावसे भिन्न आत्मा व अनात्मा द्रव्योंसे, उनके गुणोंसे, उनकी पर्यायोंसे उन्मुख करता है। और सूक्ष्म भेदविज्ञानके प्रतापसे सर्व परसे मुक्त होकर स्वात्म संवेदनमें आरूढ़ होजाता है। स्वानुभव पाकर परम तृप्तता पाता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है व स्वानुभव ही मोक्ष है।

इन स्वानुभवका काम वास्तवमें सम्यग्दृष्टी हीको होता है। मिथ्यादृष्टिकी पहुंच आत्मतत्वकी सूक्ष्मतापर नहीं होती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन गुण आत्माहीका गुण स्वभाव है। तथापि अनादि कालीन कर्म प्रवाहके संस्कारसे अनतानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व दर्शक उदयसे यह स्वभाव विभाव रूपमें परिणमन कर रहा है। इस विभावता मिटानेका उपाय भेदविज्ञानका मनन है। आत्मा व अनात्माका भिन्न २ विचार है। जिसके लिये जीवादि सात तत्वोंपर दृढ़ श्रद्धानकी आवश्यक्ता है। एक सम्यक्त प्रेमी आस्रव तत्वका विचार करते हुए जिन भावोंसे मोहनीय कर्मका विशेष अनुभाग पड़ता है उन भावोंके चिन्तवनमें रहकर यह सोचता है कि सत्यको असत्य कहना अवर्णवाद है–झूठी निन्दा है। ऐसा करना उचित नहीं है। इसलिये यह केवली अरहत, जिनवाणी, मुनिसंघ व श्रावक संघ व जिनधर्म व चार प्रकारके देव इनकी निन्दा नहीं करता है। वह जानता है कि केवली सर्वज्ञ वीतराग परम हितोपदेशी होते है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, चार घातीय कर्मोंसे रहित है।

अतएव नौ केवल लब्धियोंके–क्षायिक भावोंके अधिपति है। उनमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक परम यथाख्यात चारित्र, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य ये नौ भाव विद्यमान है। वे स्वरूपमग्न रहते हैं। उनके भावोंमें कोई आकुलता, कोई चिन्ता, कोई रागद्वेषकी कालिमा, कोई भूख प्यासकी बाधा नहीं पैदा होती है। उनमें अनन्त बल है, आत्म निर्मलताकी वेदना उनको नहीं होती। उनके शरीरको पोषणकारी नो कर्मवर्गणाएं उनके शरीरमें उसी तरह मिलती रहती

हैं, जैसे पृथ्वीकायिक व वनस्पतिकायिक प्राणियोंके शरीरको पुष्टि-कारक वर्गणायें आकर्षित होकर लेपाहारके रूपमें मिलती रहती हैं। उनके कर्मोदयकी अबुद्धिपूर्वक प्रेरणासे ही उपदेश या विहार होता है। उनकी परम शांति कोसों तकके जीवोंको शांतिप्रदान करती है, उनके सन्मुख वैर विरोधी जीव भी वैर छोड देते हैं। उनकी शांत मुद्रा देखकर परिणाम वीतराग होजाते हैं, उन्हींकी वाणी व उसके अनुसार ऋषिप्रणीत आगम ही श्रुति है, आदरणीय है।

इस श्रुतके अनुसार चलनेवाले सर्वदेश मुनि महाराज है। एक देश आर्यिका, श्रावक, व श्राविकाएं हैं। उनका उपदेश किया हुआ धर्म स्वपर हितकारक है। आत्माको सुख शांति देनेवाला व आत्माको शुद्ध करनेवाला है। पुण्योदयसे देवगतिमें प्राप्त जीव कभी मांस, मद्य नहीं खाते। उनके मन सम्बन्धी ही आहार है। वे बहुत रूपवान होते हैं। व्यवहारमें सर्व ही जिन मंदिरमें जाकर जिन भक्ति करते हैं। इसतरह श्रद्धा रखता हुआ वह कभी इनकी निंदा नहीं करता है। इनकी निंदा करना सत्यका तिरस्कार करके दर्शन मोहनीय कर्मका विशेष बंध करना है। इसतरहके विचारसे पुण्य बंध होता जान एक ज्ञानी मन, वचन, काय तीनोंको स्थिर करता है और तीनोंको पौद्गलीक पर जानकर तीनोंको छोडकर अपने उपयोगको उद्योग करके आपमें ही रमाता है। बस, यकायक स्वानुभवको झलकाकर परम सुख-शांतिका अनुपम भोग प्राप्त कर लेता है।

१९-चारित्रमोहनीय कर्मका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी तत्वप्रेमी स्वानुभवकी गुफामें प्रवेश करनेके लिये

नगर व ग्रामकी वस्ती रूपी सेर्वे पर आत्म व अनात्मभावोंसे अपनेको दूर करता है और परम एकाग्र होकर अपने ही भीतर तीन गुप्तिमय कपाटोंसे सुरक्षित स्वानुभव गुफामें तिष्ठ जाता है। तब जो आनन्द पाता है वह सिद्धोंके सुखसे किसी तरह कम नहीं है।

परन्तु इस गुफामें जानेका उत्साह सम्यग्दृष्टी महात्माको ही होता है। सम्यक्तकी ज्योतिके प्रकाशके विना स्वानुभवकी गुफाका दर्शन ही नहीं होता। प्रवेश करना तो दूर ही रहो।

वास्तवमें जीव दि सात तत्वोंके मननसे सम्यक्त गुण प्रकाशमें आ जाता है। करणलब्धिके परिणामोंके बलसे बाधक कारण मिट जाते हैं।

आस्रव तत्वका विचार करते हुए ज्ञानी चारित्र मोहनीयके अधिक अनुभागके कारणोंपर दृष्टिपात करता है तो विदित होता है कि कषायोंके उदयसे जो तीव्र भाव होते हैं वे ही कषायोंके बंधनमें विशेष कारण है। कितनोंको ऐसी आदत पड़ जाती है कि जरा जरासी बातमें स्वयम् भी क्रोधादि कषाययुक्त होजाते हैं व दूसरोंके भीतर भी कषाय उत्पन्न कर देते हैं।

मनस्वीजनोंके चारित्रको कषायसे दोष लगाते हैं, या स्वयं तपस्वी होकर चारित्रको सदोषी पालते हुए मैं तपस्वी हूं इस अहंकारके अश्वपर आरूढ रहते हैं, कषायके कारण संक्लेश भावोंसे किसी कारण नाराज होकर गृहत्यागी होजाते हैं, क्रोधके वशीभूत होकर परका बुरा विचारते हैं। मारन–ताडनके यंत्र मंत्र करते हैं। मानके वशीभूत होकर अपनी प्रतिष्ठा व परका अपमान चाहते हैं व ऐसा उद्यम करते हैं। मायाके वशमें पड़कर अनेक प्रकारके उपायोंसे परके

मनको वशीभूत करके अपना स्वार्थसाधन करते हैं। लोभाकुलित होकर पांचों इन्द्रियोंके विषयोंकी तृप्तिके लिये अन्याय द्वारा परको त्रास देकर भी स्वार्थका साधन करते हैं। ये भाव चार कषायके बन्धके कारण हैं, साधर्मी भाई बहिन व अति दीन दुःखी मानवोंकी हँसी उड़ाते हैं। बहुत बकवाद करके अट्टहास करते हुए समयका नाश करते हैं। नानाप्रकारके खेल तमाशोंमें आप लगते हैं, दूसरोंको लगाते हैं व्रत व शील पालनसे अरुचि करते व कराते हैं। दूसरोंका मन किसीकी तरफसे खट्टा करा देते हैं। व उनकी प्यारी चीजोंमें अन्तराय डाल देते हैं। व पुण्य कार्योंसे छुड़ाकर पाप कार्योंमें प्रेरित करते हैं। स्वयं शोकित होकर उदास रहते हैं, परको भी शोकित करते हैं। शोकित होते देखकर आनंद मानते हैं। निरंतर भयभीत रहते हैं व दूसरोंको भयवान बना देते हैं। धर्माचार व शुभाचारसे घृणा करके मायाचारसे प्रीति रखते हैं। दूसरोंके छिद्र ढूंढते हैं, कामभावकी अति तीव्रता रखते हैं। ये भाव स्त्री वेदके कारण हैं। क्रोध, मानकी मन्दता व स्वस्त्रीमें संतोष व कामभावकी अल्प रुचि पुरुष वेदका कारण है। तीव्र कामभाव, गुप्त इन्द्रियका छेदन, परस्त्री आलिंगन व आसक्ति आदि बहुत भारी कामवासनासे नपुंसक वेदका अनुभाग पड़ता है। इस तरह चारित्र मोहनीयके कारण भावोंको विचार कर जो उनसे बचते हैं, वे मोह शत्रुकी सेनाके आक्रमणसे अपनी रक्षा करते हैं।

यह सब विचार भी बन्ध हीका कारण है। अतएव ज्ञानी महात्मा इस संकल्प विकल्प रूप सर्व प्रकारकी मनकी चंचलताको स्वरूपाप्राप्तिमें बाधक समझ कर मनसे अतीत होजाता है। निश्चय

व व्यवहार दोनों नयोंका विचार छोड़ देता है। केवल अपने उप योगको अपने ही शुद्ध आत्मद्रव्यमें प्रवेश कराता है। स्वभूमिमें प्रवेश करके निश्चिन्त विश्राम करना ही स्वानुभव है। जो इस अमृत सागरको पाजाते हैं वे इसी रसको पीते हुए मगन रहते हैं।

२०-आयु कर्मका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी महात्मा जल और दुग्धके समान आत्मा और अनात्माका मेल होते हुए भी हंसके समान जल और दूधवत् आत्मा तथा अनात्माका पृथक्करण बुद्धिबलसे विचार कर अनात्मासे सर्वथा उदासीन होजाता है। अपने ही आत्मामें भ्रमर जैसे कमलमें आसक्त होजाता है वैसे आसक्त होकर विश्राम कर लेता है और जैसे भ्रमर सुगन्धके मोहमें ऐसा तन्मय होजाता है कि सन्ध्या समय कमल बन्द होगा, मेरा मरण होजायगा, इस शङ्काको भी अपने भीतर नहीं लाता है, उसीतरह ज्ञानी सर्व मन, वचन, कायकी चेष्टाओंको परित्याग करके आत्मरसमें मग्न होजाता है। यही स्वानुभव है। यही मोक्षमार्ग है। इसीका सेवन सर्व ही मोक्षपथके पथिक करते रहते हैं। इसके सिवाय और कोई मोक्षमार्ग नहीं है, और कोई आनन्द मार्ग नहीं है, और कोई आत्म कर्तव्य नहीं है, परन्तु इस आत्म रसका पान उसी महात्माको होता है जिसके अंतरंगमें सम्यग्दर्शनकी ज्योतिका प्रकाश जाज्वल्यमान होजाता है। जिसको यह लोक छः द्रव्यमय होते हुए भी अपने स्वभावमें नजर आता है।

सम्यग्दर्शनके शत्रुओंपर विजय पानेके लिये आवश्यक है कि सात तत्वोंका मनन किया जावे। आस्रव तत्वका विचार करते

हुये आयु कर्मके बंधमें किस तरह अधिक अनुभाग पड़ता है, कौनर भावोंमें कौनर सी आयु बंधती है इस बातका विचार करना मननकर्ताका कर्तव्य है। जिससे प्राणियोंको पीड़ा पहुंचे उसे आरम्भ कहते हैं। यह मेरा है ऐसी मूर्छाको परिग्रह कहते हैं। जहां न्याय पथको उल्लंघन करके बहुत आरम्भ किया जावे, बहुत ममत्व किया जावे, ऐसा कि जिससे धर्माचरणकी रंचमात्र परवाह न की जावे, मिथ्यात्वका पालन भी करले व हिंसादि पांचों पापोंको घोर तीव्रताके साथ करने लगजावे। परके नाशका, परके धन हरणका, मृषा बोलकर ठगनेका, तीव्र विषयोंकी गृद्धिका, कृष्णलेश्या जनित रौद्रध्यानका भाव निरंतर रखा जावे। पाप कार्योंके लिये धनका व्यय करे, धर्मकार्यमें कृपणता बतावे, मानके वश हो दु खितों व अनाथोंकी तरफ भी क्रूर भाव रखे, इत्यादि तीव्र निन्दनीय सात व्यसनोंके सेवनसे नरकायुका बंध पड़ जाता है। तीव्र कुटिल परिणाम रखनेसे, परको ठगनेके भावसे, मिथ्यात्व सहित उपदेश करनेसे शीलभाव नहीं पालनेसे, चुगली करनेके भावोंसे, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन व निदान सम्बंधी आर्तध्यानसे व नील व कपोतलेश्याके परिणामोंसे तिर्यंचायुका बंध पड़ जाता है। सन्तोषपूर्वक अल्प आरम्भ व अल्प परिग्रहसे, विनयरूप स्वभावसे, मन्द कषायसे, न्यायपूर्वक वर्तनसे, भद्रताके व्यवहारसे मनुष्यायुका आस्रव होजाता है। शांतिपूर्वक बध बंध भूख प्यासादि उपसर्गोंको सहन करनेसे, साधुका व देशव्रतीका सराग संयम पालनेसे, वैराग्य सहित परन्तु कदाचित आत्मज्ञान रहित कायक्लेशरूप तप करनेसे

देवायुका तथा सम्यग्दर्शन सहितके होते हुए या सम्यक्त्व सहित श्रावक व मुनिव्रत पालते हुए विशेष देवायुका आस्रव होता है। पीत पद्म, शुक्ललेश्याके धारी तिर्यंच तथा मानव देवायुको बांध लेते हैं। आयुकर्म एक प्रकारकी बेड़ी है, इसकी स्थितिके अनुसार इस संसारी जीवको किसी भवके जेलखानेमें रहना पड़ता है।

इस तरह चारों आयु न बन्ध सके इसका उपाय एक शुक्लध्यान है जो अपूर्वकरण गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है। ज्ञानी ऐसी भावना करता हुआ भी खेद है कि बहुत अंशमें बन्धके कारणीभूत इन विचारमालाओंको मनसे उतारकर पटक देता है और शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे अपने ही आत्माको शुद्ध देखने लगता है। वैसे ही पर आत्माओंको भी शुद्ध देखने लगता है। तब न कोई बन्धु, न कोई अबन्धु नजर आता है। एकायक साम्यभावका प्रवाह भावोंमें बहने लग जाता है। तब वह निश्चल होकर एक अपने ही आत्माके स्वाद लेनेके लिये आत्मामें ही एकाग्र हो जाता है। उपयोगको भ्रमण पांच इन्द्रियोंके व मनके विषयोंमें नहीं कराता है। छहों आयतनोंसे उसे निरोधकर उसे आत्मामें ही उसी तरह घुला देता है जैसे खार पानीमें निमककी डली घुल जाती है। यही स्वानुभव है। इसके उदय होनेसे यह जिस आनन्दका भोग करता है वह अनुभवगम्य ही है।

२१—नामकर्मका विशेष आस्रव।

एक ज्ञानी महात्मा स्वात्मरस पानका प्रेमी यह निश्चय करके कि स्वानुभवके गर्भसे ही स्वात्मरस सुधाका उत्पाद होता है, स्वानु

साधक लाभके लिये उद्यम करता है, भेदविज्ञानकी धुनी रमाता है। स्वपरको बड़ी सूक्ष्मतासे भिन्न २ देखता है। आत्माका तत्व आत्मामें, अनात्माका तत्व अनात्मामें धर देता है। तब अनात्मासे उन्मुख हो, आत्माके तत्वमें लुब्ध हो मगन होजाता है, झटसे स्वानुभवको पालता है, परन्तु इस तत्वकी अभिज्ञकी कला उसी महात्माके हाथमें आती है जो सम्यग्दर्शन रत्नको अपने भीतर झलका चुकता है। इस सम्यक्तका प्रकाश उसीको होता है जो सात तत्वोंके भावोंको जानकर मनन करता है। आस्रव तत्वमें विचार करते हुए यह जीव नाम कर्मका विशेष बंध किन भावोंसे करता है उनपर ध्यान दिये जानेसे प्रगट होता है कि मन, वचन, कायकी कुटिलतासे तथा परस्पर झगड़ा व लड़ाई करनेसे जो अपने शरीरकी आकृति बुरी व बेडोल बन जाती है उसीके साथ भावोंकी भी कुटिलता होती है उसी समय अशुभ नाम कर्मका बंध होजाता है जिसके फलमें शरीर अशुभ व बदसूरत प्राप्त होगा।

यदि हम मन वचन, कायको सरल रक्खेंगे और प्रेम व एकतासे वर्तेंगे झगड़ा टण्टा न करेंगे, मन, वचन, कायकी सरलताके कारण व शुभ आकृति रखनेके कारण व भावोंमें भी सरलताके कारण हम शुभ नामकर्मको बांध लेते हैं, जिसका विपाक सुन्दर शरीरको प्राप्त करना होगा। तीर्थंकर नामकर्म एक महान कर्म है। जो प्राणीको पूजनीय तीर्थंकरका पद दिलाता है उसका बन्ध प्रसिद्ध षोडशकारण भावनाओंसे होता है। उनको इस तरह भाना चाहिये—

(१) हम अपनी सम्यक्त्व निर्मल रखें। हम सम्यक्तके आठ अंगोंका पालन करें व आठ मद न करें। (२) हम धर्म मार्गमें भक्ति करें व पूज्यनीय पुरुषोंकी विनय करें। (३) हम पांच व्रत सातों शीलोंमें अतिचार न लगाकर उनको भले प्रकार निर्दोष पालन करें। (४) हम ज्ञानरूप व आत्मज्ञानका नित्य अभ्यास करें। (५) हम संसार शरीर भोगोंसे उदास रहकर मोक्ष व धर्मार्थमें प्रेम प्रीति करें। (६) हम अपनी शक्तिको न छिपाकर आहार औषधि अभय व ज्ञानदान करें। पात्रोंको भक्तिपूर्वक व दुःखियोंको करुणाभावसे देवें। (७) हम शक्तिको न छिपाकर उपवास, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यानका अभ्यास करें। (८) हम साधुओंके उपसर्गोंका निवारण करें। (९) हम सदा धर्मको पालें। (१०) हम श्री अर्हंत देवकी सच्ची भक्ति करें। (११) हम श्री आचार्योंकी सेवा करें। (१२) हम श्री उपाध्यायका बहुविनय पूर्वक मान करें। (१३) हम श्री शास्त्रकी सच्ची भक्ति करें। (१४) हम आवश्यक नित्य कर्मोंको न त्यागें। (१५) हम श्री जिनधर्मकी प्रभावना करें। (१६) हम साधर्मी भाइयोंसे वात्सल्य भाव रक्खें।

यह ज्ञान यद्यपि तत्त्वमननके लिये आवश्यक है तथापि बंधका कारण है। अतएव एक ज्ञाता इस विचारको बन्द करके जहां न नाम है न स्थापना है, न द्रव्य है न भाव है, न प्रमाण है न नय है, न कोई कहनेयोग्य वस्तु है, उस अवक्तव्य तत्त्वमें मौन

श्रुतके साथ एकाग्र हो तन्मय होजाता है। स्वानुभवका भाव झलका कर परम रस गर्भित आनंदका स्वाद पाता है और सच्चे मोक्षमार्गमें चलता हुआ मोक्षका पथिक होजाता है।

२२-गोत्र व अन्तराय कर्मका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मीक स्वादका प्रेमी होकर इस स्वादके लेनेके लिये अपने उपयोगको सर्व परद्रव्योंसे हटाता है। और श्रद्धा व ज्ञानद्वारा समझे हुए अपने ही शुद्ध आत्माकी भूमिकामें अपने उपयोगको जमा देता है। उपयोगका उपयोगवान आत्मामें स्थिर होजाना ही स्वानुभव है। इसका मूल कारण भेदविज्ञान है। भेद-विज्ञानकी दृष्टिसे निज आत्मा स्वस्वभावमें झलकने लगता है। जो कुछ इसके साथ पुद्गलका सम्बंध है व उस सम्बन्धमें जो कुछ विकार होता है वह आत्माका निज तत्व नहीं है। यही ज्ञान दृढ़-तासे होना ही भेदविज्ञान है। जिस किसी महात्माके भीतर अन्त-रात्मपना उदय होगया है अर्थात् जहां सम्यग्दृष्टिका प्रकाश होकर मिथ्यादृष्टिका तम विघट गया है वही भेदविज्ञानकी कलाका स्वामी होजाता है।

सम्यग्दर्शनका उदय अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मके उदयके अभाव विना नहीं होसक्ता है। इनके उदयको मिटानेके लिये यह आवश्यक है कि तत्वका दृढतापूर्वक मनन किया जावे। आत्मा अनात्माके भिन्न २ विचारका वारवार अभ्यास किया जावे। इस कार्यकी सिद्धिके लिये जीवादि ७ तत्वोंपर दृढ़ श्रद्धानकी आवश्यक्ता है। अतएव एक साधक आस्रव तत्वके विचारमें मगन

करता है कि गोत्रकर्मके बन्धमें क्या २ विशेष कारण है। परकी निन्दा करके प्रसन्न होना, परकी निन्दा सुनके राजी होना, अपनी प्रशंसा स्वयं करना, अपनी प्रशंसा सुनके राजी होना, अपने न होते हुए गुणोंका प्रकाश करना, दूसरोंके होते हुए गुणोंपर भी परदा डाल देना, अपनी उच्चता चाहना, परकी नीचता इच्छना, नीच गोत्रके आस्रवके कारण हैं। तथा अपनेमें गुण होते हुए भी अपनी निंदा करना, दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना, दूसरोंकी महिमा गाना, अपनेमें होते हुए गुणोंको भी ढकना, जो गुणोंमें उत्कृष्ट हों उनके साथ बड़ी भक्ति व विनयसे व्यवहार करना। आप ज्ञानादिमें महान भी हो तौभी मद न करके उद्धत भावसे न वर्तना, उच्च गोत्रके बंधके कारण भाव हैं। अन्तराय कर्म पांच प्रकारका है। कोई दान करता हो तो उसके दान होनेमें विघ्न कर देना दानान्तरायका कारणभाव है। किसीको द्रव्यादिका लाभ होना हो तो उसके लाभ होनेमें विघ्न डाल देना लाभान्तरायके बंधका कारण है। किसीके पास भोग सामग्री है, उसको वह भोग न सके ऐसी मन वचन कायकी चेष्टा करना भोगान्तरायका कारण है। बार बार भोगने योग्य वस्त्राभूषणादिको कोई भोग न कर सके ऐसा भाव करना उपभोगान्तरायके आस्रवका कारण है। किसीने शुभ कार्योंके लिये अपना उत्साह प्रगट किया उसके उत्साहको किसी भी तरह भंग कर देना वीर्यान्तरायके आस्रवका कारण है। दूसरोंकी उन्नतिमें बाधक होना अन्तराय कर्मका बंध करना है।

इस तरह विचार करनेसे सङ्कल्प विकल्प होता है, शुभ उपयोग होता है, जो कर्मके बन्धका ही कारण है।

अतएव ज्ञानी जीव अपने उपयोगको इन पुण्यबंधके कारण भावोंसे भी निरोध करता है और एक ऐसी भूमिकामें जाता है जहां न शुभ भाव हैं न अशुभ भाव है, उनको शुद्धोपयोगी भूमिका कहते हैं।

यह भूमिका वैराग्य रससे अति पवित्र होरही है। यहां आत्मज्ञानकी चमक फैल रही है। इस भूमिकामें विश्राम करनेसे सर्व आकुलताएं मिट जाती हैं, कषाय कालिमाका विकार नहीं उठता है। शुद्धोपयोगकी भूमिकामें तिष्ठना ही वास्तवमें स्वानुभव है। ये मन वचन काय रात्रि दिन कभी शुभमें व कभी अशुभमें दौड़ा करते हैं। उनकी इस घुड़दौड़को रोककर उनको ज्ञान वैराग्यके खूंटेसे बांध देना उचित है जिससे उनका निरोध होजावे तब उपयोगको छुट्टी मिले। उसको तब स्पर्शन रसना, घ्राण चक्षु व कर्ण इन्द्रियोंकी तथा नोइन्द्रिय मनकी गुलामी न करनी पड़े। वह स्वतंत्र होजावे शुद्ध होजावे, निर्विकार होजावे। ऐसी दशामें उपयोग अपने ही घरमें विश्रांति लेता है। अपने ही आत्मा स्वामीकी सेवा करता है। अपने ही आत्मा स्वामीके अद्भुत रूपका अवलोकन करता है। उसकी महिमामें एकतान होजाता है अर्थात् स्वानुभवका प्रकाश करता है। तब अनिर्वचनीय सुधाका प्रवाह जो बहता है उसको पानकर परम तृप्ति लाभ करता है।

२३–बन्ध तत्व विचार।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मीक आनन्दका प्रेमी होकर उस वस्तुकी खोजमें है, जहां वह आनंद होसके। तीन लोकके जड़ आदि

अजीव पदार्थोंके भीतर देखता है तो उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण व गति, स्थिति अवकाश व परिवर्तन हेतुपना आदि गुण तो है परन्तु आनंद गुण नहीं है। आनंदको अनुभव करनेवाला यदि न हो तो पर पदार्थके आश्रय भी आनंदका लाभ नहीं हो। यह प्राणी जब रागभाव सहित किसी पदार्थका भोग करता है तब उसको जो सुख अनुभवमें होता है वह सुख अपने ही भीतरसे प्रगट होता है। भोग्य पदार्थोंमें सुख नहीं है। उन पदार्थोंको भोग करते हुए राग-भावसे लिप्तना रखनेसे सुख अपने ही भीतरसे प्रगट होजाता है। यदि भोग्य पदार्थमें सुख हो तो एक दस मासके जो उस अमुक भोग्य पदार्थमें राग नहीं रखता है वह भोग्य पदार्थ भोगनेको दिया जावे तो वह रागभावकी लिप्तताके न होनेसे सुखका अनुभव नहीं कर सकेगा। यदि पदार्थमें सुख होता तो सबको ही सुख भासता, परन्तु ऐसा नहीं है। रागीको सुख भासता है, विरागी व उदासीनको व शोकातुरको नहीं भासता है।

जैसे श्वान हड्डी चबाता है तब उसकी डाढ़से खून निकलता है उसीको पीकर वह ऐसा मानता है कि हड्डीका यह स्वाद है, उसी तरह सुख तो अपने ही भीतरसे उठा है। परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मान लेता है कि पर पदार्थसे सुख मिला है। रागभावसे भोगा हुआ वैषयिक सुख सुख गुणका विभाव परिणमन है। जैसे—रागद्वेष मोह चारित्र गुणका विभाव परिणमन है। विभाव परिणमन खारे पानीके स्वादके समान तृप्तिकारी नहीं होता है। विषयके सम्पर्करहित यदि स्वाभाविक अतीन्द्रिय सुखको भोगा जावे तो निर्मल

पानीके समान असली सुखका स्वाद देता है व तृप्ति प्रदान करत
है। वास्तवमें आत्मामें ही सुख गुण है और वह स्वानुभवसे प्रा
होता है। इस बातका पता एक सम्यग्दृष्टी अंतरात्माको ही होत
है। इसलिये हरएक प्राणीको सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये
इसका व्यवहार साधन सात तत्वोंका ज्ञान प्राप्त करके मनन करन
है। सात तत्वोंके विचारमें आस्रवका स्वरूप कहा जा चुका है
बंध तत्वको अब विचारता है। कर्मवर्गणाओंका आकर आत्मा
प्रदेशोंमें ठहर जानेको बंध कहते हैं। जैसे आकाशमें मेघ छ
जाता है, धुम्र छा जाता है वैसे ही आत्माके प्रदेशोंमें कर्मवर्गणा
छा जाती हैं। जैसे मेघ आकाशको जकड़ लेते हैं वैसे क
वर्गणाएं आत्माको जकड़ लेती हैं। यह बंध आत्माके विभाव प
णमनकेद्वारा होता है। स्वभावसे आत्माके बंध हो नहीं सक्ता
जैसे कर्मोंके आस्रवमें योग और कषाय कारण है वैसे कर्मो
बंधमें योग और कषाय कारण है। आस्रव और बंधका कारण ए
ही है, कार्य दो हैं। प्रकृति और प्रदेश बंध योगोंसे व स्थिति त
अनुभाग बंध कषायोंसे होते है। कर्मोंमें स्वभाव पड़ना कि
ज्ञान ढकेंगे या मोह पैदा करेंगे यह प्रकृति है। कितनी स
कर्म पुद्गलोंकी बंधी सो प्रदेश बंध है। कितने कालतकके लि
उनका आत्माके प्रदेशोंके साथ सम्बंध रहेगा ऐसी मर्यादाका नि
सो स्थितिबंध है। उन संचित कर्मोंमें तीव्र या मंद फल द
शक्ति पड़ना अनुभाग बंध होता है। अतएव तत्वज्ञानी इस
पद्धतिसे मुक्त मोह अबंध व असंग एक निज आत्माकी तरफ झुक

। व सर्वसे उन्मुक्त हो आत्माके भीतर उसी तरह मग्न होजाता जैसे गंगामें डुबकी लगाई जावे। डुबकीका लगाना ही स्वानुभव है। बस, इस कलाके जागृत होते ही जो अपूर्व व अद्भुत आनन्द प्रगट होता है वह वचन अगोचर है।

२४—बन्धतत्व स्वरूप।

एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपनी स्वानुमति तियाके साथ रमण करनेके लिये परम उत्सुक होकर उसके पास पहुचनेका मार्ग—शोधन करता है। श्री गुरु द्वारा उपदेशित भेदविज्ञानका मार्ग ध्यानमें आजाता है। वस्तु प्राप्तिका साधन भेदविज्ञान है, ऐसा समझकर वह सर्व विचारोंको बन्द कर, भेदविज्ञानका अभ्यास करता है। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे यह ज्ञानी अपने आत्माको परमात्माके समान शुद्ध जानता है और सूक्ष्म व स्थूल शरीरको व राग, द्वेष, मोहादि विकारी भावोंको पुद्गल कृत विकार समझता है। इन सर्व-परम हेय बुद्धि धारण कर लेता है। परम साम्य भावसे निज आत्माके शुद्ध स्वरूपमें एकाग्र होजाता है। यही स्वानुभवका लाभ है, यही आत्मशुद्धिका उपाय है यह स्वात्मानन्दके पानका स्रोत है। सच्चा भेदविज्ञान सम्यक्दर्शनके विना प्राप्त नहीं होसकता है। जिस सम्यक्तका प्रकाश अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वके विषके उतरने पर होता है। इस विषके उतारनेका मंत्र स्वपर तत्वका मनन है। यह मनन तब ही होता है जब सात तत्वोंका ज्ञान प्राप्त हो। बंध तत्वके ऊपर एक ज्ञानप्रेमी विचार करता है तब यह समझता है कि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग रूप चार प्रकारका बंध

इस जीवके साथ स्वय अशुद्ध जीवकी योगशक्ति और कषायोंकी कालिमासे होजाता है। बध होनेके पश्चात् कर्म कुछ काल तक बिलकुल उदय नहीं आता है, फल नहीं देता है। एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति हो तो कर्मोंको पकनेमें १०० वर्ष लगते है। कमसे कम पकनेका काल या आबाधा काल एक आवली है, जो एक पलक मारने मात्र है। इस शरीरका बाधा हुआ पाप या पुण्य कर्म इस शरीरमें भी फल देता है और जबतक इसकी स्थिति पूर्ण न हो तबतक बराबर कई कई भवोंमें फल देता रहता है। कर्मोंका फल निमित्ताधीन है। अनुकूल निमित्तोंमें ही अनुकूल कर्म उदय आकर फल प्रगट करता है। नरकगति, तिर्यंचगतिमें उन ही गतियोंके अनुकूल मनुष्य व देवगतिमें उन ही गतियोंके अनुकूल कर्म उदयमें आकर फल देता है।

जैसे देवोंके उच्चगोत्रका ही उदय होगा, नरक व तिर्यंचोंके नीच गोत्रका ही उदय होगा व मनुष्योंके दोनों ही गोत्रोंका उदय होगा। निमित्त न होनेपर समयपर उदय आनेवाला कर्म विना फल दिये झड़ जाता है। पकनेका प्रथम काल छोड़कर स्थितिका जितना समय होता है उस समयके अनुकूल कर्मकी वर्गणायें बट जाती हैं। अपने बटवारेके अनुकूल वे अवश्य समय २ गिर पड़ती है। यदि हम शुभ निमित्त मिलावें तो बहुतसे पाप कर्मोंके फलसे बच सक्ते हैं। इस तरह बधकी कथा केवल बधकी ही करनेवाली है।

अतएव तत्वज्ञानी इस बध कथासे भी उदास होजाता है व कथाके जालसे रहित व मनके विकल्पोंसे शून्य, काय व्यापारसे

एक निज आत्माके निर्विघ्न शुद्ध स्वरूपमें प्रवेश करता है तब स्वानुभव रूपी उपवनमें प्रवेश कर जो सुख व शांति पाता है उसका विचार करना भी दुर्लभ है।

८५—संवरतत्व विचार।

एक ज्ञानी सर्व प्रकारके विकल्पोंको त्यागकर यह भावना भाता है कि मुझे आत्मानन्दका लाभ होजावे। इसलिये भेदविज्ञानके द्वारा अपने आत्माकी सत्ताको सर्व परकी सत्तासे भिन्न देखता है और सर्व परसे उदास होकर निजमें अपनी उपयोगकी प्रवृत्तिको रोकता है। निजमें निजका रमना ही स्वानुभव है। स्वानुभवके होते हुए अपूर्व परमानन्दका स्वाद आता है जिसका वर्णन किसी भी तरह किया नहीं जासक्ता है, परन्तु इस स्वानुभवके अमृतसागरमें उसी हीका प्रवेश होसक्ता है जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे विभूषित हो। सम्यग्दर्शन इस आत्माका निजगुण ही है। उसका आच्छादन अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्मके मैलसे होरहा है। इस कर्मकालिमाके मिटानेके लिये सात तत्वोंके निरन्तर मनन करनेकी जरूरत है। संवर तत्वपर विचार करते हुए एक ज्ञानी यह मनन करता है कि जिन २ मन वचन कायकी क्रियाओंसे आस्रव होता है उन २ क्रियाओंका निरोध कर देना संवर है। जैसे जिस छिद्रसे पानी आता हो उस छिद्रको बन्द कर देनेसे पानीका आना रुक जाता है। आस्रवके कारण पांच भाव हैं। उनके निरोधक भी पांच भाव हैं। मिथ्यात्व कर्मके असरसे मलीन भावोंके द्वारा जो कर्म आते हैं वे सम्यग्दर्शनसे उज्वल भावोंके द्वारा रुक जाते हैं। संसार आद-

रणीय है। विषयसुख ग्रहणयोग्य है। यही तो मिथ्यात्व है। ससार त्यागने योग्य है। विषयसुख विष तुल्य है। अतीन्द्रिय आनन्द ही ग्रहण करने योग्य है। यह रुचि सम्यक्त है। मिथ्या रुचिसे आनेवाले पापकर्म सम्यक् रुचिके प्रतापसे रुक जाते है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील तथा परिग्रह भावोंमें मग्न होनेसे जो कर्म आते हैं वे कर्म इन पाच पापोंको त्याग कर देनेसे व अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म चर्य तथा अपरिग्रह भावमें रमण करनेसे निरोध होजाते है। प्रमाद भावसे वर्तन करते हुए असावधानीसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करते हुए, रागद्वेषोंमें रमण करते हुए जो पापकर्म आते है वे पाप कर्म अप्रमादभावमें रमण करते हुए व स्वात्मानंदकी ओर सन्मुख होते हुए रुक जाते हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभके द्वारा व हास्य, रति, अरति, शोक, भय, घृणा, व स्त्री वेद, पुवेद, नपुसक वेदद्वारा जो भावोंकी कलुषता होती है उससे जो कर्म आते है वे कर्म इन कषायोंको निरोध करनेसे तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन, तथा उत्तम ब्रह्मचर्यमें वर्तन करते हुए रुक जाते हैं।

मन, वचन, कायकी क्रियामे जो कर्म आते है वे उस क्रियाके विरोधसे रुक जाते है। अशुभ मन, वचन, कायकी क्रियासे आने-वाला कर्म शुभ मन वचन कायकी क्रियामें रक्त होनेसे रुक जाता है। शुभ मन, वचन, कायकी क्रियामें रक्त होनेसे जो कर्म आते हैं वे मन, वचन कायकी गुप्तिमें रमनेसे व निर्विकल्प आत्म-समाधिमें जमनेसे रुक जाते हैं।

क्योंकि भाव कर्मोंके भाव अनेक प्रकारके होते हैं। इसलिये उनका रक्षा करनेवाले भाव भी अनेक प्रकारके होते हैं। सदा हरएक विचार करनेसे उस ही तरह अपनी रक्षा अनुकूल मालूम होता है जिस तरह रक्षाके उपायोंको काममें करनेसे अपने आत्माकी रक्षा चार डाकुओंसे व शत्रुओंसे होती है।

इस तरह मन स्वरूप विचारमें उलझनेमें भी मजा नहीं होता है। किन्तु पुण्य कर्मकी मुख्यताम आस्रव तथा बंध होता है। अतएव विरक्ती आत्मा इन सर्व विचारोंको छोड़ देता है और अपने ही स्वरूपमें प्रकाश होनेके लिये स्वानुभवके द्वारा अपनेको पासे भिन्न जानता है। और पुरुषार्थ करके उपयोगको सर्व तरफसे थांभकर उसे अपने आत्मामें ही तल्लीन करता है। यह उपयोगकी थिरता ही स्वानुभवकी कला है। इसीको मोक्षमार्ग कहते हैं। यही वह अमृतसागर है जहां निमग्न होते हुए साधकको निरन्तर सुख शांतिका लाभ होता है और परम सन्तोष प्राप्त होता है।

२६—दशलक्षण धर्म।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके अन्य विचारोंको रोक करके एक निजात्माका ही अनुभव अर्थात् स्वाद लिया करता है। क्योंकि जो अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द आत्माके भीतर है वह अन्य किसी भी द्रव्यके भीतर नहीं है। भेदविज्ञानरूपी मित्र सर्व पर पदार्थोंको, पर भावोंको व पर पर्यायोंको बुद्धिके पाससे हटा देता है और केवल एक शुद्ध आत्माको ही सामने लाकर खड़ा कर देता है। उसीके व अनुपम रूपमें लगातार टकटकी लगाकर देखना ही

स्वानुभव है। परन्तु यह आत्मीक आनन्द उसी महात्माको मिलता है जिसके भीतर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नका प्रकाश होगया है। उसका प्रकाश उसीको होता है जो मोहनीय कर्मको जीतता है। मोहनीय कर्मके जीतनेका उपाय जीवादि सात तत्वोंका मनन है। सबर तत्वका विचार करते हुए उन भावोंका शरण लेना योग्य है, जिन भावोंसे आत्मा क्रोधादि भावोंमें सुरक्षित होसके। वास्तवमें इस आत्माको स्वभावमें पटकनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय हैं। इनको क्षीण करनेका उपाय दशलक्षण धर्मका विचार है। कष्ट पानेपर भी क्रोधके स्थानपर सहनशीलता वर्तना, निमित्त कर्तापर रुष्ट न होना उत्तम क्षमा है। विद्या, तप, धन, अधिकार, रूप, बल आदिमें उत्तम व महान होनेपर भी इन क्षणिक पर्यायोंसे उन्मत्त भाव न करके परम मृदु रहना व अपमानित होनेपर भी मान भाव न करना उत्तम मार्दव है। किसी भी स्वार्थकी सिद्धि करनेके हेतुसे किसी भी तरहकी मायाचारी न वर्तन करके मन, वचन, कायके वर्तनको सरल रखना उत्तम आर्जव है। पदार्थका सत्य स्वरूप विचारना व सत्य ही कहना व सत्य मार्गपर चलना, उपसर्ग पड़नेपर भी असत्यका विकल्प न करना उत्तम सत्य है। लोभ भावको जीतकर संसारके पदार्थोंका सम्बन्ध क्षणिक जानकर उनकी तृष्णाको निरोध करके पवित्र भाव रखना उत्तम शौच है। मन व इन्द्रियोंकी चंचलता मेटकर व परम करुणाभाव लाकर आत्माके स्वभावमें भले प्रकार रुकना उत्तम संयम है। उपवासादि तपकेद्वारा आत्माको ध्यान अग्निमें तपाना उत्तम तप है। सर्व मोह त्यागकर

जीवमात्रको समभावसे देखना व सबको सुखी होनेका भाव रखना उत्तम त्याग है। किसी भी वस्तुमें ममत्व न करके सन्तोषमें बर्तना उत्तम आकिंचन है। बाहरी ब्रह्मचर्यद्वारा आत्मामें एकतान होना उत्तम ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार दश धर्मोंका विचार क्रोधादि कषायोंको जीतता है तथापि स्वानुभवको पैदा नहीं करता है। जो कोई सर्व विचारोंको रोक कर आत्मा ही आत्मामें आनन्दामृत रसका पान करता है वही स्वानुभवको पाकर स्वतन्त्रताका सेवी होजाता है।

२७—बारह भावनाएं।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व अन्य विचारोंको रोककर भेदविज्ञानके प्रतापसे स्वानुभवका अभ्यास करता है। आप जो है सो है, जैसा है वैसा है, आपमें सर्व भिन्न कल्पनाओंको त्यागकर आप आपमें थिर होकर आपका ही स्वाद लेना स्वानुभव है। सम्यग्दर्शनका धारी महात्मा ही इस अपूर्व लाभको प्राप्त कर सका है। इसका प्रकाश तत्वोंके मननसे होता। सात तत्वका विचार करते हुए यहां आज द्वादश भावनाओंका विचार किया जाता है जिससे उपादेयकी रुचि व हेयकी अरुचि उत्पन्न हो।

जगतमें सर्व ही बाल, वृद्ध, युवा अवस्था व सर्व नगर, राज्य, मंदिर, भंडार, वस्त्रादिकी अवस्था नाशवन्त है। इसलिये क्षणिक पदार्थोंमें मोह न प्राप्त करके मूल द्रव्योंकी नित्यता व उनकी पर्यायोंकी अनित्यतापर लक्ष्य देना चाहिये। कोई भी प्राणी मरणसे आयुके व तीव्र कर्मके उदयसे बच नहीं सक्ता। कर्मोंके तीव्र विपा

कमें कोई रक्षा नहीं कर सक्ता है। सर्व कोई अशरण है। शरणमें जानेके लिये योग्य एक अपना ही आत्मद्रव्य है या अर्हंतादि पांच परमेष्ठी हैं। संसार दुःखोंका घर है व असार है, सुखशांतिका विरोधी है। तापादि दुःखोंका कारण है। भव भव भ्रमण जीवको अनिष्टकारी है। इससे संसार त्यागने योग्य है तथा संसारसे रहित मोक्षावस्था ग्रहण करने योग्य है। इस जीवका स्वभाव सर्व अन्य जीवोंसे व पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे भिन्न अपने निज रूपमें है। यह अकेला ही है। अकेला ही इसे भ्रमण करना पड़ता है व अपने पाप या पुण्यका फल अकेले ही भोगना पड़ता है। इस जीवका कोई साथी नहीं है। सर्व ही कुटुम्ब परिवार धन धान्य शरीरादि अन्य अन्य है, छूट जानेवाले हैं। न रागादि विभाव जीवके हैं न ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म हैं। यह शरीर महान अशुचि है, नाशवत है। इसके संयोगसे आत्महित करलेना ही बुद्धिमानका कर्तव्य है। अपने ही मन वचन कायकी शुभ व अशुभ क्रियाओंसे यह जीव स्वयं ही कर्मोंका आस्रव करता है। कर्मोंके मैलका संग्रह योग और कषायोंसे होता है। मन वचन कायके निरोध करनेसे तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके प्रभावसे कर्मोंका आना रुक जाता है। आत्मध्यान पूर्वक वीतरागताके प्रभावसे बहुतसे कर्म विना फल दिये हुए झड़ जाते हैं।

तीन लोक जीवादि छः द्रव्योंसे भरा है, अनादि अनन्त अकृत्रिम है। यह लोक द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, पर्यायके बदलनेकी अपेक्षा अनित्य है। सम्यग्ज्ञानका लाभ बहुत ही कठिन है। यदि

यह प्राप्त होगया है तो इस बहुत सम्हालके साथ रखना चाहिये । तथा इसके प्रतापसे आत्माको परमात्मा बना देना चाहिये । धर्म आत्माका स्वभाव है । धर्म ही उत्तम सुखको देता है व कर्मोंका नाश करनेवाला है । धर्मसे ही जीवका परम हित होता है । इस प्रकार बारह भावनाओंका विचार करनेसे संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य होता है व अपने आत्मीक स्वभावमें प्रेम बढ़ जाता है। यह बारह भावनाओंका विचार भी बंध होका कारण है। अतएव बंध रहित होनेके लिये यह ज्ञानी सर्व प्रकारके भावोंसे अपनको हटाता है । और एकाकी आत्मीक शुद्ध परिणतिमें अपनेको ठहराता है। आप अपनेमें ही रह जाना ही स्वानुभव है। यही परमानंदका दाता परम उपादेय निजतत्व है। यही मोक्षमार्ग है व यही मोक्ष है।

२८–सामायिक चारित्र ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्वप्रकारके विचारोंको रोक करके एक निज आत्माके ही गुण व पर्यायोंका विचार करता हुआ, अपने आत्माको परम भिन्न समझता हुआ भेदविज्ञानका बारबार अभ्यास करता है । इस अभ्यासके प्रतापसे जब कभी उपयोग स्थिर होता है तब स्वानुभवका प्रकाश हो जाता है, परन्तु इस स्वानुभवका काम उसी महात्माको होता है जिसके भीतर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नका झलकाव जीवादि सात तत्वोंके मननसे होता है । संवर तत्व बड़ा ही उपकारी है यह आते हुए कर्मोंको रोक देता है । संवरका श्रेष्ठ उपाय मन, वचन, कायकी गुप्तिरूप सामायिक है ।

रागद्वेष मोहका त्याग होकर समभावका झलकना ही सामा

यिक है। प्रथम तो मोहको हटाना चाहिये। बुद्धिमान वही है जो सार वस्तुमें प्रेम करे व असारमें मोह न करे। जगतकी सम्पूर्ण अवस्थाएं क्षणभंगुर, बदलनेवाली तथा असार हैं। नगरका श्मशान होता है, श्मशानका नगर होता है। बालकसे युवा व युवासे वृद्ध होता है। निरोगी रोगी होजाता है। धनिक निर्धन व मित्र शत्रु होजाता है। स्वार्थका सब नाता है। जिस शरीरके आश्रय जगतके प्राणियोंका सम्बन्ध है वह शरीर नाशवंत है। तब फिर सर्व सबंध थिर कैसे होसक्ते हैं। सार एक अपना ही निज आत्मा है, वही प्रेमपात्र होने योग्य है, और कोई भी सार नहीं है। इसलिये जगतका कोई भी चेतन व अचेतन पदार्थ मोहके योग्य नहीं है। जिस जिससे राग किया जाता है उस उसका वियोग होजाता है। जिस जिससे द्वेष किया जाता है उस २ से भी वियोग होजाता है। नाशवंत पदार्थोंकी पर्यायोंसे रागद्वेष करना निरर्थक है। केवल अज्ञानताको ही बढ़ानेवाला है। जितनी पर्याय हैं वे सब क्षणिक हैं उनका दर्शन व्यवहारनयकी दृष्टिसे होता है। निश्चयनयकी दृष्टि पर्यायोंको न दिखाकर द्रव्योंको उनके यथार्थरूपमें दिखाती है। इस दृष्टिसे देखना ही सामायिक भावके लानेका उपाय है।

निश्चय दृष्टिसे देखते हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल छहों द्रव्य अपने २ मूल स्वभावमें शुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। जितने जीव हैं वे भी शुद्ध एकाकार परम वीतराग परमानंद मय दीखते हैं। जितने पुद्गल हैं वे सब परमाणुरूपसे भिन्न २ निर्विकार नजर आते हैं, तब रागद्वेषकी उत्पत्तिके कोई कारण नहीं

रहते हैं । इस तरह जब समताभाव प्राप्त होजावे तब साधक अपने ही आत्माकी तरफ लक्ष्य देता है । और उसको ही ग्रहण करके उसीके शुद्ध स्वभावमें एकाग्र होजाता है । तब परम सामायिक भाव प्राप्त होता है । यह परम संवर रूप तत्व है । इसके प्रतापसे बहुतसे कर्मोका आस्रव रुकता है । इस सामायिक भावमें मन, वचन कायकी चञ्चलता बंद होजाती है । अतएव तीन गुप्तिमय दुर्ग तैयार होजाता है । इस दुर्गमें विश्राम करना सर्व कर्मरूपी चोरोंको दूर रखनेवाला है ।

सामायिक भाव संवर भाव है । ऐसा विचार करनेसे भी यथार्थ साम्यभाव नहीं मिलता है । शुभोपयोगकी छाया रहनेसे कर्मका बंध रहता है । तब मुमुक्षु जीव सर्व विचारोंकी तरंगोंको निश्चल करता है । और एक बड़ी ही सूक्ष्मदृष्टिसे कर्मोंके पुञ्जके मध्यमें विराजमान अपने आत्मारामके दर्शन पालेता है । तब सर्व और द्रव्योंको त्यागकर टकटकी लगाकर एक अपने ही आत्माके शुद्ध चित्रको देखता रहता है । आत्माके शुद्ध चित्रमें एकतानता प्राप्त करना ही स्वानुभव है । यही जन्मजरामरण रोगोंके शमनकी परम औषधि है । यही वह मंत्र है जो मोहरूपी विषम भयानक सर्पको वश कर लेता है । यही वह नौका है जिसपर चढ़कर साधक सीधा मोक्षद्वीपमें बढ़ता चला जाता है । यही वह शस्त्र है जो कर्मशत्रुओंको खंड खंड कर देता है । यही वह रस है जिसे पीनेसे भव्य जीव अजर अमर होजाता है ।

२९–निर्जरा तत्वविचार ।

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञानके प्रतापसे अपनेको परब्रह्म

स्वरूप देखता हुआ उसीके ज्ञानमें तन्मय होकर जब वर्तन करता है तब स्वानुभवको जगा लेता है। इस स्वानुभवरूपी कलाका प्रकाश वही कर सक्ता है जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे विभूषित हो। इस रत्नका झलकाव तब ही होता है जब जीवादि सात तत्वोंके मननसे अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्मका उपशम किया जावे। एक आत्मप्रेमी अब निर्जरा तत्वका विचार करता है। कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर झड़ते हैं, उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा गजस्नानके समान है, क्योंकि उसके साथ नवीन बन्ध भी होजाता है। जब कर्मोंकी स्थिति घटाकर समयके पहले उन्हें खिरा दिया जाता है तब उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

इस निर्जराके लिये वीतराग भावोंकी आवश्यक्ता है। आत्माके स्वरूपकी ओर प्रेमालु होकर जब आत्मस्थ हुआ जाता है तब आत्मध्यान जागृत होजाता है। यही आत्मध्यान विपुल अविपाक निर्जराका कारण है। जिस ध्यानमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रकी एकता होती है वही वास्तवमें आत्मध्यान है। जहां आत्माका ही आत्मा रूप निश्चय है, आत्माका ही आत्मा रूप ज्ञान है, आत्माका ही आत्मारूप वर्तन है वही निश्चय रत्नत्रयकी एकतारूप आत्मध्यान है। इसे ही स्वानुभव कहते हैं। स्वानुभव ही वास्तवमें प्रचुर कर्मोंको जलानेके लिये अग्नितुल्य है। इस तरह निर्जरा तत्वका विचार करना भी बंध हीका कारण है अतएव यह विचार भी त्यागने योग्य है।

मन, वचन, कायका जितना भी परिणमन है वह सब पर है। इस परसे उपयोगको हटकर स्वस्वरूपमें अनुरक्त होना ही स्वानु

भव है । स्वानुभवके समयमें मैं हूं, ऐसा मैं हूं, ऐसा मैं नहीं हूं, ऐसा मैं था, एसा मैं नहीं था इत्यादि तीन काल सम्बन्धी परिणमनोंका कोई भी विचार नहीं है । स्वानुभव एक ऐसी विद्या है, जो प्रकाश करनेयोग्य नहीं है । यही वह विद्या है जिससे कर्मोंके पटल हटाये जासकते हैं और केवलज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश होजाता है । धन्य है, स्वानुभव ही भवसिंधुसे पार करनेवाला अद्भुत जहाज है ।

३०—बाह्य छ तप ।

एक तत्वज्ञानी महात्मा सर्व प्रपंच जालोंसे रहित होकर आत्मा और अनात्माका भेदविज्ञान प्राप्त करके अनात्मासे उन्मुख होकर जब अपने ही आत्माके सन्मुख होता है, तब एकायक स्वानुभवका प्रकाश कर पाता है । स्वानुभवका जागृत होना ही मोक्षमार्ग है । यही निश्चय रत्नत्रयका प्रकाश है । यही साधन है जिससे स्वात्म सिद्धि होती है ।

भेदविज्ञानकी सूक्ष्म कला उसीको सूझती है जो वास्तवमें सम्यग्दर्शन गुणसे विभूषित होजाता है । यह गुण हरएक आत्माके पास है । जिसके भीतरसे अनतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वका कटुक रस नहीं निकला है वह सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश नहीं कर सक्ता है।

इसके विकाशके मिटनेका उपाय जीवादि सात तत्वोंका मनन है । निरंतर तत्वपर विचार करते हुए तत्की स्मृति आजाती है । वास्तवमें आत्मध्यान ही तप है जिससे सचित कर्म अपनी स्थितिके पहले ही गिर जाते हैं । इस आत्मध्यानका लक्ष्य रखते हुए जो कोई साधन ध्यानमें उपकारी है उनको भी तपके नाममे कहा गया

है। जिन तत्वोंका बाहरी दिखाव हो व जिनका असर मुख्यतासे शरीरपर पड़े, उन तत्वोंको बाहरी तप कहते हैं। वे तप ■ हैं--

(१) खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय चार प्रकार आहार न करके जहां खानपान वाणिज्य व्यापारकी चिंताओंसे निर्वृत्त होकर अपना समय व अपनी शक्ति आत्मचिन्तवन, अध्यात्म शास्त्र पठन, श्री जिनेन्द्र भक्ति आदि वीतरागता वर्द्धक कार्योंमें लगाई जावे वह उपवास तप है। यह तप इन्द्रियोंके निग्रहमें, प्रमादको विजय करनेमें, शरीरकी शुद्धिमें व मनकी पवित्रतामें परम सहायक है।

(२) ऊनोदर-तप बताता है कि कभी पेटभर न खाओ, कुछ कम खाओ जिससे प्रमाद न सतावे निद्रा न आवे, रोगोंका जन्म न हो, मन, वचन, काय कुशलतासे आत्मचिंतवनके सहकारी कार्योंमें वर्तन कर सकें। ज्ञानी विचारवान प्राणी अपनी भूखके चार भाग करते हैं। दो भाग भोजनसे व एक भाग पानीसे भरते हैं और एक भाग खाली रखते हैं जिससे भोजन सुगमतासे पच सके।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान-इच्छाओंको वश करनेके लिये साधुगन कोई प्रतिज्ञा धारण कर लेते हैं, उसका प्रकाश नहीं करते हैं। यदि वह प्रतिज्ञा पूरी होती है तब वे आहार करते हैं। यदि पूरी न हुई तो संतोषसे लौट आते हैं, कुछ भी कष्ट नहीं मानते हैं। ये प्रतिज्ञाएं ऐसी करते हैं जिनके कारण गृहस्थोंको कुछ भी विशेष आरम्भ न करना पड़े व साधुके शरीरकी व मनकी स्थिरता बनी रहे। यही वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

(४) रसपरित्याग-जिह्वा इन्द्रियकी लोलुपताके कारण छ

रस प्रसिद्ध हैं। मीठा, लवण, दूध, घी, दही, तैल। इन रसोंकी लोलुपताका त्यागभाव रखते हुए इच्छा दमनके हेतु एक या अनेक रसोंका त्याग कर देना, सो रस परित्याग है। साधुजन रसोंका त्याग करते हुए अपना त्याग प्रकाश नहीं करते हैं। यदि प्रतिज्ञाके अनुकूल आहार मिलता है तो ग्रहण करते हैं नहीं तो संतोष धारण करते हैं।

(५) विविक्तशैयासन—आत्मध्यान, स्वाध्याय, साम्यभाव व वैराग्य तथा ब्रह्मचर्यकी रक्षाके हेतु एकान्तमें शैया व आसन रखना विविक्तशय्यासन तप है। यह आत्मानुभवमें परम सहायक है।

(६) कायक्लेश—शरीरकी सुखियापनेकी आदतको टालनेके लिये कठिन भूमिपर, पर्वतपर, नदीतटपर, वृक्षके नीचे एक आसनसे कितनी ही देर खड़े या बैठकर ध्यान करना कायक्लेश तप है। दूसरोंको दीखे कि साधु क्लेश भोग रहे हैं परन्तु साधकका भाव हैरान न हो किन्तु आत्मचिंतवनमें रक्त होकर आनंदित रहे।

इस तरह चिन्तवन करना भी बंधका ही कारण है। अतएव तत्वज्ञानी सर्व चिन्तवनके प्रपंचको छोड़कर एक निगुणमय आत्मीक गुफामें बैठ जाता है और वहां निजात्मीक गुणोंकी मालाका जाप करते हुए जपसे भी निवृत्त हो जब अभेदभावमें तन्मय होजाता है, तब यकायक स्वानुभवको पाकर जो आनन्द भोगता है वह वचन अगोचर है।

३१—छ अतरंग तप।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे मुक्त होकर जब तत्वका विचार करता है और भेदविज्ञानकी शरणमें जाता है तब उसे

अपना आत्मा सर्व परसे भिन्न दिखलाई पड़ता है। वह एक अपने ही आत्माकी तरफ उपयोगको जोड़ता है तब ही स्वानुभव झलक जाता है। यथार्थ भेदविज्ञान सम्यग्दर्शनके प्रकाश विना नहीं हो सक्ता। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि सात तत्वोंका मनन किया जावे, जिससे भेदविज्ञानकी कला प्रकाशमें आवे। निर्जरा तत्वका विचार करते हुए यह ज्ञानी अतरग छः तत्वोंपर दृष्टिपात करता है। जिनका सम्बन्ध केवल जीवके परिणामोंसे मुख्यतासे हो उनको अतरग तप कहते हैं—

(१) प्रायश्चित्त—जैसे विवेकवान अपने कपड़ोंको स्वच्छ रखता है, कहीं मिट्टीका या स्याहीका धब्बा लग जाता है तो तुर्त पानीसे उसको साफ कर देता है, वैसे ही ज्ञानी अपने नियम व्रत व प्रतिज्ञाओंको पवित्रताके साथ पालता है। यदि कोई प्रमादसे या लाचारीसे किसी नियममें अतीचार या दोष लग जावे तो उसका यथार्थ निराकरण गुरु द्वारा दिये हुए व्रत पालनसे व शुद्ध भावमें रमणरूप भाव प्रायश्चित्तसे कर डालता है। सदा ही यह ज्ञानी प्रायश्चित्त तपके द्वारा अपने भावोंको पवित्र रखता है।

(२) विनय—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये ही रत्नत्रय मोक्ष साधक है। इनकी ओर बड़ा ही आदरभाव रखना तथा रत्नत्रय धारियोंकी विनय करना, उनका स्वागत करना सो विनय तप है। इसमें अतरगमें विशेष धर्मानुरागकी आवश्यक्ता है।

(३) वैयावृत्य—रत्नत्रयके साधकोंकी तरफ प्रेम रखके उनकी सेवा चाकरी इस तरहसे करना, जिससे अपने नियम, व्रत, संयममें

कोई बाधा न आवे व उस मोक्ष साधकका परिणाम खेदसे मुक्त होकर रत्नत्रयके पालनमें हर्षायमान होजावे । इसमें भी मोक्षमार्गकी गाढ़ रुचि आवश्यक है ।

(४) स्वाध्याय–आत्ममनन ही मुख्य स्वाध्याय है । इस ही हेतु मोक्षमार्ग प्रदर्शक ग्रंथोंका बड़ी रुचिसे पढ़ना, कहीं शंका हो तो विनयसहित पूछना, जानी हुई बातको वारवार विचारना, शुद्धताके साथ कण्ठस्थ करना, धर्मोपदेश करना स्वाध्याय तप है । उसके द्वारा अज्ञानका नाश होता है, कषायोंका बल घटता है, वीतरागताका भाव जागृत होता है ।

(५) व्युत्सर्ग–अन्तरङ्ग बहिरङ्ग सर्व परिग्रहसे ममता टाल कर शरीरसे भी निर्ममत्व होजाना, मनको ममतासे खाली कर डालना व्युत्सर्ग तप है ।

(६) ध्यान–धर्म आत्माका स्वभाव है, उस आत्माके स्वभाव पर चित्तको एकाग्र करना ध्यान है । ध्यान ही मुख्य अंतरङ्ग तप है । आत्मध्यानसे ही कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है ।

इस तरह अन्तरङ्ग छ तपोंका विचार करते हुए विचारकको विकल्पोंकी तरंगोंमें ही कल्लोलित होना पड़ता है । इसलिये तत्वज्ञानी इस बधकारक मार्गसे उन्मुख होता है और आत्मा ही की तरफ झुक जाता है । आत्माके परम शांत और आनंदमय उपवनमें क्रीड़ा करतेर जब परिणति थिरता भावको प्राप्त होती है तब स्वानुभवका प्रकाश होता है । स्वानुभव होते ही परमानंदका स्वाद आता है, जो कि स्वाभाविक निराकुल सुख है ।

३२–चार प्रकार धर्मध्यान।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चजालोंसे रहित होकर एकांतमें जब विचारता है तब उसे पता चलता है कि स्वानुभव कहीं बाहर नहीं है। अपने ही रसका स्वाद लेना स्वानुभव है। आप आप ही प्रकाशमान है। जब आपमें परका विकार नहीं हो तब ही स्वानुभवका झलकाव होता है। सम्यग्दर्शन रूपी प्रकाश जिस आत्मामें होता है वही स्वानुभवको प्राप्त कर सक्ता है। सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश जीवादि सात तत्वोंके मननसे होता है। तपके सम्बन्धमें विचार करते हुए देखा जावे तो तप ही वह अग्नि है जिसमें तपानेसे आत्माका मैल कटता है और यह आत्मा शुद्ध होता है। आत्माका अपने स्वरूपमें तपना ही तप है। जहां एक आत्माको ही मुख्य करके उसीके स्वादमें रमा जावे वही ध्यानरूपी तप परमोपकारी है। यद्यपि आत्मामें एकाग्रताका नाम ध्यान है तथापि यदि आत्माके गुणपर्यायोंका ही विचार रहे और राग द्वेष वर्द्धक विचारोंका अभाव रहे तब भी उस वर्तनको धर्मध्यान कहते हैं। ऐसे धर्मध्यानके चार भेद हैं—

(१) आज्ञा विचय–जिनेन्द्रके आगमकी आज्ञानुकूल जीवादि तत्वोंका, दश धर्मका, मुनि व श्रावक धर्मका, १२ तपका, १२ भावनाका आदि आगमके विषयोंका विचार करना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(२) अपाय विचय–हमारे मिथ्यात्वका व अज्ञानका व रागद्वेषका नाश कैसे हो तथा जगतके प्राणियोंका अज्ञान कैसे

हट, वे कैसे निज स्वरूपमें रमण करके परसे मोह छोड़ें, कैसे वे आत्मीक उपवनमें रमण करें इत्यादि विचार करना अपायविचय है।

(३) विपाक विचय–कर्मोके फलोंका विचारना कि मेरे या दूसरे जीवोंकी जो अतरङ्ग या बहिरङ्ग अवस्थाएं होरही हैं उनका कारण क्या है। किसर कर्मके उदयसे क्या २ पर्याय प्रगट होती है। साता वेदनीयादिका उदय सुखका, जब कि असातावेदनीयादिका उदय दु खका कारण है। इस धर्मध्यानके प्रतापसे दु खोंमें शोक तथा सुखोंमें उन्मत्तता नहीं होती है। समताभावका प्रचार होता रहता है। जितनी भी सासारिक अवस्था है उनका मूलकारण कर्मोंका उदय रूप विचारना व अपनेको कर्मोदयसे भिन्न अनुभव करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

(४) सस्थान विचय–इस लोकका स्वरूप व आकार विचारना या यह सोचना कि यह लोक छ द्रव्योंका समुदाय रूप है। द्रव्योंका स्वरूप निश्चयनयसे व व्यवहारनयसे विचारना तथा आत्माका असख्यात प्रदेशी आकार विचारना व इसका असल स्वरूप ज्ञाता द्रष्टा आनदमई है, ऐसा मनन करना सस्थानविचय धर्मध्यान है।

इसतरह धर्मध्यानरूप तपका विचार वचरता रूप होनेसे बध हीका कारण है। इसलिये ज्ञानी जीव इस विचारसे अपने मनको हटाता है और एक निज आत्माकी ही तरफ सन्मुख होता है, पाच इन्द्रिय व मनके विचारोंको छोड़ता है, आत्मामें ही आत्माको विराजमान करता है, तब यकायक स्वानुभव झलक जाता है। स्वानुभव अमृतमई सागर है। जब यह सागर आत्माकी

भूमिमें वहने लगता है, इसके स्पर्शमात्रसे जो शांति मिलती है वह वचन अगोचर है। जब कोई उसमें अवगाहन करता है व उसके अमृतका पान करता है तब तो अपूर्व सुख होता है। वह तो विचारमें भी नहीं आसक्ता।

३३–पिंडस्थादि चार ध्यान।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मशांतिके लाभके लिये स्वानुभवरूपी उपवनमें क्रीड़ा करता है। भेदविज्ञानके विवेकसे आत्माके अतिरिक्त सर्व पदार्थोंसे उदास होजाता है। केवल एक आत्मा हीमें विहार करने लगता है, परन्तु यह स्वानुभव ही उसी महात्माको होना संभव है जिसके भीतर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नका विकाश होगया है। सात तत्वोंके मननसे ही यह रत्न झलकता है। निर्जरा तत्वका विचार करते हुए ध्यानके ऊपर मनन किया जाता है तो प्रगट होता है कि ध्यानका अभ्यास इसी तरह करना चाहिये जिस तरह शारीरिक व्यायामका अभ्यास किया जाता है।

इसका अभ्यास आत्म ध्यानमें प्रवीण गुरुकी संगतिमें भलेप्रकार होसक्ता है। पिंडस्थादि चार ध्यानके मार्ग भी ध्यानके साधन हैं। शरीरमें स्थित आत्माका ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है। इसकी पांच धारणाएं हैं—

पार्थिवी धारणामें अपनेको मध्य लोकके समान क्षीर समुद्रके मध्य जम्बूद्वीप समान कमलके बीच सुमेरु पर्वतके ऊपर स्फटिक सिंहासनपर बैठा विचारे कि मैं कर्म–ईंधन जलानेको बैठा हूं। आग्नेय धारणामें अपने शरीरके चारों तरफ अग्निका यंत्र त्रिकोण

बनाले, जो २२ अक्षरसे वेष्ठित हो। भीतर नाभि स्थानमें १६ स्वर वेष्ठित कमलके मध्य र्हं मंत्रसे अग्निकी ज्वाला निकली हुई सोचे जो हृदयस्थ अधोमुख आठ कर्मरूपी कमलको जला रही है। वाह्यका त्रिकोण शरीरको जला रहा है। सर्व शरीर व कर्म जलकर रज बन रहे हैं। पवन धारणामें अपने चारों तरफ बहती पवनको रज उडाती हुई देखे। जल धारणामें अपने ऊपर मेघोंसे जलकी धारा पडती हुई आत्माको स्वच्छ करती हुई विचारे। तत्वरूपवती धारणामें आत्माको सिद्ध सम शुद्ध देखे। पदस्थ ध्यानमें किसी पदको विराजमान करके उसके द्वारा शुद्ध वस्तुका ध्यान करे। रूपस्थ ध्यानमें अरहंतके स्वरूपका व किसी मूर्तिका ध्यान करके शुद्ध आत्माको ध्यावे। रूपातीत ध्यानमें यकायक सिद्धात्माका ध्यान करे। इन चार ध्यानोंके विचारोंका विकल्प भी बंधका कारण है ऐसा जानकर ज्ञानी निर्भय, निर्विकल्प, परम शुद्ध अपने ही आत्माके उपवनमें ही क्रीडा करने लगता है। जब किसी गुण या पर्यायमें स्थिर होजाता है, तब ही स्वानुभव प्रगट होजाता है और तब जो अद्भुत आनंदका लाभ होता है, वह केवल स्वसंवेदनगम्य है।

३४-मोक्षतत्व विचार।

एक ज्ञानी आत्मा निज आत्मीक रत्नके पाने हेतु भेदविज्ञानके प्रतापसे जैसे कूडे करकटके ढेरमेंसे रत्नको निकालते हैं, इस तरह पुद्गलके सूक्ष्म तथा स्थूल स्कंधोंके मध्यमें दबे हुए आत्मारूपी रत्नको निकालता है और उसका निरीक्षण परीक्षण वारवार करके उस ... सुंदरतामें जब आसक्त होजाता है तब स्वानुभवको जागृत

कर लेता है। और उसीमें विश्राम करता है। परन्तु इस प्रकारकी शक्ति उसी महात्माको प्राप्त होती है जिसको सम्यग्दर्शनका लाभ होगया है। इसी अपूर्व लाभके हेतु जीवादि सात तत्वोंका मनन उपयोगी है।

मोक्ष तत्वपर विचारते हुए यह ज्ञानी समझता है कि जब कर्मवर्गणाओंके आस्रव और बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग बिलकुल निरोध होजाते हैं तब नवीन बंधका होना रुक जाता है। आत्मध्यानमई धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानके प्रतापसे प्रज्वलित होनेवाली वीतरागताकी अग्निसे सर्व पूर्वबद्ध कर्म जल जाते हैं, उनकी कर्मत्वशक्ति नष्ट होजाती है, तब कर्मोदयसे संयोगमें आनेवाले तथा तिष्ठनेवाले तैजस शरीर और औदारिक शरीर भी गिर पड़ते हैं। एक मानव ही मोक्षतत्वका अधिकारी होसकता है। जब मानवकी आत्मामेंसे तीनों ही शरीर बिलकुल छूट जाते हैं तब यह आत्मा बिलकुल अकेला अपनी ही शुद्ध सत्तामें प्रकाशमान झलकता है। जैसे मेघरहित सूर्य चमकता है व मलरहित रत्न झलकता है व कीच रहित जल झलकता है या मल रहित श्वेत वस्त्र शोभता है। मुक्ति प्राप्त आत्मा स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करके लोकाग्रमें अनन्तकालके लिये अपने ही स्वरूपमें रमण करता हुआ निजानंदका स्वाद लेता है। यह विचार भी बन्धकारक है। अतएव ज्ञानी इस विचारकी तरङ्गावलीको बाधक समझकर निज स्वरूपमें निश्चल निस्तरंग समुद्रवत् एकाग्र होजाता है तब ही स्वानुभवको पाता है। इस अनिर्वचनीय दशामें जो आनन्दका भोग मिलता है उसे कोई प्रकाश नहीं कर सक्ता।

९६—सात तत्वोंमें सार।

एक ज्ञानी आत्मा पदार्थोंसे तृप्ति न पाकर किसी ऐसे पानकी खोजमें है जिसके पीनेसे यह जीवन अमर बना रहे फिर संसार भ्रमणमें जन्म मरण न करना पड़े। यह रस वहीं मिलता है जो स्वानुभवकी कलाको प्राप्त कर लेता है। स्वानुभव लाभ तब ही होसकता है जब भेदविज्ञानके द्वारा अपने ही मूल सत्ताको सर्व अन्य सत्ताओंसे भिन्न तथा परम शुद्ध निर्विकार ज्ञान चेतनामय पहचाना जाय। यद्यपि शास्त्रोंके पढ़नेसे ज्ञान होता है परन्तु भेदविज्ञानका लाभ तब ही होता है जब आत्माका इस विवेकपूर्वक मनन किया जावे।

जीवादि सात तत्वोंका व्यवहारनयसे ज्ञान प्राप्त करके इस जीवको प्रथम व्यवहारनयहीसे यह विचारलेनेकी जरूरत है कि कौनसे तत्व उपादेय हैं व कौन २ तत्व हेय हैं। जिन तत्वोंसे यह परमात्मा पदका साधक ये तत्व ग्रहण करने योग्य हैं, शेष त्यागने योग्य हैं। सात तत्वोंमेंसे जीव, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये चार उपादेय हैं। अजीव, आस्रव, बन्ध हेय हैं।

जब निश्चयनयसे विचार किया जाता है तो ये सातों ही तत्व जीव और पुद्गलसे रचे हुए हैं। आत्मा और कर्मोंके सम्बन्धकी अपेक्षा ही आस्रव, बंध, संवर निर्जरा तथा मोक्ष तत्व हैं। जैसे-खोया और शक्कर दो चीजोंको लेकर ५ प्रकारकी मिठाई तैयार की जावे और उनका भिन्न २ नाम गुलाबजामन, लाडू, बरफी आदि रख दिया जावे, वैसे ही यह आस्रवादि तत्व जीव पुद्गलसे बने

है। तब इन दोमें कौन उपादेय व कौन हेय है? विचार करनेसे झलकता है कि एक शुद्ध जीवतत्व ग्रहण व ध्यानयोग्य है जब कि पुद्गल हेय है। पुद्गलमें ज्ञानावरणादि आठ कर्म, शरीरादि नोकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म सर्व गर्भित है। इसलिये यही मनन करना चाहिये कि एक निज आत्माका निज स्वभाव ही उपादेय है।

इस प्रकार विकल्पात्मक विचार करनेसे भी बध ही होता है। यह विचार भी बधका मार्ग है। तब ज्ञानी इसे भी त्याग कर निर्विकल्प परम समाधिको जागृत करनेके लिये अपने ही शुद्ध आत्माकी तरफ जाता है। उपयोगको निजमें ही एकाग्र करता है। ध्यानका धारावाही स्रोत बहाता है। और उस स्रोतके स्वानुभव रूप अमृतका पान करता है तब जो अद्भुत आत्मानन्द पाता है। वह मात्र अनुभवगम्य है। मन भी उसके आनंदका पता नहीं पासक्ता है, केवल प्रशंसाका ही विकल्प कर सक्ता है।

६६—जीवाजीव भेद विचार।

ज्ञानी आत्मा स्वानुभवका रसिक होता है। यह स्वानुभव ही वास्तवमें मोक्षमार्ग है। यही रत्नत्रयकी एकतारूप है, इसीसे ही स्वात्मानन्दका लाभ होता है, यही वीतरागता पूर्ण ध्यानकी अग्निको प्रकाश करता है जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती है। जीवनको सुख शांति देनेका मुख्य उपाय स्वानुभव है। अपने आत्माके ही प्रदेशोंमें रमना, पुद्गलके द्रव्य गुण पर्यायसे वैराग्यभाव होना स्वानुभवका उपाय है। यह स्वानुभव उस ही महात्माको होता है जिसको सम्यग्दर्शनका लाभ है।

सम्यग्दर्शन गुणका प्रच्छादक जो मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय हैं उनके दमनका उपाय निश्चयनयसे जीवादि सात तत्वोंको जानकर भेदविज्ञानका मनन है। जीव और अजीव इन दो तत्वोंके मेलसे ही इन आस्रवादि पांच तत्वोंकी सृष्टि प्रसिद्ध होती है। उनमेंसे जीव ही उपादेय है अजीव हेय है ऐसा मनन करना आवश्यक है। मैं कर्मोंसे भिन्न हूं, ज्ञानावरणादि कर्म कर्मवर्गणाओंसे बने हैं। कर्मवर्गणाएं सूक्ष्म पुद्गल स्कंध हैं। उनके उदयमें ही राग द्वेषादि भावकर्मकी कलुषता प्रगट होती है। उन्हीके उदयमें ही शरीरादि बाहरी पदार्थोंका संयोग शुभ व अशुभ होता है। जब कर्मोंका सारा प्रपंच मेरे आत्माके स्वभावसे जुदा है तब कर्मके उदयका प्रपंच मुझसे जुदा है। मेरी सम्पत्ति वही है जो मेरे साथ सदा ध्रुव रहती है। वे हैं मेरे ही शुद्ध गुण जिनका एक अखंड समुदाय रूप मैं आत्मद्रव्य हूं। जगतकी भौतिक सम्पत्तिसे—अहमिंद्र चक्रवर्ती आदिकी विभूतियोंसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरा नमूना परमात्मा श्री सिद्ध भगवान हैं। जैसा उनका स्वभाव है वैसा ही मेरे आत्माका स्वभाव है।

यद्यपि मैं गुणोंका धारी द्रव्य हूं तथापि मैं उन गुणोंका एक अभेद पिंड हूं। जैसे बर्तनमें फल रक्खे हों वैसा मेरा और गुणोंका संबंध नहीं है, किन्तु एक बिलकुल अमिट अभेद संयोग है जिसको तादात्म्य अनादि सम्बन्ध कहते हैं। मेरी सत्ता भी सर्व अन्य आत्माओंसे, सर्व अणु व स्कंध पुद्गलोंसे, धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे, आकाशसे, काल द्रव्यके असंख्यात कालाणुओंसे निराली है।

मैं अब जिस तरह अपने आत्मीक द्रव्योंको शुद्ध निर्विकार देखता हू वैसे ही लोकके सर्व ही आत्माओंको शुद्ध और निर्विकार देखता हू। न मेरा कोई मित्र व बंधु है न कोई मेरा शत्रु है। सब मेरे ही समान हैं। जितने गुण मेरेमें हैं उतने ही गुण सबमें हैं। व्यक्तिपनेकी अपेक्षा भिन्नता न हो तो सबका अनुभव एक हो सो नहीं है। सर्व ही अपनी २ ज्ञान चेतनाके भीतर प्रकाश कर रहे हैं। इस तरहका विचार भी बंधका कारक है। अतएव तत्वज्ञानी इस विचारको भी समेटता है और थिरता करके अपने ही ज्ञान भावरूपी सागरमें आप ही गोते लगाता हुआ उसीमें समाजाता है। तब मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे उपयोग हटजाता है तब ही स्वानुभवका प्रकाश होता है, यही स्वानुभव अनिर्वचनीय आनन्दका श्रोत है।

६७–सम्यग्दर्शनका प्रकाश।

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञानके वारवार मननसे करणलब्धिके प्रतापसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके परम सुखी होगया है। मानो वह भवसागरके पार ही होगया। जिसको बम्बई जानेका टिकट मिल जावे और वह बम्बई जानेवाली गाड़ीपर बैठ जावे तो उसको यह पक्का भरोसा होजाता है कि मैं तो अब बम्बई पहुंच ही गया।

सम्यग्दर्शनका लाभ होना मानो मुक्ति–पुरी जानेका टिकट मिल जाता है। वह इस टिकटको पाकर स्वानुभवकी गाड़ीपर सवार होजाता है। यह गाड़ी सीधी मोक्षपुरको जाती है।

इस कारण सम्यक्ती होनेके समान कोई भाग्यशालीपना नहीं है। सम्यक्ती उस चक्रवर्तीसे अच्छा है, उन मुनिसे अच्छा है

जिनको सम्यक्त रत्नका लाभ नहीं है। सम्यक्ती बड़ा धनशाली है बड़ा ही सुखी है। इन्द्र धरणेन्द्रकी सम्पदा उसके तुच्छ भासती है। सम्यक्तीके दिलमें मुक्तिसुन्दरीकी मनोहर छवी निरन्तर वास करती है। उसके साथ पूर्व बांधे हुए कर्मोंके मदनुसे जाल मौजूद रहने से इसमें वह उन जालोंमें फस जाता है, परन्तु उसके भीतरसे मुक्ति-सुन्दरीका गाढ़ स्नेह कभी नहीं जाता। वह जब कभी अव-सर पाता है, अपने उपयोगको और कर्मोंसे हटा लेता है और उसे मुक्तिसुन्दरीके रूपमें लगा देता है। बस, स्वानुभवका लाभ प्राप्त कर लेता है।

जब स्वानुभव होता है, तब मनका चितवन बन्द होजाता है, वचनोंका प्रवाह रुक जाता है शरीरका हलन चलन अटक जाता है। मन, वचन काय तीनों ही आत्माके स्वानुभवके स्वरूपके विरोधी हैं। ये तीनों ही आत्माके विरुद्ध पुद्गल द्रव्यकी बनी हुई अवस्थाएं हैं। अतएव स्वानुभवमें इनका कोई काम नहीं। स्वानु-भवको स्वसंवेदन ज्ञान भी कहते हैं। इसी लिये कि वहां अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माका वेदन या भोग किया जाता है।

स्वानुभवमें आनन्दामृत इतना भरा रहता है कि उसका जितना भी पान करो पानकर्ताओंको बड़ा ही सन्तोष होता है। परन्तु यह अमृत कुछ भी कम नहीं होता है। जो अमर बनावे वही अमृत होता है। स्वानुभवके भीतर भरा हुआ आत्मानन्द ही सच्चा अमृत है जो भवभ्रमणकारी कर्मोका बंधन काटता है और आत्माको अजर व आवागमनरहित कर देता है।

स्वानुभवरूपी गुफामें सिद्धोंका निवास है। स्वानुभव रूपी सिंहासनपर अरहंतोंका निवास है। स्वानुभव रूपी आश्रममें साधुओंका निवास है। स्वानुभव रूपी एकांत आसनपर श्रावकोंका निवास है। स्वानुभव रूपी चटाईपर सम्यग्दृष्टी बैठते हैं। स्वानुभवका शरण ही परम शरण है। यही परम उपकारी मित्र है। यह स्वानुभव नारकीको भी तीर्थंकर बना देता है। स्वानुभवसे एक आत्मा शीघ्र परमात्मा होजाता है। धन्य हैं वे सज्जन जो स्वानुभवका लाभ करके अपनेको जीवनमुक्त समझते हैं।

३८-सोऽहंका विचार।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्याग कर एकांतमें बैठ जाता है और विचारता है कि ऐसा क्या प्रयत्न करूं जिससे ऐसी अवस्थामें पहुंच जाऊं जहां कोई सांसारिक चिन्ता न सतावे। न राग हो, न द्वेष हो न मोह हो, न मान हो, न माया हो न लोभ हो, न मनका हलन चलन हो न वचनकी फिरन हो, न कायकी फिरन हो, न कुछ विचार हो, न कुछ मनन हो, न कुछ बोलना हो, न कुछ भोगना हो। वह अवस्था एक अपने ही आत्माका निजभूत स्वभाव है।

इसी स्वभावमें जमना ही स्वानुभव है। इस स्वानुभवके लिये शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिको सामने रखकर आत्म पदार्थको देखना चाहिये। व्यवहार दृष्टिको बिलकुल बंद कर देना चाहिये। शुद्ध निश्चयकी दृष्टिको ही द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यका मूल स्वभाव इसी दृष्टिमे दिखलाई पड़ता है। मूल स्वभावसे यह आत्मा मात्र

स्थानपर देखा जावे तो वहा जीव हैं, पुद्गल हैं धर्म व अधर्म द्रव्य हैं काल व आकाश है। जीव अनेक होसक्ते है पुद्गल अनेक होसकते हैं। कालाणु एक ही मिलेगा, धर्म व अधर्म व आकाशका एक २ ही प्रदेश होगा। जीवकी अवगाहना घनागुलके असख्यातवें भागसे कम नहीं होती है। इसलिये एक प्रदेश मात्र स्थानपर अनेक जीवोंके प्रदेशोंका भाग समझना चाहिये। पुद्गलके अनेक अणु व अनेक सूक्ष्म स्कध एक प्रदेश मात्र स्थानपर रह सकते है। ऐसी ही जगतकी स्थिति होने पर भी हरएक जीव हरएक जीवसे व हरएक पुद्गल परमाणुसे व शेष द्रव्योंसे सर्वथा जुदा है। भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखते हुए हरएक जीव शुद्ध ही दिखता है। इस दृष्टिसे देखते हुए राग द्वेषका अभाव होजाता है। समताभाव जागृत होजाता है। समताभाव उस चद्रमाकी चान्दनीके समान है जो सर्वमें फैली हुई भी कभी विरुद्ध नहीं होती है। सूर्यकी धूप भी नीच ऊँच, मैले उजले छोटे बड़े सब प्रकारके पदार्थोंपर फैलती है। किसीसे राग द्वेषभाव नहीं करती है। ऐसी समभावकी दृष्टि शुद्ध निश्चय नयके प्रतापसे साधकको प्राप्त होजाती है। इस दृष्टिसे देखते हुए अपना आत्मा जैसा है वैसा ही अन्य आत्मा है। व्यवहार नयकी दृष्टि भेद भावको देखती है। इस दृष्टिको गौण करना ही स्वानुभवके पानेका उपाय है। सम्यक्‌दृष्टि ज्ञानी महात्मा व्यवहारमें जगतका काम ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य शूद्रके कर्तव्य अनुसार करता हुआ भी इस सब कर्तव्यको पुद्गल द्रव्यका विकार समझता है। अपने आत्माको परकी पर्यायका अकर्ता कर्मोंका समझता है।

हरएक द्रव्य अपने ही गुणोंमें परिणमन करता रहता है, यह वस्तु स्वभाव है । इसीलिये यह ज्ञानी अपने ही शुद्ध गुणोंमें रमण करता हुआ जब किसी एक गुण या पर्याय या द्रव्यपर थिर होजाता है तब इसके भीतर स्वानुभवका प्रकाश होजाता है । यही निजानन्दकी प्राप्तिका स्रोत है ।

४०—ज्ञान चेतनामई भोग।

ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व विकल्प जालोंको त्याग कर एकान्तमें बैठकर स्वानुभवके लिये भेदविज्ञानकी शरण ग्रहण करता है । भेदविज्ञानके प्रतापसे अपना आत्मा सर्व पर पदार्थोंसे भिन्न दिखता है तब अपने उपयोगको अपने आत्माके स्वभावमें रमानेकी जरूरत है । जिस समय उपयोगको पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे व मनके विकल्पोंसे हटा लिया जाता है तब ही आत्माकी तरफ उपयोग झुक जाता है और आत्माका अनुभव होजाता है । जीवनके भीतर सुखशांति पानेका उपाय एक आत्माकी प्रतीति रखकर आत्माके आनन्दका स्वाद लेना है। कर्म चेतना व कर्मफल चेतनाका त्याग ही ज्ञान चेतनाका लाभ कराता है । मैं निश्चयसे न शुभ कर्मका कर्ता हूं न अशुभ कर्मका कर्ता हूं । कर्तापना मेरा स्वभाव ही नहीं है । इस तरह समझकर अपने आपको न ज्ञानावरणादि कर्मका न घट पट आदिका कर्ता माने, न रागद्वेष मोहादि कुभावोंका कर्ता माने। ये सब भाव व कर्मपुद्गल कर्मके उदयसे होते हैं । संसारी जीवोंमें जो अशुद्धोपयोग होता है व मन, वचन, कायकी क्रियां होती है यह ही सांसारिक कार्योंके करनेमें निमित्त कारण है। शुद्धात्मा पर परि-

णति व परकी अवस्थाका न उपादान कारण है न निमित्त कारण है। उपयोग और योग जो निमित्त कारण है, ये भी कर्मके उदयसे काम करते हैं। इसलिये मैं निश्चयसे कर्म चेतना धारी नहीं हू। इसी तरह मैं कर्मफलका भोक्ता भी नहीं हू। निश्चयसे न मैं कर्मोंका बांधनेवाला हू न मैं उनका फल भोगनेवाला हू। मैं ज्ञानावरणीय कर्मसे भिन्न हू। इससे अज्ञानका भोक्ता नहीं। मैं दर्शनावरणीय कर्मसे भिन्न हू, इससे अदर्शनका भोक्ता नहीं। मैं मोहनीय कर्मसे भिन्न हू, इससे राग, द्वेषका व मैं सुखी, मैं दुःखी इस भावका भोक्ता नहीं, मैं अंतराय कर्मसे भिन्न हू इससे निर्बलताका भोक्ता नहीं। मैं आयु कर्मसे भिन्न हू, इससे आयुके फलसे शरीरमें कैदका भोक्ता नहीं। मैं नाम कर्मसे भिन्न हू, इससे नामके उदयसे प्राप्त शरीरोंकी रचनाका भोक्ता नहीं। मैं गोत्र कर्मसे भिन्न हू, इससे मैं उच्च नीच भावका भोक्ता नहीं। मैं वेदनी कर्मसे भिन्न हू, इससे साताकारी व असाताकारी पदार्थोंका भोक्ता नहीं। इस तरह मैं कर्मफल चेतनका भोक्ता नहीं। मैं ज्ञान चेतनाधारी हू। अपने शुद्ध ज्ञानानन्द भावका ही भोक्ता हू। इससे मैं उसी निज भावमें आसक्त होकर अपने स्वरूपका ही स्वाद लेता हुआ स्वानुभवकी रमता हो जाता हू।

४१–षोडशकारण भावना।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मीक रस पान करनेके लिये निज आत्माके स्वभावको लक्ष्यमें लेता है और अपना उपयोग सर्व निज आत्मासे भिन्न पर वस्तुओंसे हटा लेता है। जब आत्मारामवें प्रवेश

करता है, और उसके मनोहर गुणरूपी वृक्षोंपर दृष्टिपात करता है तब उसका मोह बढ़ता जाता है। वह गुणोंका आसक्त होजाता है। जब उपयोग एकतानतासे आत्माराममें जम जाता है तब स्वानुभव पैदा होजाता है। स्वानुभव अमृत रससे भरा हुआ समुद्र है। इस रसके सामने जगतके कोई स्वाद नहीं है। बड़े २ महाराजा सम्यग्दृष्टी इसी रसके रसिक बनकर महात्मा पदवीको पाते हैं।

स्वानुभव मोक्षका द्वार खोल देता है। स्वानुभव अतींद्रिय आनन्दको प्रदान करता है। स्वानुभव वह शक्ति है जो चेतनको अचेतनकी तरफ जानेसे रोकती है। स्वानुभव एक ऐसा मित्र है जो सर्व शोकसे, सर्व आकुलतासे बचा देता है और संसारकी दुःखमय कल्पनाओंको मिटाकर ज्ञानानंदको प्रदान करता है।

स्वानुभव वह हवाई विमान है जो सीधा मोक्षपुरमें जाता है। स्वानुभव वह विद्या है जो विद्याधरोंको भी अप्राप्य है। जो सर्व ही परभावोंसे उदास होकर आप आपमें आपसे तिष्ठनेका अभ्यास कर लेते हैं उनको इस विद्याका लाभ होता है। यह वह अमोघ विद्या है जिसका कभी नाश नहीं होता है।

स्वानुभव ही दर्शनविशुद्धि है। जहां आत्माका दृढ़ श्रद्धान होता है वहीं स्वानुभव जागृत होता है। जहां स्वानुभव है वहीं यथार्थ धर्मकी विनय है। जहां स्वानुभव है वहीं निर्दोष शील स्वभाव है, वहीं निर्दोष व्रत है। जहां स्वानुभव है वहीं निश्चय ज्ञानोपयोग है, वहीं सच्चा संवेग है। जहां स्वानुभव है वहीं सच्चा त्याग भाव [illegible] मा अपनेसे अपनेको आनन्द-रसका लाभ

तौ भी बाल बांका नहीं होता है। उत्तम क्षमाके संयोगसे आत्माएं अनंत बलको भोगते हैं, अनंत सुखको भोगते हैं और भिन्न अद्भुत आनन्दामृतका पान करते हैं उसका विवेचन किसी भी तरह नहीं होसक्ता है। धन्य हैं वे वीरात्मा जो इस उत्तम क्षमाके प्रेमी होकर परम सुखका भोग करके परमसन्तोषी होजाते हैं।

४३-अपूर्व दशलक्षणधर्म।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे मुक्त होकर भेदविज्ञानके द्वारा आत्मा और अनात्माको भिन्न भिन्न विचारता हुआ जब आत्मापर ही एकाग्रतासे आरूढ होजाता है तब तुर्त स्वानुभवको प्राप्त कर लेता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है जो सीधा मोक्ष-द्वीप तक चला गया है। इस स्वानुभवको एक प्रकारका पानक या अमृतमई शरबत कह तो अत्युक्ति न होगी। जैसे पानक अनेक वस्तुओंके मेलसे बनता है वैसे स्वानुभवमें अनेक आत्मीक धर्मोका मिश्रण है।

इन धर्मोमें आनन्द गुण प्रधान है इसलिये आनन्दका स्वाद अधिक आता है। जैसे पानकमें मिष्ट मुख्य प्रधान है, मिष्टताका स्वाद अधिक आता है।

इस स्वानुभव रूपी पानकमें धर्मके दश लक्षण गर्भित हैं। मानो उत्तमक्षमा है क्योंकि स्वानुभवके समय क्रोध भावका पता भी नहीं चलता है। यदि घोर उपसर्ग भी पड़े तोभी स्वानुभव कर्ताको कुछ भी अपने स्वरूप रमणसे विचलित नहीं कर सके। उत्तम [illegible] भी इसमें गर्भित है। यहां मानकी कठोरता रंचमात्र भी नहीं

है। यहा परके भीतर अहंकार बुद्धिका सर्वथा अभाव है। स्वानुभवमें तो आपसे आपका ही ग्रहण है। वह आत्मराम परम कोमल है।

उत्तम आर्जव भी यहा विराजमान है क्योंकि स्वानुभवमें मायाचारकी कुटिलताका नामोनिशान नहीं है। जो मन कुटिलाई करता है उसका ही यहा अभाव है। यहा तो पूर्ण सरलता है तब ही स्वानुभव नाम पाता है। इस स्वानुभवमें पूर्ण संतोष, उत्तम शुचिता व कृतकृत्यपना है। यहा लोभकी मलीनताका लेश मात्र भी स्पर्श नहीं है। स्वानुभवमें सर्व ओर परम पवित्रता है। परमात्मा रामका ही साम्राज्य है। स्वानुभवमें उत्तम सत्यका तो बड़ा विशाल झंडा फहरा रहा है। यहा असत्यताका नामोनिशान नहीं है। आत्मा सत्य है, ध्रुव है। उसीमें ही यहा विश्राम है। यहा उत्तम संयम भी शोभायमान है। इस स्वानुभवके समय पांचों इन्द्रिया भी शयन कर रही हैं, मन भी मुरझाया हुआ है।

स्वानुभवमें आप आपमें तल्लीनता है। मन वचन कायका भ्रमण नहीं। इनका भ्रमण हो तब प्राणघात हो। यहा तो आपका आपमें संयमितपना है। इसी स्वानुभवमें उत्तम तप भी है। यहा आत्मा अपने ही रत्नत्रय स्वरूपकी अग्नि जलाकर आपको उसमें तपा रहा है। अपनी ही दीप्तिसे दीप्तमान है। यहा सर्व प्रकारकी इच्छाओंका अभाव है। परम निस्पृह भावका ही दौरदौरा है। स्वानुभवमें उत्तम त्याग धर्म भी है।

आत्मा अपने ही भण्डारसे आत्मानन्दका ग्रहण करके अपने ही आपमें विराजित आत्मारूपी अतिथिको अपने ही शुद्ध आत्मीक

भावसे प्रदान कर रहा है। यह अपूर्व निश्चय दान है। इस दानमें सर्व आशाएं तृप्त होजाती हैं। इसी स्वानुभवमें परम आकिंचन्य धर्म है। यहां तो न परिग्रह है न मूर्छा है न ममत्व है, न पर साथ कोई सम्बन्ध है। यहां तो अपनी रमणी व अपना ही राम है। यहां आत्माके सिवाय किसी पुद्गलादि द्रव्योंका प्रवेश नहीं है। इस स्वानुभवमें उत्तम ब्रह्मचर्य भी चमक रहा है। यहां काम भावका प्रवेश ही नहीं है। कुशील वर्तन हो ही नहीं सक्ता है। सिवाय इसके यहां परम ब्रह्मस्वरूप निज आपके ही स्वभावमें रमन है, अपूर्व निश्चय ब्रह्मचर्य है। इसतरह उत्तमक्षमादि दश धर्मोंके मिलनसे बना यह स्वानुभव रूपी शर्बत है। जो इसको पान करता है वही तृप्त होजाता है, वह अनुपम सुखशांतिको पाता है, उसे सच्चा मोक्षमार्ग मिल जाता है, वे रोकटोक वह प्रज्ञावान इस मार्गपर चलता हुआ मोक्षनगरकी तरफ बढ़ा जारहा है।

४४–तेरह प्रकार चारित्र पूजा।

एक ज्ञानी आत्मा श्री जिनेंद्र समान अपने ही आत्मदेवके सामने बैठकर बड़े भावसे रत्नत्रयके २९ अंगोंमें सम्यक्चारित्रके १३ अंगोंकी पूजा करता है। वह अहिंसा व्रतके सम्मानार्थ पूर्ण समता भावसे सना हुआ अर्घ चढाता है। जिस समतामें यह भावना है कि सर्व जीव निश्चयसे समान हैं हिंसाका भाव भी वहां होना असम्भव है। सत्यव्रतके आदरके लिये आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञानरूपी दीपक जलाकर आरती उतारता है। अचौर्य व्रतके लिये सर्व परभावोंसे ममता रहित होकर परपरणतिसे विरक्तताका

निर्मल जल चढाता है। ब्रह्मचर्य व्रतके आदरके लिये ब्रह्मभावमें लय होकर परम शीतलताका चंदन चढाता है। परिग्रह त्याग व्रतके सम्मानार्थ निःसंग भावके अविनाशी अक्षत लेकर बड़े भावसे पूजा करता है।

ईर्यासमितिके लिये यह ज्ञानी अपनी ही आत्मभूमिमें इस तरह अप्रमाद भावसे चलता है कि आत्माके किसी भी गुणका घात नहीं होता है। भाषा समितिके लिये यह ज्ञानी वचन वर्गणाओंको कष्ट न देकर अपनेमें स्वयम् तल्लीन होकर परिणमन करता है। कभी काम पड़ता है तो 'सोहं या ॐ' की ध्वनि लगाकर अपने मित्र आत्मारामका सबोधन करता है। आदाननिक्षेपण समितिके लिये यह स्वयम् शुद्ध स्वरूपको ग्रहण कर लेता है और सर्व अनात्मभावोंको इतनी सावधानीसे पटक देता है कि आत्माके भीतर किंचित् भी विकार उत्पन्न नहीं करता है। एषणा समितिके लिये वह सर्व सांसारिक आहारको त्याग कर अपने ही आत्मानुभवसे उत्पन्न ज्ञानामृतको बड़ा ही रुचिसे पान करता है। आत्मा स्वयम् दातार होकर आत्मारूपी पात्रको आनन्दामृतका आहारदान करता है।

उत्सर्ग समितिके लिये इस ज्ञानीने अपने निर्विकार शुद्ध स्वरूपको अपने पास रख लिया है। परके सर्व औदारिक, कार्माण, तैजस शरीर रूप मलको व उनके निमित्तसे होनेवाले विकारोंको छोड़ दिया है, पूर्ण पवित्रता धारण कर ली है। मनोगुप्तिके लिये आत्माको जब आत्माद्वारा स्वसंवेदनसे जान लिया तब मनका संकल्प विकल्प [illegible]ाया।

४६–अद्भुत स्वानुभव महात्म्य ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकल्पोंकी भूमिकाको त्यागकर एक शांतिसागरमें प्रवेश करता है। यह शांतिसागर अपना ही आत्मा है जो ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अमूर्तीक आनन्दमय परम वीतराग असंख्यात प्रदेशी अपने शरीरभरमें भरा है। इसमें आनन्दामृतरूपी जल भरा है। जो कोई इस अपने ही शांतिसागरमें मगन होजाता है वह स्वानुभवको पालेता है और परमानन्दका भोग करता है।

इस स्वानुभवमें न मनका कोई विचार है न वचनोंका प्रयोग है न कायका व्यापार है। मन वचन कायसे पर होकर जो कोई आप आपमें ठहरता है वह स्वानुभवको पाता है। स्वानुभव बड़ा बड़ा रौद्र परिणामी होजाता है। इसके वीतराग भावरूपी शस्त्रोंसे दीर्घकालसे साथमें चले आए हुए कर्मशत्रुओंका संहार कर दिया जाता है। किसी भी शत्रुकी ताकत नहीं है जो इसके वीतराग भावरूपी शस्त्रके सामने ठहर सके। ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय चारों ही घातीय कर्म कृश होते होते बिल्कुल ही लोप होजाते हैं। स्वानुभवमें बड़ी शक्ति है। यही कर्मशैलको चूर्ण करनेको वज्रके समान है। स्वानुभव सम्यग्दृष्टीको हाथ लगता है। इसी अमोघ शस्त्रसे वह कषायोंको शमन व क्षय करता हुआ बढ़ा चला जाता है। और शीघ्र ही अरहत परमात्मा होकर सिद्ध होजाता है। स्वानुभव करनेवालोंको यह विकल्प बिल्कुल भी नहीं होता है कि मैं बद्ध हूं व मुक्त होजाऊँगा। बंध व मोक्षकी कल्पना व्यवहार है। स्वानुभवमें बंध व मोक्षकी चिन्ता नहीं है। यहां तो

श्रद्धापूर्वक शुद्धात्माके ज्ञानमें मगनता है। यहा तो स्वरूप संवेदन है। यहा तो एक आत्माके सिवाय कोई द्रव्य नहीं है तथापि अनुभवकर्ताको यह विचार नहीं होता है कि मैं आत्मा हू। वह तो उसी तरह आत्म वस्तुके स्वाद लेनेमें लीन है, जिसतरह भ्रमर कमलके भीतर लय होजाता है।

स्वानुभवमें रत्नत्रय धर्म है, स्वानुभवमें उत्तमक्षमादि दश धर्म हैं, स्वानुभवमें ही अहिंसा धर्म है, स्वानुभवमें ही तप है, स्वानुभवमें ही ध्यान है, स्वानुभवमें ही निर्वाण है स्वानुभवमें ही शय्या है, स्वानुभव ही बिछौना है, स्वानुभव ही ओढनेकी चादर है, स्वानुभव ही शयन है, स्वानुभव ही स्वप्न है, स्वानुभव ही जागृत अवस्था है, स्वानुभव ही ग्रन्थ है, स्वानुभव ही ग्रंथ पठन है, स्वानुभव ही ग्रन्थ पाठक है, स्वानुभव ही पत्र है, स्वानुभव ही पत्र लेखक है, स्वानुभव ही कलम है, स्वानुभव ही स्याही है, स्वानुभव किला है, स्वानुभव किलेका निवासी है, स्वानुभव भोजन है, स्वानुभव ही भोजन कर्ता है, स्वानुभव पानी है, स्वानुभव ही पानी पीनेवाला है, स्वानुभव ही द्रव्य है, स्वानुभव ही द्रव्यका स्वामी है, स्वानुभव ही दर्पण है, स्वानुभव ही उससे देखनेवाला है। स्वानुभवकी अपूर्व महिमा है। स्वानुभवके भीतर जो संतोष मानता है वही सच्चा ज्ञानी है, वही तत्वज्ञानी है, वही गरमप्रसादका भोक्ता है।

४७–सच्चा महावीर दर्शन।

ज्ञातादृष्टा एक महात्मा जब श्री महावीर प्रभुका दर्शन करना चाहता है तब वह कभी तो कुंड ग्राम जाता है जहा प्रभुका जन्म

स्थान है, कभी तपोवनमें जाता है जहां प्रभुने दीक्षा ली थी, कभी जृंभिका ग्राममें ऋजुकूला नदीके तटपर जाता है जहां प्रभुने केवलज्ञान प्राप्त किया था, कभी श्री सरोवरके मध्यमें पावापुरीके मोक्ष स्थानको भक्तिपूर्वक जाकर वन्दना करता है और बड़े गौरसे देखता है कि कहीं श्री महावीर प्रभुका दर्शन मिल जावे। परन्तु इन चर्म चक्षुओंसे कहीं भी श्री महावीर भगवानका दर्शन नहीं मिलता है। श्री महावीरस्वामी अब शरीरमें नहीं हैं जो चक्षुयें उनके शरीरको देखकर उनका दर्शन पासकें। अब तो वे शरीर रहित, कर्म रहित सिद्ध परमात्मा हैं। उनका दर्शन चर्मचक्षुओंसे कैसे होसक्ता है? यदि उनकी स्थापना रूप मूर्तिको देखा जावे तो उसमें भी जड़मई वीतरागताका नकशा दीखता है। महावीर प्रभुका साक्षात्कार नकशा दीखता है। महावीर प्रभुका साक्षात्कार नहीं होता है। तब श्री महावीर भगवानका दर्शन कैसे हो सक्ता है?

तत्वज्ञानी गणधरोंने कहा है कि जो अपने आत्माको देखता है वह परमात्माको देखता है, जो अपने आत्माको जानता है वह परमात्माको जानता है, जो अपने आत्माका अनुभव करता है वह परमात्माका अनुभव करता है। तत्वज्ञानी महात्माओंका यह कथन ठीक है। हरएक आत्मा स्वभावसे श्री महावीर परमात्मारूप ही है। श्री महावीर भगवानकी आत्मामें और हमारी आत्मामें व हरएक आत्मामें कोई अंतर नहीं है, हरएकका स्वभाव बराबर है। इसलिये हमें यदि श्री महावीर परमात्माका दर्शन करना है तो हमें अपने ही ही दर्शन करना होगा, अपने ही आत्माका ज्ञान प्राप्त

रना होगा, अपने ही आत्माका अनुभव करना होगा। जिसने आनुभव प्राप्त करके अपने आत्माका दर्शन कर लिया उसने श्री हावीर भगवानका साक्षात् दर्शन प्राप्त कर लिया।

द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि, नोकर्म शरीरादि न सबसे उपयोगको हटाकर व सर्व पर पदार्थोंसे मुँह मोडकर जब से अपने ही आत्माके गुणोंके मननमें उलझाया जाता है तब यका- क जब उपयोग आत्माकी विश्रांति प्राप्त करता है तब, यकायक आत्मानुभव प्राप्त होजाता है। उस समय श्री महावीर भगवानके र्शनसे जो अपूर्व आनंद प्राप्त होता है वह वचन व मनसे अगो र केवल स्वानुभवगम्य है।

४८–निजात्माकी यात्रा।

एक भक्त ज्ञानी आत्मा श्री महावीर भगवानकी भक्ति कर- के लिये उत्सुक होरहा है। वह जब विचारता है तो उसे कहीं ी महावीर भगवानके दर्शन नहीं होते हैं। वह जानता है कि वे स समय सिद्धालयमें विराजमान हैं। तथापि उसको यह ज्ञात है के सर्व ही आत्माए सिद्ध व संसारी स्वभावसे समान हैं। मेरी आत्मामें भी वे ही गुण हैं, वे ही स्वभाव है–जो श्री महावीर पर- त्माके भीतर है। तब फिर श्री महावीरस्वामीका दर्शन करनेके लिये मैं अपने आत्माको ही क्यों न देखूं। बस, यह अपना उपयोग अन्तर्मुख करता है, निज आत्मामें ही एकतानता कर लेता है, सर्व जगतकी आत्माओंको सर्व ही पुद्गलोंसे, परमाणु व स्कंधोंसे धर्मास्ति काय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा असंख्यात कालाणुओंसे, ज्ञाना [illegible], रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे, शरीरादि नोकर्मोंसे, सर्व

स्त्री पुत्रादिसे, सर्व देव, नारक तिर्यंच मानवोंसे उपयोगको हटा लेता है।

जब अपने केवल शुद्ध आत्मामें श्रद्धापूर्वक उपयोग जम जाता है तब अपने ही शुद्धात्माके आनन्द गुणका स्वाद आजाता है, प्रतीतिमें शुद्धात्माका साक्षात् दर्शन होजाता है, स्वानुभव जग जाता है। यही श्री महावीर भगवानका साक्षात् दर्शन है। निजात्माका दर्शन करना ही सर्व सिद्ध क्षेत्रोंकी यात्रा करना है। आत्माका निर्वाण क्षेत्र आत्मा ही है। निर्वाणकांडमें वर्णित श्री गिरनार, सम्मेदशिखर, पावापुर, मंदारगिरि, कैलाश, गजपंथा, मुक्तागिर, सिद्धवरकूट, बड़वानी, तारंगा, सोनागिरि, कुंथलगिरि आदि अनेक भूमियां हैं जिनको निर्वाणक्षेत्र कहते हैं परन्तु वास्तवमें सर्व ही सिद्ध आत्मोंका निर्वाणक्षेत्र उनका ही आत्मा है, जो मेरे ही आत्माके समान है।

अतएव निजात्माका दर्शन व पूजन व निजात्माकी यात्रा ही सर्व निर्वाण प्राप्त सिद्धोंकी यात्रा है। अतएव मैं सर्वसे मुख मोड़, एक अपने ही आत्मासे नाता जोड़ उसीमें जमकर सर्व पर भावोंको छोड़, कर्मोंके बंध तोड़ आप ही मुक्ति-सुन्दरीका नाथ होकर परमानन्दका लाभ कर रहा हूं।

८९–सच्ची दीपमालिका।

एक ज्ञानी आत्मा दीपमालिका पर्व मनानेके लिये तत्पर हुआ है। वह ज्ञान दीपका जलाना ही दीपमालिकाका प्रकाश समझता है। इसलिये वह अपने ही उपयोगके विशाल क्षेत्रमें आत्मज्ञानका दीपक जलाता है। यह दीपक भेदविज्ञानके सलायसे सम्यग्दर्शनरूपी पात्रमें स्वस्वरूपाचरण चारित्रकी बत्ती द्वारा जलाया जाता है। इस प्रकाशको स्वानुभव प्रकाश कहते हैं।

इस दीपकमें सिवाय आत्माके स्वभावानुभवके कोई पर अनुभवका अधकार नहीं है। यहा आत्मा आत्मारूप ही प्रगट हो रहा है। आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मा ही सम्यक्चारित्र है। न यहा कोई रागादि भावोंका तम है, न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोका मैल है, न शरीरादिका सयोग है। इस आत्मज्योतिमई दीपकमें परम वीतरागता है, परम निर्विकारता है। इसके सामने जगतके पदार्थ न इष्ट हैं न अनिष्ट हैं। सर्व ही अपनेर गुण पर्यायोंसे कल्लोल कर रहे हैं। परम समदर्शित्वका झल्काव है। जैसा इसने अपने भीतर अपूर्व ज्ञान दीप जलाया है वैसा ही यह शुद्ध निश्चयनयके प्रतापसे सर्व ही प्राणियोंकी उपयोग भूमिकामें अपनी सूक्ष्म भेद विज्ञानकी बिजलीके द्वारा ऐसे ही दीपकको जला हुआ देखता है। सर्व विश्वकी आत्माओंमें एकसा दीपक जल रहा है। सर्व विश्व अनतानन्त आत्माओंमे व्याप्त है। सबमें ही एकसा ज्ञान दीप प्रकाशित है। सर्व विश्व ही अद्भुत ज्ञान दीपका प्रकाश स्वरूप दीख रहा है—अपूर्व शोभा है।

इस दीपमालिकाकी शोभाके सामने पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पाच द्रव्योंका सर्व प्रकाश उसी तरह छिप गया है जैसे सूर्यके प्रकाशमें चद्रमा व नक्षत्र व तारागण रहते हुए भी अप्रगट रहते हैं। ऐसी दीपमालिकाको जलाकर जो भव्य जीव उत्सव मनाते हैं वे ही सच्ची निर्वाण पूजा करते हैं। वे ही सच्चे श्री महावीर परमात्माके भक्त हैं। वे ही जैनी है। वे ही सम्यग्दृष्टी हैं। वे ही अतरात्मा हैं। वे ही परम रसके पीनेवाले परमानन्दके भोक्ता हैं।

लेता है वैसे ही यह सहजानन्दका भोक्ता होकर अनिर्वचनीय सतो षको पाकर तृप्त होजाता है।

४—आनन्दमई कूप।

एक ज्ञानी आत्मा पाचों इन्द्रियोंके विषयोंको भोगतेर दीर्घ काल विता चुका फिर भी अपने भीतर देखता है तो तृष्णा पहलेसे असख्यगुणी मौजूद है। यद्यपि अवस्था वृद्ध होगई है। इंद्रियोंके भीतर भोगकी शक्ति क्षीण होगई है। तृष्णाका रोग अति प्रचुर ताको प्राप्त है। यकायक मरणका समय आ जाता है। तृष्णाकी वासनामें मरकर वासनानुसार अशुभ योनिमें चला जाता है। फिर वहा तृष्णाके शमनार्थ इन्द्रिय विषयभोगके कारणोंको मिलानेमें रात दिन लगा रहता है। इसी तरह अनत जन्म पाए परन्तु आजतक तृष्णाका रोग नहीं मिट सका। वास्तवमें बहिरात्मापना प्राणीको दु खदाई है। बहिरात्मबुद्धिसे इस अज्ञानीको सहजानन्दका पता नहीं है। यह सहजानद अपना ही भडार ह, अपने पास अटूट भरा ■। इसको निरन्तर भोगा जावे तो भी यह कम नहीं होता है। इसे कोई बिगाड़ नहीं सक्ता, नाश नहीं कर सकता, इसे कोई छीन नहीं सक्ता, इसके भोजनमें किसी भी परवस्तुके आलम्बनकी जरूरत नहीं है। यह स्वाधीन आत्माकी निज सम्पत्ति है। जो यह पह चानता है कि मैं सहजानन्दकी अविनाशी अखण्ड शक्तिका धनी ह, वही सचा सुख है। इसी परमामृतके पानसे विषम तृष्णाका विष शमन होता है। वही अन्तरात्मा है, महात्मा है, सम्यग्दृष्टी है है, वही मोक्षमार्गी है, वही ससारसे वैरागी है, वही भ

श्रमण त्यागी है, वही परम निराकुल धामका ज्ञाता है, वही जगतमें जलमें कमलके समान लिप्त रहता है, वही कर्मोंके उदयको उदयरूप जान लेता है। उनको ज्ञाता दृष्टा होकर देखना है। जब ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मोंका उदय होता है तब वह उनके भेद या तीन फलको लता, दारू (काष्ट), अस्थि व पाषाणके तुल्य जान लेता है।

जब सातावेदनीय आदि पुण्यरूप अघातीय कर्मोंका उदय होता है तब उसे गुड़, खाड, शर्करा (मिश्री) व अमृत समान जान लेता है। जब असातावेदनीयादि पाप प्रकृतियोंका उदय होता है तब उसे नीम, काजीर, विष, हालाहल समान कटुक जान लेता है। जानकर सतोष करलेता है। अपने ही बीजका अच्छा या बुरा फल निपजा है ऐसा समझ लेता है। कर्मोंका उदय तुरन्त नष्ट होजाता है। अतएव इस क्षणिक कर्मके फलमें ज्ञानी हर्ष व विषाद नहीं करता है।

सहजानन्दका पता पानेवाला महात्मा उसी अपने आत्मारूपी कूप पर जाता है। ध्यानकी रस्सीमें उपयोग रूपी लोटेको बाधकर सहजानदके जलको खींचता है। उसको शुद्ध निश्चयनयके छन्नेसे छानकर निर्मल उपयोग रूपी कटोरेमें भरता है और निर्मल सहजानदको पीकर जो सतोष पाता है उसका पता ये पौद्गलिक पराधीन मन वचन काय कैसे पा सक्ते है? धन्य है वे महात्मा जो इस सहजानन्दको पाकर जीवन यात्राका अद्भुत आनन्द

७—ज्ञानमई सरोवर।

सहजानन्द अमृत है। जो इसे पीता है वह अमर होजाता है। सहजानन्द अपना स्वभाव है। घातीय कर्मोंने इसे दबा रक्खा है। ज्ञानावरणीय कर्मने अनन्तज्ञानको, दर्शनावरणीय कर्मने अनन्त दर्शनको, मोहनीय कर्मने सम्यक्त और वीतराग चारित्रको, अंतराय कर्मने अनन्तवीर्यको दबा रक्खा है। जब अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य व शुद्ध सम्यक्त व शुद्ध चारित्र प्रगट होजाते हैं तब शुद्धात्माका साक्षात् दर्शन व ज्ञान व अनुभव सदा ही परम स्थिरताके साथ हुआ करता है। राग,द्वेष मोहकी कल्लोलें बन्द होजाती हैं। निश्चल निर्मल समुद्रकी तरह जब आत्मा अक्षोभ व निराकुल होजाता है तब इसके भीतर शुद्ध सहजानद अनन्तसुखके नामसे प्रकाशित होजाता है।

अरहंत परमात्माके पदकी प्राप्तिके पहले अल्पज्ञानी छद्मस्थ सम्यग्दृष्टी भेदविज्ञानीको भी श्रुतज्ञानके आधारसे भावश्रुतज्ञानमई आत्मीक अनुभव जागृत होता है तब ही सहजानन्दका स्वाद आता है। इस सहजानन्दके स्वादमें आत्माको परम पुष्टता प्राप्त होती है। आत्माके साथ सयोग प्राप्त कर्मका मैल भी कटता है। वास्तवमें सहजानन्द ही मोक्षमार्ग है। जहां शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र होता है वहा ही शुद्धात्मानुभव होता है तथा वहीं सहजानन्दका झलकाव होता है। यही स्वाधीन आत्मीक सुख है।

सहजानन्द एक ऐसा गभीर सरोवर है जिसके भीतर गोता लगानेसे ऐसी शातिमय निद्रा आती है कि सहजानद योगीके भीतर

छ भी कल्पनाए नहीं रहतीं, कुछ तर्क नहीं रहते, कुछ भी चिंताए
नीं रहतीं, कुछ भी रागद्वेष मोह नहीं रहते। कुछ भी वचनोंके
ाह नहीं वहते। कुछ भी कायकी चेष्टा नहीं होती। द्रव्य छ हैं—
के क्या नाम हैं, उनके क्या गुण है, उनकी क्यार पर्याए होती
। मैं हू या नहीं, मैं शुद्ध हू या अशुद्ध हू, एक हू व अनेक
वह सब भी भाव नहीं रहते। वहा तो एक अद्वैत वचनातीत भाव
गट होजाता है, जो ज्ञानी केवल मात्र अनुभवगम्य है, मन,
चन कायके द्वारा जानने योग्य नहीं है। जहा अद्वैतानुभव है वहीं
हजानन्द है।

६—समता सखी।

ज्ञान स्वरूपी आत्मा अनादिकालके अज्ञानके प्रतापसे अपने
ीतर भरे हुए सहजानन्दको भूले हुए है। और विषयोंके आताप
से सतापित होकर उसके शमनके लिये यथासभव इन्द्रियोंकी
ाहको तृप्त करनेकी खूब चष्टा करता है, परन्तु सफलताको नहीं
ाता हुआ निराश होकर बार बार जन्म मरण करता हुआ घोर
ाकुलतामय अपने कालको गमाता रहता है। अज्ञान वास्तवमें
एक ऐसा अधेरा है जिसमें ज्ञान चक्षु रहते हुए भी सुमार्ग और
कुमार्गका पता नहीं लग पाता है। श्री गुरुके प्रतापसे जब सच्चा
धर्मोपदेश मिलता है—भेदविज्ञानका पता पाजाता है, जिसमें झल-
काया जाता है कि यह आत्मा परमात्माके समान स्वभावधारी ज्ञान,
दर्शन वीर्य सुखमय अविनाशी अमूर्तीक है। सर्व रागादि भाव
कर्म, सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, सर्व शरीरादि नोकर्म पुद्गल

आत्माका स्वभाव नहीं है। ये उसी तरहके भाव हैं जैसे मिट्टीसे मिले हुए पानीमें गदलापन दीख पड़ता है। गदलापन पानीका स्वभाव नहीं है उसी तरह राग द्वेषादि विभाव भाव आत्माका स्वभाव नहीं है। जो कोई अपनी सूक्ष्म दृष्टिको इन तीनों शरीरोंके बाहर, रागादि भावोंके बाहर पाच इन्द्रिय तथा मनके द्वारा होने वाले खडज्ञानके भेदोंसे बाहर लेजाता है वही अपने आत्माके स्वभावके भीतर प्रवेश कर जाता है। प्रवेश होते ही सहजानन्दका स्वाद आजाता है।

सहजानन्दका लाभ परमामृतका लाभ है। इसी आनन्दको सिद्ध भगवान भी लेते हैं, इसीको अरहंत भगवान भी लेते रहते हैं। इसीका भोग सर्व साधुजन करते हैं। सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी जीवोंका यही परमप्रिय भोजन है। उनकी तृप्ति इस सहजानन्दके भोगसे ही होती है। वे गृहस्थावस्थामें रहते हुए भी व पाचों इन्द्रियोंका भोग करते हुए भी इन्द्रिय सुखसे तृप्ति नहीं मानते हैं। पूर्व बद्ध कषायोंके वेगको सहन करनेका आत्मबल न पाकर उन कषायोंके आधीन हो उस सम्यग्ज्ञानीको विषयभोग करना पड़ता है, परन्तु वह उसे दुःख ही समझता है। उसकी बुद्धिमें यह विषयसुख विष रूप भासता है। कषायोंकी कालिमाको धोनेका उपाय भी सहजानन्दका लाभ है। ज्ञानी सहजानन्दका पता पाकर अपनेको सदा ही मुक्त, अबद्ध, अमद, अमूर्तीक व शुद्ध अनुभव करता है। स्वानुभवके पुन पुन अभ्याससे यह ज्ञानी सहजानन्दका पुन पुन स्वाद पाता हुआ परम सतोषको पाकर सदा ही प्रसन्न रहता है।

८—साम्य गुफावास।

एक ज्ञानी आत्मा दीर्घकालसे जिस आनन्दकी खोजमें था उसका पता पाकर परम संतुष्ट होगया है। वह स्वाभाविक आनन्द कहीं बाहर नहीं है। आत्माका ही सहज स्वभाव है। आत्मा अनतकालसे विषयसुखका लोभी होकर स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुप होकर बारबार विषय सम्बन्धी पदार्थोंकी तरफ जाता है तथा उनका भोग करता है परन्तु तृष्णाकी दाहको शमन नहीं कर पाता है। तृष्णा और अविद्याके कारण ही यह अज्ञानी आत्मा भवभवमें भटकता रहा है। सहजानन्दके वियोगसे बहुतसी आकुलताए सह चुका है। सहजानंद आत्माका निज स्वभाव है। जैसे पानीका स्वभाव मिष्ट है, इमलीका स्वभाव खट्टा है, ईखका स्वभाव मीठा है नीमका स्वभाव कटुक है, आमलेका स्वभाव कसायला है, घीका स्वभाव चिकना है रत्नका स्वभाव चमकीला है, स्फटिकका स्वभाव निर्मल है, इसीतरह आत्माका स्वभाव आनंदमय है। सहजानन्दका लाभ तब ही होता है जब ज्ञानावरण, दर्शनावरणका ऐसा क्षयोपशम हो जिससे परम सूक्ष्मतत्व आत्माका ज्ञान होसके। अतराय कर्मका ऐसा क्षयोपशम हो जिससे आत्मबल इतना प्रबल प्रगट हो कि उपयोगको सर्व तरफसे हटाकर आत्मीक स्वभावमें जमाया जा सके। दर्शन मोहनीय कर्मका ऐसा उपशम क्षयोपशम या क्षय हो जिससे निज आत्माकी तरफ दृढ रुचि उत्पन्न हो व यह श्रद्धा हो कि मैं आत्मा हू, द्रव्य दृष्टिसे सदा एकाकार शुद्धबुद्ध अविनाशी अमूर्तिक हू, परम सुखका भंडार हू। चारित्र

मोहनीयका ऐसा क्षयोपशम हो कि सांसारिक सुखसे वैराग्य हो और आत्मीक स्वभावमें रमणका राग हो । ऐसी सामग्रीके संयोग होनेपर जब उपयोग आपसे ही आपमें थिर होता है, पांचों इन्द्रियोंकी ओर नहीं जाता है, मनके संकल्प विकल्पोंसे भी हटता है । इन्द्रियातीत उपयोग ही अतीन्द्रिय आत्मीक सहजानन्दका भोग कर सक्ता है ।

शुद्धात्माओंके भीतर इस सहजानन्दका सदा भोग रहता है। उनके इस सहजानन्दके भोगमें कोई अन्तराय नहीं पड़ता है। क्योंकि कोई भी बाधक कर्म उनके भीतर विघ्न नहीं कर सकते हैं। वहां कर्म मैलका रंच भी सम्बन्ध नहीं है ।

एक साधकको उचित है कि वह सहजानन्दके भोगके लिये सर्व परिग्रहका त्यागी हो। यथाजातरूपधारी हो। बालकवत् निर्लेप हो। अहिंसा सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, तथा परिग्रह त्याग महाव्रतोंका पूर्ण पालक हो। बहुत अधिक सताए जानेपर भी जो क्रोधको शमन किये हुए हो, जिसे क्रोध नहीं पैदा हो, जो मानापमानमें समता रखता हुआ कभी मानके वशीभूत नहीं हो। मायाको जिसने वश कर लिया हो। किसी भी स्वार्थवश कलह करनेका भाव जिसके भीतरसे निकल गया हो, लोभ कषायको ऐसा जीता हो कि पांचों इन्द्रियोंका विषयराग मिटा दिया हो। आवश्यक भोजनादिमें परम संतोष धारण कर लिया हो। ऐसा विषयकषाय विजयी महात्मा साधु जब बाहरसे बहुत ही एकान्त स्थानको सेवन करता है, पर्वतकी गुफा नदीतट, वन आदिमें बैठता है जहां मनुष्योंका शब्द भी नहीं सुन पड़ता है, निश्चल आसनसे स्थित होकरके भीतरी

सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रमयी निर्विकल्प समाधिमई परम सामायिकरूप साम्यकी स्वच्छतासे पवित्र गुफामें जाकर विराजता है। इस तरह आपसे ही आपमें आपके ही लिये आपमेंसे आपको आप ही स्थापित करता है और कर्ताकर्म आदि षट्कारकके विकल्पोंको त्यागता है तब ही यकायक सहजानंदका प्रवाह बह निकलता है और यह साधु उसका धारावाही पान करता हुआ जिस परम संतोषको पाता है वह केवल अनुभवगम्य है।

९–वैराग्य पर्वतारोहण।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके विकारोंको बन्द करके एक आत्माके ही स्वरूपके विचारमें लगा हुआ है। क्योंकि इसको श्रीगुरुने बताया है कि सच्चा सुख आत्मामें ही है। जगतमें ६ द्रव्य हैं उनमें धर्म, अधर्म, काल, आकाश, पुद्गल चेतना रहित है। मात्र जीव पदार्थ ही चेतना सहित है। जहा चेतनाका विलास है वहीं ज्ञान चेतनाका वास है। ज्ञान स्वभावका अनुभव करना ही सच्चे सुखका स्वाद प्राप्त करनेका उपाय है। प्राणी कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके अनुभवको करते हुए निरंतर रागद्वेष मोह मलीन भावोंका ही स्वाद लेरहे हैं। इसी कारण वीतराग आनदका स्वाद नहीं आता है। लवण मिश्रित खारे जलके पीनेसे लवणका ही स्वाद आता है खटाई मिश्रित जलको पीनेसे खट्टेपनेका स्वाद आता है, नीमके कटुक पत्तोंके रससे मिले हुए जलको पीनेसे कटुकताका ही स्वाद आता है। इसीतरह राग सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे रागका, द्वेष सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे द्वेषका, मोह सहित ज्ञानोपयोगके

स्वादसे मोहका, काम सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे कामका, भय सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे भयका स्वाद आता है। निर्मल पानीके पीनेसे जैसे पानीका असली स्वाद आता है वैसे ही वीतरागता सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे आत्माके सच्चे सुखका स्वाद आता है।

सहजानन्द गवेषी इसीलिये सबसे नाता तोड़कर एक अपने आत्मस्वरूपसे नाता जोडता है, अपने आत्माको ही सार वस्तु समझता है। अपने आत्माको ही अपना क्रीडावन बनाता है। जिस किसीने सहजानन्दका पता पाया है, सहजानन्द पानेका मार्ग उपलब्ध किया है वही यथार्थमें सम्यग्दृष्टि है, वही श्रावक है, वही साधु है।

जो सहजानन्दको पूर्णपने प्राप्त करनेके लिये कमर कस लेते हैं और यह दृढ़ भावना भाते हैं कि हम सब कुछ कर्मोदयकी आपत्तियोंको सहर्ष सहन कर लेंगे, परन्तु सहजानन्दके पूर्ण लाभके विना कभी भी चैन न ग्रहण करेंगे, वे साधु आत्माके भीतर विश्रान्ति पाते हुए वैराग्यके पर्वतपर चढ़ते हुए गुणस्थानक्रमसे विरोधी कर्म-शत्रुओंको क्षय कर अर्हन्त परमात्मा होजाते हैं। फिर सिद्धालयमें जाकर सिद्धपदमें ध्रुवतासे निवास करते हुए निरन्तर सहजानन्दका उपभोग करते रहते हैं। एक सत्य खोजीका कर्तव्य है कि वह सत्यका अनुयायी होकर चले और सहजानन्दको आपसे अपने ही द्वारा प्राप्तकर अनादि कालीन तृष्णाको शमन कर परम सतोषी होजावे।

१०-स्वात्माराम क्रीडा।

ज्ञानदर्शन गुणधारी आत्मा अनादि कालसे अपने ज्ञानदर्शनका लक्ष्य उन पदार्थोंको बना रहा था, जिनके भोग करनेसे राग-

भाव द्वारा विषयसुखका भान होता था, परन्तु कभी भी तृष्णाका
दाह शमन नहीं कर पाता था। इससे समय समय कोटानुकोटि
इच्छाओंके वशीभूत होकर आकुलित होरहा था। परतु श्री गुरुके
प्रतापसे उसको सहजानदका पता चल गया और यह निश्चय होगया
कि यह सहजानद मेरे ही आत्मामें सर्वांग पूर्ण भरा है। यह मेरे
ही आत्माका स्वभाव है। बस इस श्रद्धाके साथ जैसी२ रुचि बढ़नी
है यह अपने उपयोगको सर्व परपदार्थोंसे–इन्द्रिय विषयभोगोंसे सकु-
चित करता है और इस उपयोगको सहजानदके धनी निजात्माके
द्रव्यपर जोडता है। इसे ही योग या ध्यान कहते हैं। आत्मीक ध्या-
नके प्रकाशसे आत्मस्थ होकर यह ज्ञानी जीव सहजानदको पालेता
है। फिर तो उस निज आनदमें इसी तरह आसक्त होजाता है जैसे
भ्रमर कमलकी वासमें अनुरक्त होजावे।

सहजानद स्वभावको प्रकाश करनेवाला है, विषयानद विभा-
वको बढ़ानेवाला है। इस प्रतीतिका झल्काव जिसके भीतर होजाता
है वही सम्यग्दृष्टी महात्मा है। यही अनादि भव भ्रमणको मिटानेका
पात्र है। भव भ्रमणका कारण विषय सुखका अन्वेषण है। शरीर
राग है। पुद्गलका स्वागत है। जहा पुद्गलसे विराग हुआ–अपने
जीवत्वमें प्रेम हुआ वहीं भव–भ्रमणका अत निकट आ ही गया।
अपने घरमें विश्राम लेनेका अवसर प्राप्त हो ही गया। मोक्षमार्ग
सहजानदका भोग है। मोक्ष भी सहजानदका निरतर भोग है। दोनों
हीकी एक जात है। दोनोंमें ही साम्यता है। जैसा कारण होता है
वैसा कार्य होता है। जितनी२ वृत्ति पर पदार्थसे रुकती जाती है

उतनी२ वृत्ति निज पदार्थपर जमती जाती है। यही गुणस्थानारोहण है। यही समताके मार्गपर चर्चा करना है। यही वीतराग विज्ञान ताका झलकाव है। विवेकी जीव सहजानदके लाभके लिये निरतर स्वात्मारामर्में क्रीड़ा करता हुआ परम सतोषी व परम तृप्त बना रहता है तथा अपनेको जीवनमुक्त अनुभव करता है।

११–समता सखीका नृत्य।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व मपचजालसे रहित होकर जब विचार करता है तब उसको पता चलता है कि वह दीर्घकालसे इस ससार समुद्रमें गोते लारहा है और सुखके लिये अपनी लालसा लगाए हुए है परन्तु उसे इन्द्रियजनित अतृप्तिकारी क्षणिक सुख ही प्राप्त हुआ जिससे इस जीवको कभी तृप्ति नहीं होसकी। सच्चा सुख अपने ही आत्माका स्वभाव है सो इसके जाननेमें, परिचयमें तथा अनुभवमें नहीं आया।

श्री गुरुकी कृपासे इसको विश्वास होगया कि वह सुख अपने ही आत्मामें है। वह सुख इस आत्माका ही एक गुण है। जैसे किसी दरिद्रीको किसी गुप्त भण्डारका पता मालूम होजावे तो वह आनदमें प्रफुल्लित होजाता है और उसे ऐसा प्रतिभास होता है मानो मैंने उस भण्डारको पा [illegible] लिया। इसी तरह सत्यखोजीको सच्चे सुखका पता लगनेसे परम आनन्द होता है।

आत्माके किस प्रदेशमें वह सच्चा सुख है, यदि विचार किया जावे तो आत्माके हरएक प्रदेशमें अनन्त सहजानन्द है। मिश्रीकी डलीका हरएक कण मिष्टता सयुक्त है वैसे आत्माके

एक २ प्रदेश आनन्द संयुक्त है। जब आप ही आत्मा है और अपने पास ही वह सुख है तब उस सुखका स्वाद क्यों नहीं आता? इसका कारण यह है कि यह मानव रागद्वेष मोहादि कषाय भावोंके स्वादको सदाकाल लेता रहता है। इसी कारण वीत राग आत्मीक भावका आनन्द नहीं मिलता। उचित है कि सर्व पदार्थोंसे रागद्वेष मोह छोडा जावे, व्यवहार दृष्टिको ही बन्द कर दिया जावे, निश्चयनयकी दृष्टिको ही काममें लिया जावे। जब सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वाभाविक भावमें दिखलाई पड़ेंगे तब सर्व आत्माएं भी अपने स्वभाविक भावमें दिखलाई पड़ेंगे। फिर बड़े छोटेका धनिक निर्धनका स्वामी सेवकका सब भेद मिट जायगा। सर्व ही प्राणी एकसे समान दिखलाई पड़ेंगे।

चेतनसे ही रागद्वेष होता है। जब सर्व चेतन समान है तब किससे राग व किससे द्वेष? निश्चयनयकी कृपासे समता सखीका नृत्य उपयोगमें होने लगता है। समताके आते ही अपने आत्माकी ओर विशेष लक्ष्य जाता है। अपने आत्माके भीतर जब उपयोग कुछ भी देरके लिये जमता है तब ही सहजानन्दका स्वाद आजाता है। परसे हटकर स्वमें जमना ही आनन्द प्राप्तिका उपाय है।

सहजानन्दका स्वाद अपार है। यह ही वह आनन्द है जिसे सिद्ध निरंजन सदा ही भोगते रहते हैं। मैं भी इसी सहजानन्दके लाभके लिये सर्वसे उदासीन होकर साम्य रससे पूर्ण निजात्मीक सरोवरमें कल्लोल करता हूं और क्षणमात्रमें परम सुखी होकर अपने अनादि कालके भ्रमको सदाके लिये मेट देता हूं।

१२–गुप्त भंडारका पता ।

ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी आत्मा चिरकालसे तृषातुर था–दुःखित था, क्योंकि इसके साथ पुद्गलका संयोग है। पुद्गलका स्वरूप जीवके स्वरूपसे विपरीत है। पुद्गल जड़ है तो जीव चेतन है, पुद्गल अपवित्र है तब जीव पवित्र है, पुद्गल दुःख व आकुलताका कारण है तब जीव अतींद्रिय सुख निराकुलताका समुद्र है, पुद्गल अपनेको भी नहीं जानता तब जीव अपनेको भी जानता है, परको भी जानता है। यद्यपि सत्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व साधारण गुणोंकी अपेक्षा जीव और पुद्गल समान हैं तथापि विशेष गुणोंकी अपेक्षा भिन्न हैं। जीव और पुद्गलके संयोगसे अनादिकालीन जीवको निज शुद्ध सहजानंदका पूर्ण अनुभव नहीं होपाता जैसा पूर्ण और शुद्ध अनुभव शुद्ध सिद्ध आत्माको है। एक दफे पूर्ण शुद्धात्मानुभव प्राप्त होपाता है तब फिर परानुभवका अवकाश नहीं रहता, क्योंकि जबतक मोहनीय कर्मका उदय है तबतक रागद्वेष मोहका विकार उपयोगको मलीन करता है। मोहनीय कर्मके क्षय होजानेके पीछे परानुभव होनेका कोई अवकाश नहीं है। क्योंकि जैसे समुद्र पवनके झकोरोंसे कल्लोलित होता है वैसे आत्माका उपयोग मोहनीय कर्मके विकारोंसे क्षोभित होता है। पवन सचारके विना जैसे समुद्र निश्चल और अक्षोभित रहता है वैसे मोहनीयके उदय विना आत्माका उपयोग अक्षोभित और निश्चल रहता है। मोहनीय कर्मके क्षय होते ही सर्व शेष कर्म धीरे२ क्षय होजाते हैं।

मोहनीय कर्मके क्षय होनेका उपाय वास्तवमें सहजानंदका अनुभव है। जिसका अनुभव अनादिकालसे नहीं हुआ उसका अनु

सब कैसे हो यह बड़ा गंभीर प्रश्न है। सहजानंदका अनुभव उस-समय तक नहीं होसक्ता जबतक सम्यक्दर्शनका प्रकाश न हो। सम्यक्दर्शन एक ऐसी निधि है जो अपने ही भीतर आत्माके प्रदेशोंमें प्रकाशमान है, परन्तु वह कर्मोंके ढेरके भीतर छिपी है। मैं शुद्धात्मा हू, मैं परमानन्दमई हू, ज्ञाताद्रष्टा हूं, कर्मजनित सर्व भावोंसे मैं भिन्न हू, यह दृढ़ श्रद्धान होजाना ही सम्यग्दर्शन है। इस श्रद्धानके होते ही उपयोग उसीकी ओर रुचि करने लग जाता है और जब इच्छा हो तब ही उस सहजानंदका स्वाद लेता है।

श्री गुरु परमप्रतापी भेदविज्ञानी गुप्त भंडारका पता बतानेवाले जब शिष्यपर कृपादृष्टि करते हैं तब उसकी भ्रमबुद्धि मिटा देते हैं। उसको बता देते हैं कि पराधीन इन्द्रियजनित सुखसे कभी शांति नहीं मिलेगी। अतीन्द्रिय सुख आत्माका स्वभाव है।

हे शिष्य ! तू सर्व ही आत्मासे अन्य परपदार्थोंसे रुचिको हटाले और जैसा पता आत्माका बताया जाता है उसीके अनुसार खोज। जिनने खोजा उनने ही अपने आत्माको पाया। श्री गुरुके वचनोंपर विश्वास करके जो कोई अपने मन वचन कायकी प्रवृत्तिको रोकता हुआ व्यायाम करता है वह भेदविज्ञानके अभ्याससे कभी न कभी सम्यग्दर्शनरूपी रत्नको पालेता है। रुचिवान शिष्य सम्यग्दर्शनका प्रकाश पाकर परम संतोषी होजाता है, अनादिकालकी व्याधाको मिटा देता है और बड़े ही प्रेमसे सहजानंदका भोग पाता हुआ कालयापन करता है और अपनेको मुक्तात्मासम ही अनुभव करता है।

१३–सिद्धोंका भोजन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विभावोंको हेय समझ कर स्वभावासक्तिका प्रेमी होकर सहजानन्दकी खोज करता है। मिथ्यादृष्टीको इस सहजानन्दका पता नहीं लगता है क्योंकि उसको रात दिन विषयसुखकी ऐसी गाढ़ रुचि रहती है कि वह कभी भी सहजानन्दकी प्रतीति ही नहीं करता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे इसकी बुद्धि पर ऐसा परदा पड़ा रहता है जिससे वह परम गुरुके उपदेश पर भी कुछ ध्यान नहीं देता है। किन्तु सहजानन्दके उपदेशदाताओंको पागल व बेकार समझता है। जैसे उल्लूको सूर्यका दर्शन नहीं सुहाता है वैसे मिथ्यात्वीको तत्वज्ञानका उपदेश नहीं सुहाता है। ऐसे मिथ्यात्वीको सहजानन्दकी रुचि कैसे हो यह बड़ा भारी प्रश्न है। बारबार संसारमें आपत्तियोंके पाने पर व इच्छानुकूल विषयोंको न पाकर या प्राप्त हुए विषयोंके वियोगसे दुःखित होकर जब वह संसारकी मायासे असहनीय कष्टोंको भोगता है तब वह दुःखोंसे उदासी पाता है। ऐसे अवसर पर जब उसे किसी तत्वज्ञानीका उपदेश मिलता है तब वह विचार करता है कि शायद इस उपदेशसे मुझे कुछ सुख शांति मिले। यही वह अवसर है जब मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधीका उदय मन्द पड़ता है।

जैसे मन्द नदीके प्रवाहमें तैरनेवाला प्रवाहकी दिशाके विरुद्ध भी तैर सक्ता है वैसे मंद मिथ्यात्वादिके उदयमें विवेकी तत्वके विचारकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। श्रीगुरु पता बताते हैं कि आत्मामें ही सहजानंद है। सहजानन्द आत्माका निज स्वभाव

। आत्मा अमूर्तीक है, ज्ञान दर्शनमई पुद्गल रचित विकारोंसे बिल
ल भिन्न है । सिद्ध समान शुद्ध है । यही ईश्वर परमात्मा है ।
ही सर्व पदार्थोंसे महान है । राग द्वेष क्रोध मान माया लोभादि
भाव सर्व ही पुद्गल कृत विकार हैं । इस तरहका उपदेश लेकर
ब वह खोजी संसारके कार्योंमें उदासी रखता हुआ एकांतमें बैठ-
र विचार करता है, जब आत्माके निश्चय स्वरूपका विचार करते
ए इसके भावोंमें शांति छाजाती है तब इसको अपनी अवस्था पह-
से अच्छी दीखती है । बस यह तत्व विचारका प्रेमी होजाता है।
तब इसको गुरुका उपदेश, शास्त्रका पाठ अच्छा लगता है । गुरुके
उपदेशानुसार यह वर्तन करने लग जाता है, देवभक्ति भी करता है,
नियम भी पालता है, दान भी देता है, दया व न्यायपूर्वक वर्तन
करता है । जितनी२ शांति इसको तत्वोंके विचारसे मिलती जाती
है उतनी२ इसकी विषयकी रुचि घटती जाती है । कषायोंकी मंदता
होनेसे व वीतरागताकी वृद्धि होनेसे यह मिथ्यात्व और अनतानु-
बन्धी कषायोंके अनुभागको घटाता हुआ चला जाता है। एक समय
अकस्मात् आजाता है । जब यह सम्यक्त-विरोधी कर्मोंका उपशम
करके सम्यग्दर्शनरूपी रत्नको जो उसकी आत्मा हीमें गुप्त था प्रगट
कर देता है । सम्यक्तभावके प्रगट होते ही यह सहजानंदका स्वाद
पालेता है । इसको सहजानंदका चस्का लग जाता है । फिर तो यह
जब चाहे तब ही सहजानन्दरूपी अमृतको अपने आनन्द-सागर
आत्मासे प्राप्त कर लेता है । जब स्वसन्मुख हुआ कि आत्मीक-
रसका वेदन होगया । वास्तवमें सहजानंद ही परमामृत है । यही
सिद्धोंका नित्य भोजन है ।

१३–सिद्धोंका भोजन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विभावोंको हेय समझ कर स्वभावा सक्तिका प्रेमी होकर सहजानन्दकी खोज करता है। मिथ्यादृष्टीको इस सहजानन्दका पता नहीं लगता है क्योंकि उसको रात दिन विषयसुखकी ऐसी गाढ़ रुचि रहती है कि वह कभी भी सहजा नन्दकी प्रतीति ही नहीं करता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमे इसकी बुद्धि पर ऐसा परदा पड़ा रहता है जिससे वह परम गुरुके उपदेश पर भी कुछ ध्यान नहीं देता है। किन्तु सहजानन्दके उपदेशदाताओंको पागल व बेकार समझता है। जैसे उल्लूको सूर्यका दर्शन नहीं सुहाता है वैसे मिथ्यात्वीको तत्वज्ञानका उपदेश नहीं सुहाता है। ऐसे मिथ्यात्वीको सहजानन्दकी रुचि कैसे हो यह बड़ा भारी प्रश्न है। वारवार संसारमें आपत्तियोंके पाने व इच्छानुकूल विषयोंको न पाकर या पाए हुए विषयोंके वियोगसे दुखित होकर जब वह संसारकी मायासे असहनीय कष्टोंको भोगता है तब वह दुःखोंसे उदासी पाता है। ऐसे अवसर पर जब उसको किसी तत्वज्ञानीका उपदेश मिलता है तब वह विचार करता है कि शायद इस उपदेशसे मुझे कुछ सुख शांति मिले। यही वह अवसर है जब मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीका उदय मन्द पड़ता है।

जैसे मन्द नदीके प्रवाहमें तैरनेवाला प्रवाहकी दिशा विरुद्ध भी तैर सक्ता है वैसे मंद मिथ्यात्वादिके उदयमें विवे तत्वके विचारकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। श्रीगुरु पता बत है कि आत्मामें ही सहजानंद है। सहजानंद आत्माका निज स्वभ

वहीं आत्माका दर्शन व भोग बन्द होजाता है। निश्चय समुद्रके जलमें जैसा अपना मुख दिखता है वैसा तरङ्गावलीसे चचल समुद्रमें नहीं। सहजानन्द निज वस्तु है, कोई पर वस्तु नहीं है जिसके लिये परकी मददकी जरूरत हो।

सहजानन्दका भोग जिन जिन महात्माओंको होता है चाहे वह चिरकालके लिये हो या अचिरकालके लिये हो वे सर्व ही महात्मा प्रतिष्ठाके पात्र हैं, वे सर्व ही भव्य हैं, वे सर्व ही जीव मुक्त हैं। पशु, पक्षी, नारकी, कल्पवासी देव, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, भोगभूमि मानव व कर्मभूमि मानव जिसके भीतर सहजानंदका लाभ है वही सम्यग्दर्शी व मोक्षमार्गी है।

सहजानन्द विषयानन्दसे विरुद्ध है। सहजानन्द जब स्वाधीन है तब विषयानन्द पराधीन है। सहजानन्द जब बाधारहित है तब विषयानन्द बाधासहित है। सहजानन्द जब अविनाशी है तब विषयानन्द नाशवंत है। सहजानन्द जब बन्ध छेदक है तब विषयानन्द बंधकारक है। सहजानन्द जब निराकुल समतारूप है तब विषयानन्द साकुल व विषम है। ऐसा दोनोंका भेदज्ञान समझकर जो कोई सहजानंदका रोचक होजाता है वही अपने जीवनको सफल करता है। उसका जीवन सुवर्णमय जीवन है।

१५–आप ही शरण हैं।

कहा है सहजानन्द ? यह वही आनन्द है जो स्वाधीनताके साथ भोगा जाता है और जिससे परम साम्यभाव और निराकुलताके परिणाम होजाते हैं। इस आनन्दानुभवकी दशाको ही मोक्षमार्ग

१४-सुवर्णमय जीवन ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विचारोंको बंद कर इस चिंतामें है कि किसी तरह ऐसा सुख प्राप्त हो जिसके लिये पर वस्तुमें मदद लेनेकी जरूरत न पड़े। वह किसी गुरुके पास जाकर उसका पता पूछता है। गुरु बताते हैं कि वह सुख इस अपने ही आत्माका स्वभाव है। जो कोई अपने आत्मामें स्थिर होता है, वही उस सुखको पाता है। इस सुखके लाभ करनेमें मन, वचन, काय, तीनोंकी ही जरूरत नहीं है। इन तीनोंकी पराधीनता छोड़े बिना कभी भी वह सहज सुख नहीं भोगा जासक्ता है। आत्माका स्वभाव परमात्माके समान है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, परमानंदमय, अमूर्तीक, अविनाशी, निर्दोष, निर्विकार है। वह सत् पदार्थ है। आदि व अंत रहित है। ऐसा ही हरएक आत्मा है। सहज सुख पानेके लिये हमें उस मनके विकल्पको भी हटाना होगा कि आत्मा है व उसमें अमुक २ गुण है या वह परमात्माके समान है। गुण व गुणीके व्यवहारको भी छोड़ना होगा। एक अभेद सामान्य ज्ञायक स्वभावमें तल्लीन हुए विना सहजसुखका लाभ नहीं होसक्ता। सहजसुखका लाभ ही मोक्षमार्ग है। जिस उपायसे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा हो व नवीन कर्मोंका आस्रव निरोध हो वही मोक्षमार्ग होसक्ता है। वह एक सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मीक स्वभावमें रमण है। इसीको रत्नत्रय धर्म कहते है। इसीको आत्मानुभूति कहते हैं। जहां सहजसुखका भोग है वहीं शुद्धोपयोग है। जहां उपयोग आत्मामें तल्लीनताको छोड़कर जरासा भी चचल होता है

वहीं आत्माका दर्शन व भोग बन्द होजाता है। निश्चय समुद्रके जलमें जैसा अपना मुख दिखता है वैसा तरङ्गावलीसे चचल समुद्रमें नहीं। सहजानन्द निज वस्तु है, कोई पर वस्तु नहीं है जिसके लिये परकी मददकी जरूरत हो।

सहजानन्दका भोग जिन जिन महात्माओंको होता है चाहे वह चिरकालके लिये हो या अचिरकालके लिये हो वे सर्व ही महात्मा प्रतिष्ठाके पात्र हैं, वे सर्व ही भव्य हैं, वे सर्व ही जीव मुक्त हैं। पशु, पक्षी, नारकी, कल्पवासी देव, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, भोगभूमि मानव व कर्मभूमि मानव जिसके भीतर सहजानदका लाभ है वही सम्यग्दर्शी व मोक्षमार्गी है।

सहजानन्द विषयानन्दसे विरुद्ध है। सहजानन्द जब स्वाधीन है तब विषयानन्द पराधीन है। सहजानन्द जब बाधारहित है तब विषयानन्द बाधासहित है। सहजानन्द जब अविनाशी है तब विषयानन्द नाशवन्त है। सहजानन्द जब बन्ध छेदक है तब विषयानन्द बन्धकारक है। सहजानन्द जब निराकुल समतारूप है तब विषयानन्द साकुल व विषम है। ऐसा दोनोंका भेदज्ञान समझकर जो कोई सहजानदका रोचक होजाता है वही अपने जीवनको सफल करता है। उसका जीवन सुवर्णमय जीवन है।

१९–आप ही शरण है।

कहा है सहजानन्द ? यह वही आनन्द है जो स्वाधीनताके साथ भोगा जाता है और जिससे परम साम्यभाव और निराकुलताके परिणाम होजाते है। इस आनन्दानुभवकी दशाको ही मोक्षमार्ग

१४-सुवर्णमय जीवन ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विचारोंको बंद कर इस चिंतामें है कि किसी तरह ऐसा सुख प्राप्त हो जिसके लिये पर वस्तुसे मदद लेनेकी जरूरत न पड़े । वह किसी गुरुके पास जाकर उसका पता पूछता है । गुरु बताते हैं कि वह सुख इस अपने ही आत्माका स्वभाव है । जो कोई अपने आत्मामें स्थिर होता है, वही उस सुखको पाता है । इस सुखके लाभ करनेमें मन, वचन, काय, तीनोंकी ही जरूरत नहीं है । इन तीनोंकी पराधीनता छोड़े विना कभी भी वह सहज सुख नहीं भोगा जासक्ता है । आत्माका स्वभाव परमात्माके समान है । परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, परमानंदमय, अमूर्तीक, अविनाशी, निर्दोष, निर्विकार है । वह सत् पदार्थ है । आदि व अंत रहित है । ऐसा ही हरएक आत्मा है । सहज सुख पानेके लिये हमें उस मनके विकल्पको भी हटाना होगा कि आत्मा है व उसमें अमुक २ गुण हैं या वह परमात्माके समान है । गुण व गुणीके व्यवहारको भी छोड़ना होगा । एक अभेद सामान्य ज्ञायक स्वभावमें तल्लीन हुए विना सहजसुखका लाभ नहीं होसक्ता । सहजसुखका लाभ ही मोक्षमार्ग है । जिस उपायसे पूर्व बद्ध कर्मोंकी निर्जरा हो व नवीन कर्मोंका आस्रव निरोध हो वही मोक्षमार्ग होसक्ता है । वह एक सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मीक स्वभावमें रमण है । इसीको रत्नत्रय धर्म कहते हैं । इसीको आत्मानुभूति कहते हैं । जहां सहजसुखका भोग है वहीं शुद्धोपयोग है । जहां उपयोग आत्मामें तल्लीनताको छोड़कर जरासा भी चचल होता है

वहीं आत्माका दर्शन व भोग बन्द होजाता है। निश्चय समुद्रके जलमें जैसा अपना मुख दिखता है वैसा तरङ्गावलीसे चचल समुद्रमें नहीं। सहजानन्द निज वस्तु है, कोई पर वस्तु नहीं है जिसके लिये परकी मददकी जरूरत हो।

सहजानन्दका भोग जिन जिन महात्माओंको होता है चाहे वह चिरकालके लिये हो या अचिरकालके लिये हो वे सर्व ही महात्मा प्रतिष्ठाके पात्र हैं, वे सर्व ही भव्य हैं, वे सर्व ही जीव मुक्त हैं। पशु, पक्षी, नारकी, कल्पवासी देव, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, भोगभूमि मानव व कर्मभूमि मानव जिसके भीतर सहजानंदका लाभ है वही सम्यग्दर्शी व मोक्षमार्गी है।

सहजानन्द विषयानन्दसे विरुद्ध है। सहजानन्द जब स्वाधीन है तब विषयानन्द पराधीन है। सहजानन्द जब बाधारहित है तब विषयानन्द बाधासहित है। सहजानन्द जब अविनाशी है तब विषयानन्द नाशवंत है। सहजानन्द जब बंध छेदक है तब विषयानन्द बंधकारक है। सहजानन्द जब निराकुल समतारूप है तब विषयानन्द साकुल व विषम है। ऐसा दोनोंका भेदज्ञान समझकर जो कोई सहजानंदका रोचक होजाता है वही अपने जीवनको सफल करता है। उसका जीवन सुवर्णमय जीवन है।

१५-आप ही शरण है।

कहा है सहजानन्द ? यह वही आनन्द है जो स्वाधीनताके साथ भोगा जाता है और जिससे परम साम्यभाव और निराकुलताके परिणाम होजाते हैं। इस आनन्दानुभवकी दशाको ही मोक्षमार्ग

कहते हैं । वही निश्चय या वास्तविक रत्नत्रयका प्रकाश है, वहीं शुद्धात्म प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन है, वहीं शुद्धात्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान है, वहीं शुद्धात्मामें आचरणरूप या थिरतारूप सम्यक्चारित्र है । आनन्दमय मोक्षमार्गका प्रकाश सहजानन्दमें है । यह सहजानंद कहीं बाहर नहीं है । यदि इसको पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश पांच अजीव द्रव्योंमें ढूंढें व पुद्गलकी रचित कुरसी, पलंग, तिपाई, चारपाई, वस्त्र, भोजन, अलंकार, बर्तन व मकानादि वस्तुओंमें ढूंढें व चेतन अचेतनकी मिश्रित अवस्थामें ढूंढें अर्थात् देव, मानव, नारक, तिर्यंच गतिके मलीन भावोंमें ढूंढें, क्रोधादि कषायोंमें ढूंढें, गुणस्थानोंके विचारमें ढूंढें अर्थात् देव मानव नारक, तिर्यंचगतिके मलीन भावोंमें ढूंढें, कर्मबंधकी प्रक्रियाके विस्तारमें ढूंढें बंध उदय, सत्तामें व प्रकृति प्रदेश अनुभाग व स्थितिबंधमें ढूंढें, गति इन्द्रिय काय योगादि चौदह मार्गणाओंके विचारमें ढूंढें तो कहीं भी नहीं मिलेगा । यदि गुण और गुणीके भेद विचारमें ढूंढें तौभी इसका पता नहीं चलेगा । जब इस सहजानंदको निश्चयनयकी दृष्टिके द्वारा अपने ही आत्मामें ढूंढा जाता है तब ही इसका पता चलता है ।

निश्चयनयकी दृष्टि दिखलाती है कि यह अपना ही आत्मा जलमें कमलवत् कर्मके बंधनोंसे अबंध व अस्पृश्य है तथा यह सदा एक शुद्ध स्वभावमें ही रहता है व यह चञ्चलता रहित परम निश्चल है । तरंगरहित समुद्रके समान थिर है तथा यह अपने गुणोंका अभेद एक सामान्य पिंड है और यह रागादि भावोंके संयोग रहित

परम वीतराग है। जैसे अग्निके संयोग रहित जल शीतल होता है वैसा ही परम शीतल यह आत्मा है। इस तरह जो कोई भव्य जीव सिद्ध भगवानके समान ही अपने आत्माको मानकर जानकर व उसीमें एकतानता प्राप्त करता है। सिद्धमें और अपने आत्माके द्रव्यमें बिलकुल सदृशता जानता है। सोहं मंत्रके द्वारा चिंतवन करनेका अभ्यास करता है। वह महान आत्मा सम्यग्दृष्टी जीव आत्माका स्वाद पालेता है यही सहजानंदका लाभ है। आत्माका स्वाद ही सहजानंदमई है। जैसे लवणका स्वाद खारापन है, नीमका कटुकपन है, मिश्रीका मिष्टपन, इमलीका खट्टापन है, आंवलेका कषायला है वैसे ही आत्मा द्रव्यका स्वभाव सहजानंद है जो सर्व शरणमय पदार्थोंका शरण छोड़कर यहांतक कि अरहंतादि पांच परमेष्ठीकी भी शरणको त्यागकर एक निज शुद्धात्माकी शरण ग्रहण करता है वही ज्ञानी सहजानंदको पाकर मगन होजाता है, आप आपमें तल्लीन होजाता है।

१६-अदृष्ट अगाध समुद्र।

जगतके जीव अशुद्ध है, बुभुक्षित है, पिपासित है। तृष्णाके प्रवाहमें बह रहे है। कारण यही है कि उनको अपनी स्वाभाविक शक्तियोंका विकाश प्राप्त नहीं है। वे कर्मोदयके जालमें गृसित है। वे अपने स्वभावको भूले हुए है। अनंतकाल इस अनादि जगतमें उनको चार गतिमें चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुए होगया परन्तु उनकी तृष्णा जरा भी शमन नहीं हुई। जैसे खारे जलके पीनेसे प्यास नहीं बुझती है वैसे इन्द्रिय सम्बन्धी

यिक सुखके भोगनेसे तृष्णाका शमन नहीं होता है। अनतकाल
 यह जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रियोंके भोग
 चुका है परन्तु इसकी एक भी इन्द्रियभोगकी तृष्णा शमन नहीं
 है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। खाज खुजानेसे बढ़ती
है कम नहीं होती है। अज्ञानके कारण ससारी जीव वैषयिक
ख़को सुख मान रहे हैं। खेद है कि वे उस सहजानंदको नहीं
चान रहे हैं जो उन्हींके आत्माकी सम्पत्ति है व जो पूर्ण कलशकी
ह आत्मामें सर्वत्र प्राप्त है। आत्मा सहजानदका सागर है। सुख
गरके ऊपर अज्ञान, मोह व तृष्णाका ऐसा जाल बिछा हुआ है
ससे उस अज्ञानी प्राणीको अपने परमामृतमई सहजानदका स्वाद
ीं आता है किन्तु कटुक विषसम वैषयिक सुखका स्वाद आता
। जैसे मिष्ट जलमें यदि लवणमिश्रित हो और उस जलका पान
या जावे तो लवणका ही स्वाद आयगा, मिष्ट जलका स्वाद नहीं
ायगा। मिष्टका स्वाद लेनेके लिये लवणको दूर करना होगा।
से ही आत्मामें भरे हुए सहजानदका स्वाद लेनेके लिये अज्ञान,
ह व तृष्णाके विकारको हटाना होगा। अर्थात् सम्यग्दर्शनका लाभ
प्त करना होगा। अपने आपकी सच्ची श्रद्धाको जागृत करना होगा।
 क्या हू, मेरा क्या स्वभाव है, इस ज्ञानको प्राप्त करना होगा।
ज आत्माका यथार्थ श्रद्धान, निज आत्माका यथार्थ ज्ञान व निज
ात्मामें यथार्थपने लीनता प्राप्त करनी यही रत्नत्रयका लाभ है।
ही यह उपाय है जिससे सहजानंदी आत्मा प्रभुके ऊपर पडे हुए
र्मोके आवरणको हटाया जासक्ता है।

दीर्घकालसे भटके हुएको अपने स्वभावकी प्रतीति कराना बड़ा ही दुर्लभ है। परन्तु श्रीगुरुके उपदेशका यह प्रभाव है जो वज्र मिथ्यात्वीके भी कान खड़े होजाते हैं और उसकी पहले तो इतनी ही रुचि होती है कि वह आत्मीक उपदेशके सुननेके लिये उत्सुक होजाता है।

उसकी उत्सुकताकी डोर जब गुरुके हाथमें आजाती है तब गुरु ऐसा मनोहर मिष्ट उपदेश देते हैं जिससे वह भक्त धीरे २ अधिक २ खिंचा चला जाता है। उसके भीतर गुरु वचन सुननेकी अधिक उत्कण्ठा जागृत होजाती है वह अपना अधिक समय उपदेश श्रवणमें लगाता है। कारण यह होता है कि श्रीगुरुके मिष्ट उपदेशकी चोट हृदयपर लगते ही उसके भीतर सुख शांतिका रस वेदित होने लगता है। जब वह भक्त अपनी पहलेकी आकुलताका कुछ शमन पाता है वह अधिक २ इस उपायका शरण ग्रहण करता है। अध्यात्मीक ग्रन्थोंका भी अवलोकन करता है। ज्ञानाभ्यासके पुन पुन अभ्यास करनेसे अविद्याकी कालास उसी तरह मिटती जाती है जैसे मैलसे काला कपड़ा जल द्वारा वारवार धोनेपर स्वच्छ व उज्वल होता जाता है। इसी तरह, मननके अभ्याससे वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेता है। और तब उसे पता चल जाता है कि मैं ही सहजानंदका वृहत् व अटूट व अगाध समुद्र हूं। फिर तो वह गोता लगाता है, उसीका पान करता है, उसीमें इसी तरह निवास करता है जिसतरह मच्छ जल सरोवरमें रहता हो। इस सहजानंदके लाभसे जो तृप्ति पाता है वह मन, वचन, तनके विकल्पोंसे दूर केवले अनुभवगम्य है।

समझा। इसका भ्रम मिटा। मैं ही सहजानन्द समुद्र हूं यह प्रतीति दृढ़ हुई। विषयसुखकी श्रद्धा मिटी। पर संयोगसे सुख होगा यह भावना हटी। सर्वसे वैराग्य उत्पन्न होगया। कोई अपना नहीं है यह आकिंचन्य भाव जग उठा। जैसा आप परसे निराला है वैसा प्रत्येक आत्मा परसे निराला है सर्व ही शुद्ध बुद्ध परमात्मा रूप है। इस ज्ञानने अज्ञान मूलक राग द्वेषको दूर कर दिया, परम समताभाव पानेकी कला हाथमें आगई। अब यह सहजानन्दके लिये पर वस्तुका मुख नहीं ताकता—अपने ही भीतर झांकता है। सूक्ष्मज्ञान दृष्टिसे झांकता है तब भीतर अपने ही स्वच्छ स्वात्म निवासमें प्रवेश पाता है। प्रवेश होते ही सहजानन्दका लाभ होजाता है। जैसे शांत शीत सरोवरके निकट आते ही व उसमें मज्जन करते ही आताप मिट जाता है व शीतलता छाजाती है, उसी तरह आत्मामय सहज ज्ञान सरोवरके निकट आते ही व उसमें मज्जन करते ही भवाताप-तृष्णा संताप मिट जाता है और सहजानन्दका अपूर्व स्वाद आता है।

इस सहजानन्दके भोगमे यह भव्य जीव अपनी भव्यताको चरितार्थ करता हुआ सहज ही से सहज सुखको पाकर अपनेको बंधसे रहित मुक्त-परम आत्मा ही समझता है। इस सहजानन्दके भोगसे एक अपूर्व ध्यानकी अग्नि प्रज्वलित होजाती है जो आत्माके भीतर संचित कर्मईन्धनको जला देती है। वास्तवमें जहां सहजानन्दका भोग है वहीं मोक्षमार्ग है। वहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् रत्नत्रयकी एकता है। वहीं जैनत्व है, वहीं निर्ग्रंथत्व है,

वहीं सहज समाधि है, वहीं सिद्धपद है, वहीं अरहंत पद है, वहीं आचार्य उपाध्याय व साधुका पद है। सहजानन्दका लाभ ही परम मंगल है।

२३–आत्मीक भंडार।

ज्ञाता दृष्टा एक आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित हो, एकांत सेवन करता हुआ निज आत्मीक तत्वका निरीक्षण करता है तब वह पाता है कि वह तत्व पूर्णपने आनन्द गुणसे भरपूर है। सहजानन्द इस आत्माका स्वभाव है। आत्माके मार्गसे बाहर रहकर इस कुमार्गगामी व्यक्तिने उस आनन्दके लेनेका प्रयास नहीं किया। इसीलिये यह चिरकालसे दुःखित रहा। श्रीगुरुके उपदेशके प्रतापसे अपना स्वरूप झलक गया कि मैं ही सहजानन्द स्वरूप परमात्मा हूं। मैं ही ज्ञातादृष्टा अविनाशी अमूर्तीक एक शुद्ध पदार्थ हूं। जिसकी मैं भक्ति करता था वह मैं ही हूं, जिसकी मैं खोज करता था वह मैं ही हूं, जिसकी शरणके भीतर जाकर मैं सब आकुलताओंसे बचना चाहता था वह परम शरणरूप मैं ही एक निराकुल धाम हूं, जिसकी छत्रछायामें बैठनेसे कर्म शत्रुओंका आक्रमण नहीं होसक्ता वह मैं ही अनन्तबली वीर आत्मा हूं जिसको जरा नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं शोक नहीं, वियोग नहीं, खेद नहीं, क्षुधा नहीं, तृषा नहीं, वह निर्दोष वीतराग प्रभु मैं ही हूं। जिसको नाम नहीं, जिसके गुणोंके भेद नहीं, जिसके भीतर कोई विकार नहीं वह निर्विकार अद्भुत पदार्थ मैं ही तो हूं। जिसका ध्यान सुखशांतिका विस्तार होता है वह अनुपम ध्येय पदार्थ मैं ही तो हूं।

देना है । यह आत्मा निश्चयसे ज्ञाता दृष्टा अविनाशी है, अमूर्तीक है, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे रहित है, सहजानन्द स्वरूप है । इसे आत्मतत्वके पुन पुन विचारमें इसीतरह जोड़ देना चाहिये जिसतरह एक बन्दरको किसी एक खम्भेमें बाध देते हैं वह उसीपर चढ़ा व उतरा करता है ।

आध्यात्मिक विचारमें जोड़ देनेसे इसके भीतरसे अनात्म विचारोंके होनेका मार्ग बन्द होजायगा तब यह आत्म विचार करता करता कभी भी एक क्षणके भीतर भी निश्चलता भजेगा । तब आप आपमें थिरीभूतपना रूप चारित्रका लाभ प्राप्त कर लेगा । तब मन वचन काय उतने क्षणके लिए थिर होजायगे । बुद्धिपूर्वक कोई चच लता न होगी । यही वह काल है जब आत्मा आत्माकी तरफ आक र्षित होता हुआ उसीका स्वाद लेता है तब सहज ही सहजानन्दका भोग प्राप्त होजाता है । जबतक सहजानन्दके स गर आत्माके भीतर मगनता न होगी, उसी समुद्रका शात रस पान न किया जायगा तबतक सहजानन्दका स्वाद नहीं आएगा । जिसे इस आनन्दका मजा लेना हो उसको यह उचित है कि मन वचन कायके सर्व आरम छोड़कर आत्माके ही उपवनमें क्रीड़ा करके स तोषित रहे ।

२५—सच्चे निर्ग्रंथ ।

एक ज्ञानी आत्मा एकातमें बैठकर सुख धर्मकी समालोचना करता है, इन्द्रियजनित सुखको आकुलताकारी, अतृप्तिवर्द्धक, आत्माको कलुषित करनेवाला पाता है । अनतकाल होगया इस ससारी प्राणीको ऐक भी इन्द्रियकी कामना तृप्त नहीं हुई । यह

दिन रात भूखा ही बना रहता है। वास्तवमें यह सुख नहीं है, सुखाभास है। सच्चा सुख सहजानंद है जो इस आत्माका निज स्वभाव है। इसका लाभ उसी व्यक्तिको होगा जो निज आत्माको पहिचानकर व उसकी श्रद्धा लाकर उसकी सेवा करेगा। आत्माराधना ही सहजानंदको प्रदान करती है। परकी आराधना त्यागे विना आत्माराधना नहीं होसक्ती है। अतएव इस उपयोगवान आत्माको उचित है कि तन, मन, धन, कुटुम्ब, परिवार सबकी आराधना छोडे, इन्द्रियोंकी आराधना त्यागे, मनके विचारोंकी आराधना त्यागे, मन वचन काय तीनोंके कामोंसे विरक्त होजावे और इन तीनोंके भीतरसे केवल निज आत्माके भीतर प्रवेश करे। आत्मा सहजानंदका समुद्र है। आत्मामें स्थान पाते ही सहजानंदका स्वाद आजायगा। आत्मा जो भौतिक दृष्टिका विषय नहीं केवल मात्र ज्ञान दृष्टिका विषय है, उसको किस तरह ग्रहण किया जावे।

अनुभवमें आनेवाले सर्व ही ज्ञानको, सर्व ही ज्ञेयोंको, सर्व ही सुखको, सर्व ही दुःखको, सर्व ही संस्कारोंको, सर्व ही कर्मबंधके प्रकारोंको, सर्व ही कर्मोंके फलको, सर्व ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके रूपोंको, सर्व ही अणु व स्कंधोंके आकारोंको, सर्व ही द्रव्योंके गुणोंको, सर्व ही द्रव्योंकी पर्यायोंको अपने ही आत्माके भेदरूप गुणोंको व भेदरूप पर्यायोंको हृदयमें जब न लिया जावे, परसे शून्यभावकी प्राप्ति की जावे तब यकायक आत्माका अनुभव होजाता है। जिसका अनुभव करना है वह आप ही है। पर वस्तुके विचार

सम्बन्धी मेघोंके आवरणोंको हटानेकी आवश्यक्ता है। परसे भिन्न मैं आप अकेला एक अमूर्तीक अविनाशी ज्ञानदर्शन लक्षणधारी परमात्मा हूं। यही मनन चिरकाल किये जानेकी आवश्यक्ता है। दीर्घकालके मननसे ही बुद्धिपरसे निवृत्त होकर आपमें प्रवृत्ति करनेको समर्थ होगी।

अपना आत्मारूपी रत्न बहुत ही सूक्ष्म है परन्तु अजीव सम्बन्धी बड़े भारी समुदायके भीतर छिप रहा है। खोजीको उचित है कि वीतराग विज्ञानमई लक्षणको समझकर इस लक्षणपर दृष्टि धरकर उससे जो न मिले उन सब अलक्ष्यको भावोंसे सन्मुखतासे हटावे। अपने लक्षणपर स्थिर रहकर उस लक्षण विशिष्ट आत्मा रूपी अपने द्रव्यको देखे। सहजानन्दका लाभ ही धर्मके सेवनका फल है। मानव जीवनकी सफलता भी इसी लाभमें है। सम्राट हो या एक निर्धन पामर मानव हो, निरोगी हो या रोगाक्रांत मानव हो, बहु कुटुम्ब सहित हो या अकेला हो, नगरमें हो, ग्राममें हो, राज्यधानीमें हो, थलपर हो, जलपर हो या आकाशकी वायुमें हो, ऊपर हो, मध्यमें हो या नीचे हो, दिनमें हो, रात्रिमें हो, सबेरे, दोपहर या सांझको हो, हरएक आत्मा प्रेमी व्यक्ति हरएक दशामें सहजानन्दको पाकर परम सुखी होसक्ता है। जिसने इस अमृतको पा लिया वही अमर होजाता है। बिना इस अमृतके कोई आजतक अमर हुआ नहीं, होगा नहीं। धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानन्दका स्वाद लेते हुए अपने जीवनको आदर्श बनाते हैं। वे ही श्री जिनेन्द्रके सच्चे दास हैं, वे ही निर्ग्रंथ या जैन हैं।

२६-स्वानुभव जल।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर ऐकांत-सेवी होजाता है और सहजानंदके भोगनेके लिये लालायित होजाता है। सहजानंद कहीं अन्यत्र नहीं है, आत्मामें है। आत्माका एक गुण है। जो आत्मा आत्मामें ही जमेगा वह सहजानंदको पाएगा। आत्माकी तरफ लक्ष्यका जाना तब ही संभव होसक्ता है जब अपना लक्ष्य और सब बातोंसे हटकर एक आत्मापर ही जम जावे। यह बहुत बड़ा कठिन काम है। आत्मासे निराले आठों कर्म हैं। आठों कर्मके उदयरूप प्रगट फल है। आत्मासे भिन्न मन है और मनके त्रिकाल सम्बन्धी संकल्प विकल्प है। वचन और कायकी क्रियाएं तो आत्मासे भिन्न हैं ही। कर्मके उदयसे जो आत्माके विकारी भाव होते हैं, वे भी आत्मा नहीं हैं। आत्मा इन सर्व अनुभवोंसे अलग है जो मनके द्वारा तर्कमें आते रहते हैं। मनातीत अवस्था हो, तब कहीं आत्माकी तरफ लक्ष्य जावे। अतएव साधकका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह मनके भीतर प्रवेश करके मनके भीतरसे उलंघ कर किसी सूक्ष्म पदार्थ पर चला जावे जो आप ही स्वयं है व जिसका कथन होना अशक्य है, व जिसका मनसे विचार होना अशक्य है, जो वचन मन कायसे अतीत है उधर लक्ष्यका जाना बड़ा ही दुर्निवार है तथापि जिसको लक्ष्यमें लाना है वह आप ही तो है। अतएव अपने आपको मन वचन कायकी किसी भी क्रियामें उपयुक्त न कराया जावे। इस बातका अभ्यास किया जावे कि यह अपनेसे अपनी झांकी कर सके। सर्व जगतकी प्रपञ्च रचनासे वह

निराला है । अतएव जो कोई विश्व प्रपचसे वैराग्ययुक्त होगा वही प्रपचसे अतीत निर्मल आत्मस्वरूपका दर्शन करेगा । जैसे किसीके घरके पास ही सरोवर है और वह बड़े ही मीठे जलसे परिपूर्ण है । उस जलका स्वाद तब ही आयगा जब सरोवरके मिष्ट रसका प्रेमी सर्व ओरसे हटकर सीधा सरोवरके निकट आयगा और बड़े भावसे सरोवरके जलको पात्रमें भरके व छानकर उस जलका पान करेगा । जो सहजानदका इच्छुक है उसको उचित है कि श्रुतके आधारसे आत्माका सच्चा केवल शुद्ध स्वभाव क्या है इस बातको जाने, जान कर श्रद्धा लावे । श्रद्धावान होकर यही मनन करे कि वही मैं हू । उसके सिवाय मैं कुछ नहीं हू । इसका मनन निरतर करना ही उस आत्मीक सरोवरके निकट पहुचनेका उद्यम करना है । इस अभ्यासको सतत् करते रहनेसे अकस्मात् एक समय आयगा जब आत्म सरोवरके बिलकुल निकट पहुचकर उसके स्वानुभव रूपी जलको वह पान करेगा । वही जलपान सहजानन्दके स्वादको अर्पण करेगा । यही मोक्षमार्ग है जहा स्वात्मानदका स्वाद मिले तथा यही मोक्ष है।

८७-सच्चा जौहरी।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपचसे रहित होकर एकातमें विचार करता है तो उस यह सर्व जगतका ठाठ क्षणभगुर दीखता है । सासारिक सुख जिन पदार्थोंके आधीन होता है वे पदार्थ सब क्षण भगुर हैं । इसलिये उनके आधीन सुख भी क्षणभगुर है । अतएव जो इस झूठे सुखकी तरफ रमायमान होते हैं उनको सदा ही आकुलता बनी रहती है । अनंत ससारमें विषयासक्तको कभी भी

कर लेता है । वह कभी धोखेमें नहीं पड़ता है । वह कभी असत् द्रव्य, गुण, पर्यायको आत्मा नहीं कल्पता है । निजात्माको ही आत्मा जानता हुआ वह ज्ञानी सहजानन्दका प्रेमी रहता हुआ जब चाहे तब सहजानदका भोग कर सक्ता है । मोक्ष भावमें जो सह आनन्द है वही सहजानद मोक्षमार्गीको भी प्राप्त होता है । सहजा नदके वस्तुकको उचित है कि निश्चयनयकी दृष्टिसे जगतको शुद्ध नित्य निश्चल देखे तब सर्व आत्माएं अनात्माओंसे भिन्न एक रूप शुद्ध ज्ञात आनन्दमय दीख पड़ेंगी, राग द्वेषकी कालिमा मिट जायगी । फिर जब भावनाका स्रोत बन्द होगा तब यह अपने ही भीतर आपको जमाता हुआ सहजानन्दका भोक्ता होजायगा ।

२८–सच्चे श्रमण ।

एक ज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठा हुआ अपने द्रव्यकी तरफ लक्ष्य दे रहा है । तब उसको अपने सामने एक शुद्ध आत्म द्रव्य नजर आरहा है जिसमें कोई भी सम्बध किसी अन्य द्रव्यका नहीं है न अन्य आत्माका सबन्ध है, न पुद्गलके किसी परमाणु व स्कंधका संबन्ध है। धर्मद्रव्य न अधर्म द्रव्य न आकाश और न कालाणुओंका सम्बध है । जब पुद्गलका कोई सम्बध आत्मामे नहीं है तब पुद्गल सयोगजनित भाव विकारोंका भी कोई सबन्ध आत्मासे नहीं है । अतएव इस अपने आत्मामें न अजीव है न आस्रव है न बध है न सवर है न निर्जरा है और न मोक्ष तत्व है ।

न इसमें मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण,

सूक्ष्म सांपराय, उपशांत मोह, क्षीणमोह, सयोग केवली, अयोग केवली गुणस्थान है। न इसमें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्ठीके भेद हैं। न इसमें पांच स्थावर और त्रसके भेद हैं। न यहां देश संयमकी कल्पना है। न यहां दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रि-भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग, इन ग्यारह प्रतिमाओंके भेद हैं। न यहां सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात चारित्रके भेद हैं। और तो क्या, उस आत्मद्रव्यमें गुण गुणीके भेद भी नहीं हैं।

अर्थात आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दर्शन स्वरूप है, सुख गुणरूप है, सम्यक्त गुण स्वरूप है, चारित्र रूप है वीर्यमई है, अस्ति रूप है, वस्तु रूप है, प्रदेश स्वरूप है। इत्यादि भेदकल्पनाओंसे मुक्त वह अभेद एक अखण्ड पदार्थ है। इस अपने ही आत्मद्रव्यकी सत्तामें विश्राम करना, उसीमें सन्तोष प्राप्त करना, उसीको अपना सर्वस्व समझना उसीमें रमण करना उसीमें भोक्ता भोग्य भाव रखना, सहजानन्द पानेका उपाय है। वह आत्मा पदार्थ सहजानन्दका सागर है। पूर्ण कलशकी तरह सहजानंदसे भरपूर है। लक्ष्यबिन्दु उसी शुद्ध पदार्थका रखना अपना परम कर्तव्य है। जीवनको सफल बनानेका उपाय सहजानन्दका भोग है। ऐसा भोगी पर पदार्थोंके भोगोंके लिये आतुर नहीं होता है। जिसको अमृतपानका स्वाद आगया वह उससे कम स्वादवाले पानका प्रेमी कैसे बना रह सक्ता है। सम्यग्दृष्टी वही है जो इस सहजानन्दको व इसके भोतको

पहचाने । सहजानदके भोगी ही सचे योगी है, साधु है, तपस्वी हैं महात्मा है । परमात्मा भी निरतर सहजानदका भोग करते है । जहा इस अपने आनन्दका भोग है वहा परम साम्यभाव झलकता है । रागद्वेषादि कालिमाओंका जरा भी झलकाव नहीं रहता है । वास्तवमें जो सहजानदके ज्ञाता है वे ही श्रमण है, वे ही जगतपूज्य व वदनीय है ।

२९–त्रिगुप्तिमई किला ।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सब प्रपचजालोंसे रहित होकर अपने आपमें निवास करता है । उसने भले प्रकार देख लिया कि अपनेसे बाहर रहनेमें कहीं भी सुखशाति नहीं मिल सकती है । अनन्तकालसे लेकर इस जीवने निगोदपर्यायसे लेकर नौ ग्रैवेयिक पर्यंत नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगतिमें अनत ही भव धारण किये व वार वार इन्द्रियोंके विषयभोग भोगे, परन्तु कहींपर भी तृप्ति व सुख शातिका लाभ नहीं हुआ । जैसे चमकती बालूको जल समझकर पीनेके लिये दौड़नेपर मृगको निराशा ही होती है, उसी तरह इस जीवको अपने आत्मासे बाहर परपदार्थमें सुखकी आशासे दौड़नेपर निराशा ही होती है । अपने ही पास सहजानद है, कहीं दूर नहीं है । खेद यह है कि मोहके वशमें बेखबर होकर अपनेसे बाहर बाहर ढूढता है । अपने भीतर जरा भी दृष्टिपात नहीं करता है ।

पाच इन्द्रिय और मन इन छ द्वारोंसे यह अज्ञानी प्राणी विचरता हुआ जगतके पदार्थोंमें राग द्वेष, मोह करता रहता है । यदि यह इन छहों द्वारोंसे भ्रमण करना बन्द करदे व अपने ही

भीतर विश्राति ले ले तो इसे सहज हीमें सहज सुख प्राप्त होजावे। उपयोगको उपयोगवान आत्मामें स्थिर करते ही सहजानदका स्वाद आजाता है।

आत्माके स्वभावकी श्रद्धा तथा ठीक २ पहचान आवश्यक है। जबतक उस सरोवरको न जाने जिसमें परम मिष्ट जल है व उस सरोवरपर पहुचनेका मार्ग न जाने तबतक कोई भी सरोवरके जलका मिष्ट स्वाद नहीं पासकता है।

मैं आत्मा हूँ, सर्व परसंगसे रहित हू, अमर हूँ, बन्ध रहित हूँ, एकरूप हूँ, निश्चल हूँ, अभेद हू, असंयुक्त हूँ, निर्विकार हू, परम शुद्ध हूँ अमूर्तीक हूँ पूर्णज्ञान स्वरूप हूँ पूर्ण वीर्य स्वरूप हूँ, पूर्ण सम्यक्त सहित हूँ, पूर्ण चारित्र सहित हूँ, पूर्ण सहजानद स्वरूप हूँ। मेरा स्वभाव अमिट है, अविनाशी है। जिसको पर मात्मा, ईश्वर, परब्रह्म व परम प्रभु कहते है वही तो मैं हूँ। मेरे स्वभावमें न परका कर्तापना है न परका भोक्तापना है। यही स्वभाव परमात्माका है। मैं मलीनता रहित शुद्ध जलके समान व शुद्ध वस्त्रके समान हू। यही श्रद्धा व यही ज्ञान सच्चा है, सम्यक् है, निश्चय है।

अब यही उचित है कि मन, वचन, कायकी गुप्तिका किला बनाऊँ व उसीमें विश्राम करूँ। इन द्वारोंके खुले रहनेसे अनेक विचार आते है, कर्माश्रव होते हैं, बधकी बेड़िया पड़ती हैं। दृढ़तासे मन वचन कायको सवर करके मैं आपसे ही आपमें देखता हू। मैंने छहों द्वारोंमे देखना बन्द कर दिया है। तब फिर क्या

है । मुझे बड़ा ही रमणीक आत्मीक उपवन दिख जाता है । इस उपवनमें रमण करता हुआ इसीका उपभोग करता हुआ जो सुख शांति पाता हू वही सहजानंद है । इसीका भोग मोक्षमार्ग है व यही मोक्ष है ।

३०—सच्ची अग्नि ।

ज्ञान दृष्टिका धारी सहजानन्दके लिये आतुर है । जगतमें अनादिकालसे प्राणी पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें निरन्तर सलग्न रहते हैं । नाना प्रकारका उद्यम करके भोग सामग्रीको प्राप्त करते हैं । बारबार भोगते हैं परन्तु तृष्णा घटनेकी अपेक्षा बराबर बढ़ती चली जाती है । ज्ञानीने ज्ञान दृष्टिसे इन सुखोंकी असारताको पहचान लिया है कि सहज सुख निज आत्माका ही स्वभाव है । रागद्वेष मोहके मेलका अंधेरा इतना छाया हुआ है कि जिस अंधकारमें दृष्टि इस रत्नत्रयमई आत्माके स्वभावपर नहीं जाती है जो बिलकुल शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार है । उसे ही परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, जिन, बुद्ध, महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, समदर्शी, ज्योति स्वरूप आनन्दमय, अमूर्तीक परम प्रभु कहते हैं ।

जिस ज्ञानीने पुरुषार्थ करके अपनी दृष्टिसे सर्व जगतको हटाया है, सिवाय निज आत्माके सर्वसे राग द्वेषका प्रसंग निवारा है, सर्वसे पूर्ण वैराग्य प्राप्त किया है । परमाणु मात्र परको अपना मानना त्याग दिया है । अपना सर्वस्व निज आत्माकी ही सेवामें अर्पण कर दिया है । निज आत्माको ही अपना देव मानकर उसकी भक्तिमें अपनेको न्यौछावर कर दिया है । केवल पौद्गलिक शरीर

व वचनसे नहीं किन्तु अपने आपका सर्वस्व अपने आपमें ही ऐसी भक्तिपूर्ण रूपके साथ जोड़ दिया है कि दोके स्थानमें एकता होगई है। पूजक, पूज्य, ध्याता, ध्येय, वद्य वदकका द्वैत भाव मिट गया है, अद्भुत अद्वैतता प्राप्त होगई है। ऐसी गाढ़ आसक्ति जिस महात्माकी अपनेसे होजाती है कि उसके पीछे वह चक्रवर्तीकी सम्पदाको भी त्याग देता है। सर्व परिग्रह त्यागकर नग्न होजाता है। सर्व रसोंका स्वाद त्यागकर निज रसके स्वादका रसिया होजाता है। उसी महात्माको सहजानदका स्वाद आजाता है। सहजानदका मार्ग ही परम भोग है। इससे आत्मा पुष्ट होता है। यही वह शस्त्र है जिससे कर्मवैरियोंका ध्वंश कर दिया जाता है। कोई बड़ा कठिन तप करते है। मास छ मासका उपवास करके शरीरको सुखाते हैं। भूख प्यासकी घोर वेदना सहते है परन्तु दृष्टि शरीरकी तरफ रहती है। उनको वह अग्नि नहीं मिलती है जो कर्मोको दग्ध कर सके। परन्तु जो ऐसा कठिन तप नहीं करते है या कभी जरूरत हुई तो करते भी है परन्तु अपनी दृष्टि शरीर व शरीरके सुख दु खसे छुड़ाकर केवल निज आत्माके भीतर जोड़ते है और उसके भीतर रत होकर सहजानदका पान करते है उनके कर्म क्षणमात्रमें दग्ध होजाते है। यदि जीवनका फल लेना हो तो यही कर्तव्य है कि सबसे मुह मोड़ आप अपने स्वरूपसे नाता जोड़, उसीमें अपनेको जोड़ देना चाहिये। यही योगाभ्यास है। यही ध्यानका प्रकार है। यही रत्नत्रयका साधन है। यही मोक्षका उपाय है व यही निरतर सुखी रहनेका मत्र है।

३१–सच्चा गंगाजल ।

ज्ञानदृष्टिका धारी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जब एकांतमें बैठता है तब श्री गुरु द्वारा प्राप्त उपदेशका मनन करता है कि इस विश्वके मोहमें गृसित प्राणीको पर वस्तुओंकी तरफ राग द्वेष मोह करनेसे जो कल्पित सुख भासता है उससे कभी तृप्ति नहीं होती है उल्टी तृष्णाकी दाह बढ़ती है। अतएव यथार्थ सुखको जो चाहता हो उसको सर्व अन्यसे मोह छोड़ एक अपने ही तरफ पूर्णपने स मुख होजाना चाहिये। स्वात्म सन्मुख होनेवाला प्राणी अवश्य सहजानन्दका स्वाद प्राप्त करता है, क्योंकि सहजानन्द निज आत्माका ही गुण है, जैसे शुद्ध मिष्ट जलकी कतिपय बूंदोंको भी पीनेवाला व्यक्ति मिष्ट जलके आस्वादको पाता है।

इस गुप्त उपदेशको स्मरण करके वह अपनी सत्ताको सम्हालता है कि मैं पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे, उनके गुणस्वभावोंसे, उनकी अनेक पर्यायोंसे ही निराला, निज गुण पर्यायवान् द्रव्य हू। मैं न कभी जन्मा न कभी मरूँगा। मेरा सर्वस्व मेरे पास निरन्तर बना रहता है। अगुरुलघु गुणके प्रतापसे मैं अपनी निश्चित मर्यादाको कभी कम व अधिक नहीं करता हू। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि विशेष गुणोंको रखता हुआ भी मैं इनसे अभेद हू। कोई भी कारण नहीं है जिससे कि एक भी गुण मेरेसे भिन्न हो सके। वह गुण मेरेमें सर्वव्यापक न होकर कहीं व्यापक व कहीं अव्यापक हो। हरएक गुण मेरेमें सम्पूर्ण भरा है। हरएक गुण हरएक दूसरे गुणमें व्यापक है। इसीलिये कहनेको गुणोंके भेद

है, परन्तु वास्तवमें उन सब गुणोंका समुदाय गुणी पूर्णपने अभेद है। मेरी आत्माकी सत्तामें वह सर्व संसार नहीं है जो पाप पुण्यकी विचित्रतामें बनता बिगड़ता रहता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देव गतिके भीतर जितने भी वैभाविक व अशुद्ध भाव होते हैं, रागद्वेष मिश्रित परिणाम होते हैं व जितनी बाहरी शरीरकी रचना है व शरीरके सम्बन्धित पदार्थ हैं वे सब मेरे आत्माके स्वभावसे बाहर ही रहनेवाले हैं। मेरे कोई पर भाव उसी तरह स्पर्श नहीं करता है। जैसे प्रकाशको अन्धकार स्पर्श नहीं करता है। मैं एक निराला अखण्ड परम निर्मल स्वानुभवगोचर पदार्थ हूं ऐसा निश्चयपूर्वक ज्ञानके भीतर ही मैं रमण करता हूं। स्वात्माके स्वरूपमें रमण करनेसे सर्व सांसारिक दुःख सुखके क्षणिक भाव विला जाते हैं और एक परम वीतराग सहजसुखका श्रोत वह निकलता है। उसके ही भीतर मैं स्नान करता हूं, वही मेरा गंगाजल है। उसका शांत जल पीता हूं, यही मेरा गंगाजल पान है। उसीमें मैं निमग्न होजाता हूं, यही मेरा मत्स्यवत् जलावगाहन है। यही मेरे जीवनका ध्येय है।

३२-परम सामायिक।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचोंसे रहित होकर जब संसारके स्वरूपका विचार करता है तो बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। जिसे वह अपना समझता था वही अपना नहीं रहता है। जितने सम्बन्धी हैं वे देखते देखते विलाते जाते हैं। जीवित रहते हुए भी वे स्वार्थके विना बात ही नहीं करते हैं। जिनका स्वार्थ नहीं सधता है वे उदास होजाते हैं। जगत स्वार्थके ऊपर स्थिर है। जगतकी वस्तुएं

देखते देखते रूपान्तर होजाती है। जिन पदार्थोंके सहारे पांचों इन्द्रियोंके भोग भोगे जाते हैं वे सब अपनी इच्छानुसार न तो बने रह सक्ते हैं और न इच्छानुसार वर्तन कर सक्ते हैं। उनके सहारे सुखकी कल्पना करना असार है मोह है पागलपन है, मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वके भावका त्यागना यद्यपि सुगम है परन्तु मोहकी मदिराके मदमें बहुत ही दुर्लभ होरहा है। स्मशानभूमिमें जानेपर ही वैराग्य आता है, लौटतेर वह वैराग्य रफूचक्कर होजाता है। इस मोहके मदका दूर करनेका उपाय सन्तोंकी शरण है। सत शरणसे आखे खुल्ती है। वे सम्यग्ज्ञानकी सलाई शिष्यकी ज्ञानचक्षुपर फेरते हैं, जिसके प्रतापसे धीरेर मोहका मद उतर जाता है और ज्ञानकी दृष्टि साफ२ खुल जाती है। तब निश्चयनयकी मुख्यतासे वह दृष्टि देखने लगती है।

तब न कहीं देश है, न नगर है, न मुहल्ला है, न उपवन है, न मकान है न दुकान है, न कोठी है, न वस्त्र है, न आभूषण है, न चटाई है, न पलंग है, न कुरसी है न मेज है न शस्त्र है न शास्त्र है, न मंदिर है, न मूर्ति है, न नदी है, न समुद्र है, न पर्वत है, न तीर्थस्थान है, न सिद्धक्षेत्र है, न नरकभूमि है, न स्वर्गके पटल हैं, न जम्बूद्वीप है, न धातुकी खण्डद्वीप है न पुष्करार्ध द्वीप है, न लवणोदधि समुद्र है, न कालोदधि समुद्र है, न क्षीर समुद्र है, न सुमेरु पर्वत है, न पाडुक वन है, न पाडुकशिला है, न तिर्यंच गति है, न मनुष्यगति है, न कोई पक्षी है न कोई पशु है, न जलचर जीव हैं, न आर्य मनुष्य है, न पृथ्वी है, न जल

है, न वायु है, न अग्नि है, न वनस्पति है, न शब्द है, न गंध है, न वर्ण है, न स्पर्श है न कोई स्थूल है, न सूक्ष्म है, न तम है, न प्रकाश है, न छाया है, न बंध है, न मोक्ष है, न कोई संसारी है, न कोई सिद्ध है, न कोई मिथ्यात्वी है, न कोई मोही है, न कोई रागी है, न कोई द्वेषी है, न कोई क्रोधी है, न कोई मानी है, न कोई मायावी है, न कोई लोभी है, न कोई कृपण है, न कोई दानी है, न कोई हिंसक है, न कोई मृषावादी है, न कोई सत्यवादी है, न कोई चोर है, न कोई साहु है, न कोई परोपकारी है, न कोई अपकारी है, न कोई सम्यक्ती है, न कोई श्रावक है, न कोई मुनि है, न कोई उपशांतमोही है न कोई क्षीणमोही है, न कोई केवली है, न कोई ऋषि है, न कोई गणधर है, न कोई श्रुतकेवली है, न कोई मतिज्ञानी है न कोई श्रुतज्ञानी है, न कोई अवधिज्ञानी है, न कोई मन पर्ययज्ञानी है। मात्र पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल और सर्व जीव अपने मूल स्वभावमें ही दिखलाई पड़ते हैं।

अजीवोंमें कोई चेतना नहीं अतएव यह ज्ञानी सर्व जीवोंको परम शुद्ध ज्ञाता परम वीतराग देखकर यकायक शांतिमय और आनंदमय समुद्रमें मग्न होजाता है और परम समताभावरूपी सामायिकमें तिष्ठकर जिस अपूर्व सतो को पाता है वह बिलकुल वचनोंसे अगोचर है।

३१—स्वानुभूतितिया।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर जब अपने आप शांतचित्त होजाता है तब परम अपूर्व सुख पाता है जिसको

सहजानंद कहते हैं । यद्यपि वह आनंद अपने ही निकट है तथापि मिथ्यादृष्टी जीवको इसका स्वाद नहीं आता है । क्योंकि उसको अनादिकालसे अनात्माके कारण प्रगट होनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व काम विकारका स्वाद खारा ही आता है । वह स्वाद मूल पानीका नहीं है । अज्ञानसे या भ्रमसे वह उस स्वादको पानीका स्वाद जान लेता है, परन्तु वह स्वाद उस लवणका है जो खारे पानीके साथ घुला हुआ है । पानीका स्वाद कुछ दूसरा ही है । श्रीगुरु परम दयालु जिनको निज आत्माके सच्चे स्वरूपका यथार्थ स्वाद आगया है, परम करुणाभावसे जगतके प्राणियोंको सच्चे स्वादके अभावमें मलीन स्वादके लेनेसे आकुलित देखकर जगतके जीवोंको समझाते हैं ।

हे भव्य जीवो ! यह वैषयिक स्वाद रागका स्वाद है । जो आत्मा नहीं है पुद्गल है इसे तुम आत्माका स्वाद मत जानो । एक दफे विवेकसे इस बातको समझ लो कि आत्मा राग रहित है, द्वेष रहित है, मोह रहित है, परम वीतराग ज्ञानमई अविनाशी है । इस श्रद्धाको प्राप्त होकर रागादि भावोंसे वीतरागताकी भावना करो कि वे अन्य हैं, मैं अन्य हूं । कुछ कालके अभ्याससे रागादि विकारोंसे उदासीनता आ जायगी तब उपयोग स्वयं वीतरागताकी ओर झुक जायगा । वीतरागता आत्माका चारित्र गुण है । इसी भेद विज्ञानके अभ्याससे कुछ काल पीछे आत्माका साक्षात्कार हो जायगा ।

इसी प्रकाशको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इसके उदय होते ही आनन्द मेरे ही आत्माका गुण है, ऐसी दृढ़ प्रतीति होजाती है ।

फिर वह ज्ञाता दृष्टा जब चाहे तब उस प्रतीतिका भोग करता है, जैसे गृहस्थ अपनी स्त्रीकी रुचि व प्रतीति रखता है। अन्य कामोंमें लगे रहनेसे वह अपनी स्त्रीका भोग नहीं करता है परन्तु जब चाहे तब सत्स्त्रीका उपभोग कर सकता है। वह स्वप्रियाका जितना २ अधिक रागी होता है उतना २ वह पर कामोंमें अधिक समय निकाल कर अपनी स्त्रीसे मित्रताका व्यवहार करता है। इसी तरह ज्ञाता निज स्वानुभूति प्रियाका परम प्रेमी होगया है। जितना २ प्रेम अधिक होता जाता है उतना २ वह अधिक स्वात्मानुभूतिका रमण करता है और अन्य कार्योंसे उदास होता जाता है। एक समय आता है जब सर्व पासे सदाके लिये वैरागी होकर निज स्वात्मानुभूतिके साथ एक–तन्मता कर लेता है और मोक्षभावके आनन्दको भोगता रहता है।

३४–स्वराज्य लाभ।

ज्ञातादृष्टा एक आत्मा सर्व प्रपचजालसे विरक्त होकर परम शांतिके साथ विचारता है कि सहजानंदका लाभ कैसे करूँ। उसको यह भलेप्रकार विदित है कि सहजानंद आत्माका एक गुण है, वह आत्मामें ही है व आत्मासे ही आत्माको प्राप्त होसक्ता है। अपनेमें होते हुए भी अपनेको नहीं मिलना केवल मात्र अपने प्रमादका ही दोष है। प्रमादको हटाते ही–कषायके झोकोंसे बचते ही ज्योंही यह आत्मा अपनी उपयोग भूमिकामें सम्हल कर बैठ जाता है त्यों ही इसे सहजानंदका लाभ होने लगता है। सहजानन्दमई तो आत्मा है ही। सहजानंदका वह सागर ही है। फिर

उसको सहजानदका लाभ होना चाहिये यह बात भी बनती नहीं है। वास्तवमें आत्माका आत्मस्थ रहना नहीं होनेमें सहजानदका लाभ नहीं है ऐसा कहना पड़ता है। यदि यह आत्मस्थ रहे तो यह स्वयं सहजानदका सागर ही है। रागद्वेषादिकी कल्लोलोंके कारण आत्मारूपी समुद्र निश्चल नहीं रहता है। इसीसे स्वात्मवेदनको न प्राप्त करके परवेदन करता हुआ सहजानदके लाभसे वंचित रहता है। यदि रागद्वेषादिकी लहरें मिट जावें और समुद्र समान यह आत्मा परम तत्वके साथ स्थिर होजावे तो यह स्वयं सहजानदका स्वामी है। उसे फिर सहजानदके प्राप्त करनेकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है।

रागद्वेषादि कैसे मिटें यह एक बड़ा विकट प्रश्न है। रागद्वेषादि मोहनीय कर्मका विकार है। मोहनीय कर्मसे वैराग्य रख करके उससे उपेक्षा रखना ही राग द्वेषके मिटनेका उपाय है। निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माको सिद्धसम शुद्ध देखना जानना श्रद्धान करना व अनुभव करना यही एक उपाय है यही एक मन्त्र है, यही एक औषधि है जिससे सर्व पर सम्बन्धका वियोग होता है। मैं परम शुद्ध स्वरूप हूं, यही मनन आत्माके वैरियोंकी शक्तिको क्षीण करनेवाला है। अपनी जागृति, अपनी अनुभूति अपनी तृप्ति, अपना ही लक्ष्य, अपना ही सन्मान, अपना ही आदर अपना ही पूजन अपने चलके विकासका ही उपाय है।

शुद्ध दृष्टि शुद्ध व ऐक्यको दर्शन करानेवाली है अशुद्ध पदार्थोंकी तरफ ले जानेवाली है। अनादिकालसे अशुद्ध दृष्टि द्वारा यह

देखता रहा है । अब यदि उस आदतको त्यागे और शुद्ध दृष्टिके द्वारा शुद्ध पदार्थका अवलोकन करे, बार २ करे, पुन २ करे, प्रेमालु होकर करे, आसक्त होकर करे तो दृष्टिमें वही मनमोहनी सूरत जमती जाती है । और धीरे २ पर सन्मुख रहनेवाली दृष्टि सकुचित होती जाती है । शुद्ध दृष्टिसे देखना ही स्वराज्य स्थापनका कारण है, स्वतंत्र होनेका उपाय है । यही सहजानंदके सतत भोगका उपाय है । अब मैं शुद्ध दृष्टिसे ही देखनेका अभ्यास करूंगा जिससे शुद्धात्माका पद २ पर दर्शन हो । और रागद्वेषकी गंध भी न प्राप्त हो, जिससे मैं सहजानंदका सतत् भोग कर सकूं ।

३५-आत्म सरोवरका निर्मल जल ।

ज्ञाता दृष्टा स्वभावधारी एक महात्मा सर्व प्रपंचजालोंसे मुक्त होकर एकांतमें वास करता है और इस बातका प्रयत्न करता है कि किसी भी तरह सहजानंदका लाभ हो । सहजानंद कहीं और नहीं है, अपने ही पास है । सच पूछो तो हरएकके भीतर पूर्ण रूपसे भरा है । इसे कुछ भी प्राप्त करना नहीं है । परन्तु रागद्वेष मोहके अंधकारसे आच्छादित है । यह अंधकार पुद्गल कर्मोंके सयोगसे होरहा है । यह सयोग आत्माके साथ अनादिकालका है । क्योंकि यदि कभी आत्मा शुद्ध होता तो फिर वह कभी अशुद्ध नहीं होसक्ता था । पुद्गलमें भी अपूर्व शक्ति है । मोहनीय कर्मरूपी पुद्गलमें एक प्रकारकी मादक शक्ति है जिसके प्रभावसे यह त्रिजगत प्रधान जीव अपने निज स्वरूपको भूलकर बेभान होरहा है और यही कारण है जो ऐसा विचार करना पड़ता है कि सहजा-

है, दूध और पानीके मिश्रणमें इसको दूध अलग व पानी अलग दिखता है, एक गुटिकाके भीतर वैद्यको पचासों औषधियें अलग२ दिखलाई पड़ती हैं, इसी तरह भेदविज्ञानीको यह अपना आत्मा औदारिक, तैजस, कार्माण शरीरोंसे, रागद्वेषादि भावोंसे व अन्य सर्व आत्माओं व अनात्माओंसे जुदा नजर आता है।

जैसे चावलका इच्छुक धान्यके भीतर छिलकेको छोड़कर चावलको ग्रहण कर लेता है वैसे भेदविज्ञानी महात्मा सर्व अनात्माको छोड़कर एक अपने ही आत्माको ग्रहण कर लेता है। जिस बुद्धिसे आत्माको परसे अलग किया था उसी प्रज्ञा बुद्धिसे आत्माको ग्रहण करना चाहिये। आत्माको ग्रहण करते समय अपने उपयोगको बहुत ही गुप्त एक आत्माकी गुफामें प्रवेश कराना पड़ेगा। इसके लिये साधकको परम वैराग्यवान होकर अपने आपका परम प्रेमी होना चाहिये। जहां प्रेम होता है, जहां श्रद्धा होती है, जहां दृढ़ रुचि होती है वहीं उपयोग अपने स्वरूपमें जमने लगता है। वास्तवमें जिसको जानना है व जिसका स्वाद लेना है वह कोई पर नहीं है, आप ही है।

अपने आत्माको एक ज्ञानसागर मानना चाहिये। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्र रत्न भरे हुए हैं। उसके भीतर परम शांति है। उसमें खारापन नहीं है, किन्तु परमानन्दमई मिष्टता है। जो इस ज्ञानसागरके भीतर स्नान करते हैं व उसीके शांत रसका पान करते हैं वे परम तृप्त होजाते हैं। सहजानंद आत्माका स्वभाव है। सहजानंदका प्रेमी ही सहजानंदको पाता है।

इस आनदकी उपमा जगतमें किसी वस्तुसे नहीं दी जासकती है। धन्य है वे सम्यग्दृष्टी जीव जो इस आनदको पाकर परम तृप्त रहते हुए अपने जन्मको सफल कर सिद्ध समान सुखी रहते हुए ज्ञान-मग्न रहते है।

३७—सत्य हिमागार।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपचजालोंको छोड़कर सहजानद पानेके हेतुसे एक स्थलपर विश्राम करता है और सहजानदके लिये भावना करता है, तब उसे विचार आता है कि सहजानद तो आत्माका गुण है अतएव सहजानदके लिये आत्माके भीतर ही रमण करना पड़ेगा। आत्माके सिवाय जितने और द्रव्य है, गुण है, पर्याय हैं उन सबसे उपयोगको हटाना होगा और एक आत्माके ही द्रव्य, गुण, पर्यायपर लक्ष्य लाना होगा। गुण पर्यायके विचारको भी गौण कर आत्मा रूपी द्रव्यमें एकतानतासे विश्राम करना होगा तब ही सहजानदका लाभ होगा।

सहजानदका लाभ होते हुए जितने इन्द्रिय व मनके विकल्प है वे सब मिट जाते है, छ रसोंके स्वाद सब हट जाते हैं। आत्मीक रसका निराला ही स्वाद आता है। इस स्वादकी उपमा जगतमें किसी भी स्वादसे नहीं होसक्ती है।

आत्मीक रसका वेदन सिद्धोंके सुख वेदनसे किसी भी तरह कम नहीं है। यहीं वह हिमागार है जहा वीतरागताकी अपूर्व शाति ही शाति है। यहीं वह क्षीरसमुद्र है जहा स्वानुभवरूपी जलका प्रवाह बह रहा है। यहीं वह कमलोंका मनोहर वन है, जहा

स्वात्मीक सुखकी सुगन्ध फैल रही है । यहीं वह अनुपम स्फटिक मणिकी शिला है जहा ऐसी स्वच्छता है कि उसमें सर्व जगतके पदार्थ जैसेके तैसे झलकते हैं तथापि उसमें कोई विकार नहीं होता है । यहीं वह रमणीक क्षेत्र है जहा सर्व सुन्दरता ही सुन्दरता है, जहा समताका ही राज्य है, जहा कोई आकुलताकी मलीनता नहीं है । यहीं वह सुमेरुपर्वत है जहा पर आत्मानुभवी मुनि पाण्डुक शिलापर तिष्ठ कर आत्माके तत्वका मनन करते हैं । यहीं वह नाटकशाला है जहा सर्व ही विश्वके पदार्थ अपने गुण व पर्यायोंके साथ जैसेके तैसे झलकते हैं, तथापि द्रष्टा ज्ञाताको विकारके कारण नहीं होते हैं ।

इस तरह एक अद्भुत स्थान व सामानके मध्यमें तिष्ठा हुआ एक आत्मानुभवी आत्मा सहजानन्दका भोग करता हुआ अपनेको सिद्धसे किसी तरह कम अनुभव नहीं करता है । जब स्वात्मानुभव होता है तब वहा सिद्ध संसारीका भेद गुणगुणीका भेद कुछ नहीं रहता है । आत्माका नाम भी उड जाता है । नाम रहित व गुणोंकी कल्पना रहित एक अद्भुत पदार्थ झलकता है, जिसकी उपमा जगतमें किसी पदार्थसे नहीं होसक्ती है । ऐसा सहजानंदी जीव परम समतासे जिस संतोषमें रमण कर रहा है वह वचन अगोचर आनन्दका धाम है ।

३८-तृष्णादाह शमन ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे छूटकर एकांतमें विचार करता है कि सहजानंद कैसे प्राप्त हो । उसने यह भलेप्रकार जा

अब कर लिया है कि इन्द्रिय विषयोंके सुखोंसे किसीको भी संतोषका लाभ नहीं होता है, किन्तु आकुलता व चिन्ता बढ़ती ही जाती है। कभी वियोगकी आग सताती है, कभी तृष्णाकी दाह परेशान करती है। सहजानदके विना सतोषका मिलना वैसे ही कठिन है जैसे जल वर्षाके विना आगका बुझना कठिन है। हम घीसे चाहें तो आग न बुझेगी, उसके लिये तो जल ही चाहिये। तृष्णाकी दाह शात करनेके लिये शात रसपानकी जरूरत है। यह शीत रस आत्माके स्वभावमें पूर्णरूपसे भरा है।

इस कारण बुद्धिमान प्राणीको योग्य है कि वह किसी भी तरह अपना पल्ला सर्व अनात्माओंसे छुडाले। और निश्चित होकर एक आत्माहीकी तरफ उपयुक्त होजावे। आत्माके सरोवरमें ही स्नान करे, आत्मीक आनन्दरूपी रसका ही पान करे, सहजानंद तब ही हाथमें आजायगा। यह सहजानद अनादिकालकी तृषाको मिटा देता है। बड़ी भारी आकुलताको शमन कर देता है। यह सहजानद ही वह सर्वोच्चता है जिसके सामने चक्रवर्तीके भोग, इन्द्रका ऐश्वर्य सब तुच्छ है। यही कारण है कि सहजानदके भोगी योगीको सर्व ही बड़े २ गृहस्थ, इन्द्र, धरणेन्द्र व अन्य योगी भी नमन करते हैं। क्योंकि उन्होंने जीवन सुखदाई जीवको अमर बनानेवाले अमृतको पालिया है।

सहजानदका लाभ परम लाभ है। उसके हाथमें मुक्ति आजाती है, उसको वह कला मालूम हो जाती है जिसके बलसे वंद पूर्व बंधे हुए कर्मोंके अच्छे व बुरे फलको भोगता हुआ भी

अभोक्ता रहता है । जिसके प्रतापसे वह गृहस्थोंमें रहते हुए भी साधुवत् भावोंका स्वामी होता है । सहजानदका भोक्ता समताभावमें रमण करता है ।

मोक्षद्वीपमें न रहते हुए भी वह मोक्षके आनन्दको लेता है । सहजानन्दका भोग ही वह भोग है जो आत्माको बन्धनोंसे छुड़ाकर मुक्त कर देता है । सहजानदका लाभ परम अद्भुत रसायन है जो कषायोंके विषको दमन कर देती है । धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानदके स्वामी आत्माको पहचानकर निज व परको सबको समान भावसे देखते हैं । वे रागद्वेषके झगड़ोंसे बच जाते है ।

जीवनकी सफलता सहजानद रसपानसे है । बुद्धिमान मानवको उचित है कि सर्व जगतके झगड़ोंको अनासक्तिके भावसे देख कर निज आत्माके बागमें क्रीड़ा करनेका उद्यम करें । इसीसे वह शांतिको लाभ करता हुआ परमात्मापदकी तरफ बढ़ा हुआ चला जायगा और सदा ही संतोषमें रमण करेगा ।

३९–शिवकन्याका वर ।

ज्ञाताद्रष्टा आत्मा अनात्माकी अनादि संगतिसे अपने रूपको भूलकर तथा अपने सहजानदको भी भूलकर इन्द्रियजनित सुखका ही मोही होरहा है । इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगसे व शरीर पीड़ासे रातदिन आतुर रहता है व विषयोंकी दाहमें जलता रहता है । इच्छानुकूल वस्तु न पाकर घबड़ाता है । वस्तु पाकर भी और अधिक इच्छाओंको बढ़ा लेता है । एक दिन शरीर छूट जाता है तब निराश दशामें ही मर जाता है । खेद है कि यह मानव मानवजन्मको वृथा

खोदेता है। श्री गुरुने उस प्राणीको आकुलित देखकर इसको उपदेश किया कि हे प्राणी! पराधीन सुखके लिये क्यों वृथा कष्ट पारहा है? अपने भीतर देख तो तुझे उस परमप्रिय सहजानंदका पता लग जायगा। इस सहजानंदके अनुभवसे जन्म जरका दाह मिट जाता है, परम शांतिका लाभ होता है।

इस गुरुकी वाणीको सुनकर यह चेतता है और बड़े भावसे देखता है कि आत्मा कहा है। आत्माको देखनेके लिये इसे अपनी वृत्तिको सर्व परपदार्थोंसे हटाना पड़ता है सारे मोहजालको बलात्कार त्यागना पड़ता है।

अपने पास तीन शरीर हैं—कार्माण, तैजस, औदारिक। उनके भीतर झांकना पड़ता है। कर्मोंके असरसे जो रागादि भाव होते हैं उनसे भी चित्तको हटाना पड़ता है। मन, वचन, कायके योगोंसे जो आत्मामें चचलता होती है उसे भी त्यागना है। सिद्धके समान शुद्ध आत्माको पहचानकर उसीमें गोता लगानेका अभ्यास करना है। तथा जैसे महामत्स्य पानीमें रहता है, पानीको पीता है, पानीसे अपना जीवन समझता है, उसी तरह वह अपने ही क्षीर समुद्र समान आत्मामें रमण करके उसीके शांति जलको पीता है और परम तृप्तिको पाता है।

सहजानंद रससे पूर्ण वह आत्मा है इसीका श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण ही वह मार्ग है जिससे आत्मामें रमण होता है। अज्ञानी आत्मज्ञानके पाने हीसे ज्ञानी होजाता है। जिसने सहजानंदका पता पाया वह इन्द्र, धर्णेन्द्र, चक्रवर्तीकी सम्पदासे भी अधिक

है और उसके संयोग वियोगमें हर्ष विषाद करके आकुलित रहता है। निराकुल सुखका स्वाद ही नहीं पाता है।

जीवनकी सफलता निराकुल सुखके स्वादमें है। भेदविज्ञानी महात्मा भेदविज्ञानके प्रतापसे इस सुखको जब चाहे तब पासकता है और किसी भी अवस्थामें हो अपने जीवनको सुखमई बिताता है। सहजानंदका भोगी परमात्माके समान आनन्द भोगी है। वह अपने आत्माको सदा मोक्षरूप ही अनुभव करता है। उसके सामने यह सर्व जगत एक प्रकारका तमाशा दिखता है। ऐसा सम्यक्ती जीव सदा सुखी रहता है। धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानंदके भोक्ता होते हुए परम तृप्त रहते हैं।

४१–अखंड दुर्ग।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे छूटकर जब विचार करता है तब उसको विदित होता है कि वह बहुत बड़ी आकुलताके चक्रमें फसा है। आकुलताका कारण भी यही है कि वृत्ति परपदार्थोंमें चली जाती है। जब वह वृत्तिको रोकता है तो वह रुकती भी नहीं है। परपदार्थोंमें जानेसे उसको सहजानंदका स्वाद नहीं आता है। क्योंकि सहजानंद कहीं बाहर नहीं है, वह तो एक अपने आत्मा हीमें है। जो कोई अपनी वृत्तिको आत्मस्थ करेगा उसीको सहजानंदका स्वाद आयगा।

वृत्ति रोकनेका मूल उपाय पक्का श्रद्धान है। जहां जिसकी रुचि होती है वहीं उसकी वृत्ति चली जाती है। श्रद्धा होनेका उपाय ... स्वरूपका ठीकर ज्ञान है। आत्मा अपने स्वरूपसे शुद्ध

है, निर्विकार है, ज्ञान दर्शन स्वरूप है, अविनाशी है, वीतराग है, अमूर्तीक है अखंड है। असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीरप्रमाण विराजित है। यही परमानंद स्वरूप है। इसका स्वभाव श्री सिद्ध परमात्माके समान है। ऐसा दृढ़ निश्चय करनेकी जरूरत है। रागादि भाव, क्रोधादि भाव सर्व अशुद्ध भाव हैं। यह सर्व मोहनीय कर्मकृत विकार है। मोहनीय कर्म जड़ है, पुद्गल है, मेरे स्वभावसे भिन्न है। इसी तरह ज्ञानावरणादि सर्व ही द्रव्यकर्म भी मेरे स्वभावसे भिन्न हैं। इसी तरह शरीरादि नोकर्म भी मेरे स्वभावसे भिन्न है। मैं तो भाव कर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे निराला हूं। जैसे स्फटिकमणिके साथ काले, नीले, पीले लाल डाकके सम्बन्धसे स्फटिककी निर्मलता ढक जाती है और उसके स्थानपर वर्णपना झलक आता है उसी तरह मेरे वीतराग स्वभावमें रागद्वेषका झलकाव कर्मसंयोगके कारणसे है। इस तरह आत्माके यथार्थ स्वरूपकी भिन्नताका मनन करते रहना ही आत्माकी श्रद्धाका कारण है।

दीर्घकालके अभ्याससे दृष्टि अपने स्वरूपकी पहचानपर उसी तरह जम जायगी जिस तरह एक जौहरीकी दृष्टि सचे झूठे रत्नकी परीक्षासे जम जाती है। दृष्टिक जमते ही श्रद्धाका अंकुर स्फुरायमान होजायगा। फिर भी आत्माका मनन जारी रखना चाहिये। चिरकालके अभ्याससे दृष्टि और भी अधिक परिपक्व होजायगी फिर ऐसी दशा होजायगी कि जब चाहो तब एक ज्ञानी आत्माके यथार्थ स्वरूपपर परिणामको ले जासक्ता है। और अपनी वृत्तिको स्थिर रख सक्ता है। वृत्तिका जमना ही आत्मस्थ होना है। आत्मस्थ होने

हीसे सहजानदका लाभ होता है। सहजानंदके लोभीको उचित है कि आत्मस्थ होनेका अभ्यास डाले।

वास्तवमें रहनेलायक ठिकाना तो एक अपने आत्माका ही दुर्ग है जिसमें शुद्ध ज्ञान व आनन्द भरा है। जिसके भीतर कोई पुद्गलकी कालिमा नहीं है, कोई मलिनता नहीं है, जिस दुर्गको कोई ढा नहीं सक्ता है, जो अखण्ड व अविनाशी है व शुद्ध है, ऐसे दुर्गका वासी होकर यह आत्माराम सदा ही चिद्विलास करता हुआ परम सुखी रहता है व सहजानदका निराबाध उपभोग किया करता है।

४२-मेरा अनिर्वचनीय स्वरूप।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकारोंसे रहित होकर सहजानन्दके लिये अपने ही निज स्वरूपमें प्रवेश करता है। जब निज स्वरूपमें देखनेको जाता है तो वहा न वर्ण है न गंध है, न रस है न स्पर्श है, न राग है न द्वेष है, न क्रोध है न मान है, न माया है न लोभ है, न अनन्तानुबन्धी कषाय है, न अप्रत्याख्यानावरण कषाय है, न प्रत्याख्यानावरण कषाय है, न सज्वलन कषाय है न हास्य है न रति है, न अरति है न शोक है न भय है, न स्त्रीवेद है, न पुवेद है, न नपुंसक वेद है न ज्ञानावरण कर्म है न दर्शनावरण कर्म है, न मोहनीय कर्म है, न वेदनीय कर्म है, न आयुकर्म है, न नामकर्म है, न गोत्रकर्म है, न अन्तराय कर्म है। न आर्तध्यान है, न रौद्र ध्यान है, न धर्मध्यान है, न शुक्लध्यान है। न वहा नरकगति है, [illegible] ति है, न मनुष्यगति है, न देवगति है, न वहा स्पर्शन

इन्द्रिय है, न घ्राणइन्द्रिय है, न चक्षुइन्द्रिय है, न कर्णइंद्रिय है, न वहां मन है, न वचन है, न काय है, न वहां सत्य मन वचनयोग है, न असत्य मन वचन योग है, न उभय मन वचनयोग है, न अनुभय मन वचनयोग है, न औदारिक काययोग है, न औदारिक मिश्र काययोग है, न वैक्रियिक काययोग न वैक्रियिक मिश्र काययोग है, न आहारक काययोग है, न आहारक मिश्र काययोग है, न कार्माण काययोग है। न वहां हिंसा है, न असत्य है न स्तेय है, न अब्रह्म है, न परिग्रह है। न वहां एकांत मिथ्यात्व है, न विपरीत मिथ्यात्व है, न संशय मिथ्यात्व है, न विनय मिथ्यात्व है, न अज्ञान मिथ्यात्व है। न वहां कोई प्रमादभाव है न वहां कोई आप सिवाय भिन्न जीव है, न वहां कोई पुद्गल अणु व स्कन्ध है, न धर्मद्रव्य है, न अधर्मद्रव्य है, न आकाश द्रव्य है, न कालाणुरूप कालद्रव्य है, न भावास्रव है, न द्रव्यास्रव है, न भावबन्ध है, न द्रव्यबन्ध है, न भावसंवर है, न द्रव्यसंवर है, न भावनिर्जरा है, न द्रव्यनिर्जरा है, न भावमोक्ष है, न द्रव्यमोक्ष है, न वहां सात तत्व है, न वहां नौ पदार्थ है। न पुण्य है न पाप है, न वहां कोई मिथ्यात्व गुणस्थान है, न सासादन है, न मिश्र है, न अविरत है, न देशविरत है न प्रमत्तविरत है, न अप्रमत्तविरत है, न अपूर्वकरण है, न अनिवृत्तिकरण है, न सूक्ष्म लोभ है, न उपशांत कषाय है, न क्षीण कषाय है, न सयोग केवली, न अयोग केवली गुणस्थान है। न वहां ध्यान है, न धारणा है न समाधि है। मेरा एक अनिर्वचनीय स्वरूप है जो केवल अनुभवगम्य है।

मैं ऊपर कहे प्रमाण सर्व विभावोंसे उपयोगको हटाकर एक परम सूक्ष्म शुद्ध अपने आत्माके भीतर तन्मय होता हू । आत्माके भीतर प्रवेश होते ही सहजानदका स्वाद आजाता है । बस, मैं इसीमें मग्न होकर परमानंदित रहता हू ।

४३–सच्चा बलिदान ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके विचारोंको बद कर एक कोनेमें बैठ जाता है और यह देखता है कि सिद्ध भगवान क्यों सुखी हैं। वह जानता है कि सिद्धोंके साथ किन्हीं भी कर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं है । न भावकर्म रागादि हैं, न द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि है, न नोकर्म शरीरादि है। वे पूर्ण निश्चल समुद्र समान है। क्षोभ-रहित शुद्ध भावोंके धारी है, अतएव वे सहजानद सागरमें मगन हैं। क्यों न मैं भी सिद्धके समान अपनेको माऊँ? मैं जब निश्चय दृष्टिसे देखता हू तो अपनेको सिद्ध सम निराला एक शुद्ध द्रव्य ही पाता हू । सच है जो सिद्ध सम निज आत्माको श्रद्धामें लाकर नि शक ज्ञानी होकर अपनी वृत्तिको इसी प्रकारकी श्रद्धामें निरोध करता है वह शीघ्र ही सहजानदका स्वाद पालेता है । सहजानद आत्माका ही गुण है । जैसे मिश्रीमें मिष्टपना है, लवणमें लवणपना है इमलीमें खट्टापना है वैसे आत्मामें सहजानद है । सहजानदके लिये हरएक बुद्धिमान प्राणीको अपनी आत्माकी ही गोदमें खेलना चाहिये । आत्मा ही से उत्पन्न आनन्दामृतका भोजन करना चाहिये। आत्मा ही की यथार्थ गुणावलीकी माला की सुगन्ध लेनी चाहिये, आत्माका ही पवित्र दर्शन करना चाहिये आत्मा ही के द्वारा होने

वाला शुद्ध भावरूपी शब्द ज्ञानके कानोंसे सुनना चाहिये। आत्मा ही के द्रव्य व गुणोंका मनन करना चाहिये, आत्मा ही को अपना सर्वस्व मानकर उस आत्मा देवकी वेदीपर अपने सर्व अहंकार व ममकारकी बलि चढ़ा देनी चाहिये। अपने आपको न्यौछावर कर देना चाहिये। अपनी सम्पूर्ण शक्तिको आत्मीकरसमें डुबा देना चाहिये। जैसे समुद्रमें गोता लगाते समय समुद्रमें मानो [illegible] जाता होता है वैसे ही आत्मीक समुद्रमें गोता लगाते समय आत्मीक समुद्रमें मानो डूब जाना चाहिये।

सहजानन्द अपने घरकी अटूट सम्पत्ति है। अज्ञानी जीव इस सम्पत्तिका पता न पाकर वैषयिक सुखोंमें हैरानमान रहता है। वारवार दौड़कर विषयोंका सेवन करता है परन्तु उनसे तृप्ति न पाकर आकुलित होता है वा इच्छित विषयको न पाकर दुःखित होता है। पांचों इन्द्रियोंकी तृष्णामें फंसकर जो कष्ट पाता है वह वचन अगोचर है।

श्री गुरुके प्रतापसे जब इसको अपनी सहजानन्दकी सम्पत्ति दीख जाती है तब यह [illegible] प्रगट देखता है और जब [illegible] जाकर आत्मभण्डारमें अपने इच्छित [illegible] करता है तो सहजानन्दके दर्शन करके मगन होजाता है। इस आनन्दके स्वादको [illegible] नहीं सक्ता। यह [illegible] अतीन्द्रियानुभवके लिये [illegible] स्वरूप अपने ही आनन्द [illegible] जाता रहता है और सिद्ध समान सुख भोगता हुआ [illegible] भी तरह सिद्धसे कम नहीं अनुभव करता है। यह सहजानन्दका ही महात्म्य है।

४४–परम सूक्ष्म तत्त्व ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच–जालोंसे रहित होकर अपने भीतर जो ध्यानसे देखता है तो एक ऐसे प्रभुका दर्शन पाता है जिसके समान जगतमें कोई नहीं दीख पड़ता है । उसकी महिमा अपार है । वह अनंत गुणोंका स्वामी है । न उसमें कोई वर्ण है, न गंध है, न रस है, न स्पर्श है । न कोई शरीर है, न कोई वहां राग है न द्वेष है, न क्रोध है, न मान है, न माया है न लोभ है, न हास्य है, न रति है, न अरति है, न शोक है, न भय है, न जुगुप्सा है, न स्त्री वेद है, न पु० वेद है, न नपुंसक वेद है, न अनंतानुबंधी कषाय है, न अप्रत्याख्यानावरण कषाय है, न प्रत्याख्यानावरण कषाय है न संज्वलन कषाय है, न कोई मनकी क्रिया है, न वचनकी क्रिया है, न कायकी क्रिया है । न वहां शुभोपयोग है, न अशुभोपयोग है, न पुण्य है, न पाप है । न ज्ञानावरण कर्म है, न दर्शनावरण कर्म है न वेदनीय कर्म है, न मोहनीय कर्म है, न आयुकर्म है, न नामकर्म है, न गोत्र कर्म है, न अंतराय कर्म है । न वह नारकी है, न देव है, न पशु है न मनुष्य है, न वह संसारी है, न वह सिद्ध है, न वह बंधा है न खुला है, न प्रमादी है, न अप्रमादी है, न वह श्रावक है, न मुनि है । न एकेन्द्रिय है, न द्वेंद्रिय है, न तेंद्रिय है, न चौंद्रिय है, न असैनी पचेन्द्रिय है, न सैनी पचेन्द्रिय है न पर्याप्त है, न अपर्याप्त है, न सूक्ष्म है, न बादर है, न गुण है, न गुणी है, न पर्याय है, न पर्यायवान है । वह तो एक अनिर्वचनीय, मनसे भी अगोचर, बड़ा ही सूक्ष्म,

स्वानुभव-गोचर पदार्थ है जिसमें सर्व विश्व झलकता है, तौभी वह अपने आपमें है। नाम तो जिसका कुछ नहीं है परन्तु नामसे इसे ही परमात्मा, ईश्वर प्रभु, निरंजन, निर्विकार अरहंत, सिद्ध, कृतकृत्य, शुद्ध, शंकर, विष्णु, महेश, ब्रह्मा, सुगत, त्रिलोचन, धर्म स्वामी, स्वयंभू, परमशांत, परमानन्दी समयसार, महावीर, अजितनाथ, चन्द्रप्रभु, मुनिसुव्रत, पार्श्वनाथ, **आदिनाथ** कहते हैं। उसको पहचानना मनकी भी शक्तिसे बाहर है। सहजानंद कहीं और है नहीं। अपना सहजानन्द अपनेमें है, परका सहजानन्द परके भीतर है। अतएव सहजानन्दके लाभके लिये उस सूक्ष्म तत्वके भीतर प्रवेश करनेकी जरूरत है जहां मन वचन काय जा नहीं सके। इसका उपाय यही है कि पहले तो यह गाढ श्रद्धा करे कि मेरा स्वभाव शुद्ध सिद्ध परमात्मावत् है। ऊपर लिखे कोई पर संयोग मेरे साथ नहीं हैं। बुद्धिपूर्वक सर्व ही भावोंको हटाकर बलात्कार भेदविज्ञानके प्रतापसे जब भीतर घुमकर देखा जाता है और दृष्टि परसे बिलकुल छूटकर आप हीसे आपमें रमण करती है तब यकायक आत्मप्रभुका दर्शन होजाता है। आप ही सहजानन्दका समुद्र है। अज्ञानसे अपने भीतर आनन्द समुद्र होते हुए भी हम उसे देख नहीं पाते हैं। जब आत्मप्रभुके दृढ़ ज्ञान पूजन ध्यानके द्वारा आत्मानन्द झलकने लग जावे तब ही समझना चाहिये कि मैंने सहजानंद समुद्रको पा लिया है, अनादिकालका मेरा ताप शांत होगया है।

४५-स्याद्वादसे स्वभाव लाभ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित होकर एकान्तमें

बैठकर यह विचारता है कि क्या मेरा कोई साथी है ? तब उसके भेदविज्ञानमें झलकता है कि मैं तो बिल्कुल अकेला हू । मेरा कोई साथी नहीं है । मेरा द्रव्य मैं हूं, मैं ही अपने अभद रूपमे रहनेवाले गुण व पर्यायोंका पिंड हू, और कोई मेरा साथी नहीं । मेरे सिवाय अनत जीव द्रव्य, परमाणुसे स्कध पर्यन्त अनत पुद्गल, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, कालके असंख्यात अणु व आकाश द्रव्य कोईसे मेरा सम्बन्ध नहीं है ।

द्रव्यकी अपेक्षा सब भिन्न हैं, क्षेत्र अपेक्षा जो देखता हू तो मेरा असख्यात प्रदेशी क्षेत्र मेरा मर ही में है । मेरे क्षेत्रमें पर क्षेत्रकी सत्ता नहीं है । ऊपर कथित सर्व द्रव्योंका क्षेत्र निराला है । मैं जहा हू वहां अनतानत पुद्गल परमाणु व स्कन्ध हैं तो भी उनका क्षेत्र जुदा है, मेरा क्षेत्र जुदा है । कालकी अपेक्षा मेरा समय २ परिणमन मेरे ही में है । मेरेमें अन्योंका कुछ भी परिणमन नहीं है ।

यद्यपि सोने चादीके मिले हुए पदार्थमें सोना चादीका साथ साथ परिणमन देखा जाता है तोभी सोना चांदीका परिणमन भिन्न ही है, इसी तरह मेरे साथ बैठे हुए अनत कार्माण वर्गणाओंका, तैजस वर्गणाओंका व आहारक वर्गणाओंका परिणमन मेरे परिणमनके साथ २ होरहा है तथापि उनका परिणमन उनमें है, मेरा परिणमन मुझमें है । भावकी अपेक्षा देखता हू तो मेरा शुद्ध परिणामिक जीवत्व भाव या ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, वीर्य, सम्यक्त आदि मेरा मेरेमें है । मेरे इन भावोंके साथ अनंत ससारी व सिद्ध

जीवोंके भावोंका, पुद्गलके स्पर्शादि गुणोंका व धर्म अधर्म काल व आकाशके गुणोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। बस, मैं तो बिलकुल अकेला ही हू। कोई साथी है ही नहीं। यदि ध्यानसे देखता हू तो अपने भीतर अनेक गुणोंको व्याप्त पाता हू। इन गुणोंका स्वभाव एक दूसरेसे भिन्न है। तथापि मैं ही इन सबका आधार हू। मेरेसे भिन्न इनकी सत्ता नहीं है। अपनेसे बाहर मैं एक भी गुणको नहीं देखता हू। मैं ऐसा देखता हू कि वे गुण अलग २ अलमारीमें खिलोनेकी तरह चुने हुए हैं किन्तु सबके सब व्याप्त हैं। हरएकमें सब हैं।

क्योंकि हरएक गुणका स्वभाव जुदा २ है। इसलिये जब मैं हरएक गुणका दर्शन करना चाहता हू तो अलग २ एक एकको देखता हू परन्तु तब मुझे एकका दर्शन होता, दूसरोंका दर्शन नहीं होता। इस भिन्नताको मिटानेके लिये और सब गुणोंका एक मिश्रित स्वाद एक ही समयमें लेनेके लिये मैं अपनी विशाल अभेद दृष्टिमें अपने अभेद खण्डभावको ही देखता हू। उसीका स्वाद अपने चेतना गुणद्वारा लेता हू, ज्ञान चेतना रूप होजाता हू। बस एकदमसे सहजानदके सागरमें मगन होजाता हू। असग, एकात, सहज स्वभावका रमण ही सहजानदका स्वाद देता है। है तो अवक्तव्य, परन्तु जो स्वादका अनुभव नहीं कर रहा है वह वचनोंसे स्मरण द्वारा कथन कर स्वपरको रजायमान करता है। यह क्रिया भी उसी सहजानद सोपानपर लेजाकर खड़ा कर देती है। धन्य है सहजानद जो परम तृप्तिका बीज है।

४६–तारण तरण जहाज।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच जालसे रहित होकर एकांतमें बैठकर सहजानंदका लाभ करनेके लिये निज आत्माकी गुप्त गुफामें विश्राम करता है। मन, वचन, कायको पूर्णपने थिर कर लेता है। उपयोगको पांच इन्द्रिय व मनके द्वारा वर्तनसे हटा लेता है तथा आत्माके स्वरूपमें जोड़ देता है। श्रुतज्ञानके बलसे जैसा आत्माका स्वरूप समझा है उसी स्वरूपमें बारबार लय होनेका अभ्यास करता है। इसी अभ्याससे उसे सहजानंदका लाभ होता है। सहजानंद जिस भंडारमें है वह बिलकुल अभेद है। वहां कोई संकल्प विकल्प मनके धर्म नहीं हैं, न वहां वचनके सत्य असत्य, उभय व अनुभय प्रयोग है, न वहां कायका हलन चलन वर्तन है। इन तीन गुप्तिके किलेमें जो बैठ जाता है वह निश्चित होकर सहजानंद रसका पान करता है।

सहजानन्द परम स्वाधीन है। अपने ही आत्माका अपूर्व रस है। आत्मासे बाहर जानेपर इसका लाभ नहीं होता है, क्योंकि जो बाहर है वह जानने योग्य है, आत्मा सर्वका ज्ञाता है।

छ द्रव्योंमें प्रधान द्रव्य आत्मा है। यह ज्ञाता भी है, ज्ञेय भी है। और द्रव्य मात्र ज्ञेय है, ज्ञाता नहीं है। आत्माका नाम नहीं, आत्मामें भेद नहीं, आत्मामें बंध नहीं, आत्मामें मोक्ष नहीं, आत्मामें रस नहीं, गन्ध नहीं, वर्ण नहीं, स्पर्श नहीं। आत्मा अमूर्तीक है। मूर्तीक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियां हैं। उनके द्वारा आत्मा नहीं आसक्ता है। मन, भी उनही बातोंको विचारता है

नो इन्द्रियोंके द्वारा देखे हैं व सुने हैं। इसकी पहुच भी आत्मापर
नहीं है। आत्माकी तरफ तो आत्माका ही एक शुद्ध उपयोग पहुच
सक्ता है, और कोई जा नहीं सक्ता। कोई दिखलानेवाली वस्तु
नहीं। उसका पता कैसे मालूम हो कि यह आत्मा है। जबतक
दृढतापूर्वक आत्माके शुद्ध स्वरूपका और पुद्गल कर्मका भेदविज्ञानका
विचार नहीं होता तबतक आत्माकी तरफ पहुच नहीं सक्ता। परन्तु
भेदविज्ञानमें ऐसी ताकत है कि जैसे सुनारकी मिट्टीमें पड़ा हुआ
सोना पहचान लिया जाता है इसीतरह भेदविज्ञानकी सूक्ष्मदृष्टिसे
आत्मा आत्मारूप और अनात्मा अनात्मारूप दिखाई देता है। जो
स्याद्वादका अनुभव लेकर स्वचतुष्टयमें मगन होता है व पर चतुष्टयको
पर जानकर मोह नहीं करता है वह निरंतर आत्मस्वरूपका मनन
करता है। मनन करते समय मनकी सहायता है परन्तु वह मनके
मरणके लिये ही है।

सहजानंद ही वह भाग है जिसमें अपूर्व नशा है। जो सह-
जानंदरूपी भागको पीकर स्वानुभवके नशेमें चूर होजाता है वही
सच्चा मोक्षरूपी स्त्रीका भक्त है। वही साधक है, वही यति है, वही
मुनि है, वही अनगार है, वही श्रावक है, वही ऐलक है, वही क्षुल्लक
है, वही ब्रह्मचारी है, वही महाव्रती है, वही अणुव्रती है, वही सम्य-
दृष्टी है, वही उपशम सम्यक्ती, वही क्षयोपशम सम्यक्ती, वही क्षायिक
सम्यक्ती है। वही उपासक है, वही पूजक है, वही श्रोता है, वही
वक्ता है, वही जिनभक्त जैनी है, वही त्यागी है, वही वैरागी है,
वही शिवभक्त है, वही विष्णुभक्त है, वही बुद्धभक्त है, वही ईश्वर-

भक्त है, वही जगदवा जिनवाणीदेवीका भक्त है । वही सत्य तत्व ज्ञाता है, वही शास्त्री है, वही पंडित है, वही शिष्य है, वही गुरु है, वही वीर है, वही धीर है, वही संवररूप है, वही निर्जरारूप है, वही समयसार है । जो इस सहजानन्दके नशेमें चूर होजाता है वह शिवनारीको वर लेता है । धन्य है सहजानन्दका प्रताप, यही वास्तवमें तारणतरण जहाज है ।

४७–अनंत शक्तिधारी द्रव्य ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित होकर जब अपने आत्माकी शक्तिको विचार करता है तो उसे पता चलता है कि जैसे परमाणुमें अनंत गुण पर्याय हैं वैसे ही आत्म द्रव्यमें हैं । एक परमाणु जब सूक्ष्मसे सूक्ष्म जघन्य स्निग्ध व रूक्ष गुणके अवि भाग प्रतिच्छेदरूप अंशको रखता है, तब वह किसीसे बंधको प्राप्त नहीं होता है परन्तु जब उसी परमाणुमें अंशकी अधिकता होती है तब वह दूसरे परमाणुओंसे मिलकर अनेक आकार रूप व अनेक प्रकार रूप होजाता है । यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जावे तो एक परमाणुमें आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्माण वर्गणा, भाषा वर्गणा व मनोवर्गणाको आदि लेकर अनेक प्रकारकी वर्गणाओंके रूपमें परिवर्तन होनेकी शक्ति है । विश्वमें पुद्गलके जितने प्रकारके गुण व अवस्थाएं दिखलाई पड़ती हैं उन सबकी शक्ति एक परमाणुमें होती है ।

भूत भविष्य वर्तमानकाल सम्बन्धी जितनी अवस्थाएं पुद्गल Matter) की होसकी हैं उन सर्व रूप होनेकी अनंत शक्ति

एक परमाणुमें है। यदि शक्ति न होवे तो कभी भी परमाणुका नाना रूप परिणमन नहीं होवे। सूर्य, चन्द्रमा व नक्षत्रोंके विमान, नानाप्रकार माणिक पन्ना, हीरा, रत्न, नानाप्रकार पृथ्वी आदि छः कायोंके शरीर, इन सब रूप होनेकी शक्ति परमाणुमें है। वैभाविक शक्तिके कारण विभाव पर्यायोंमें परमाणु नाच रहा है। उसी तरह इस जीवमें निगोद पर्यायसे लेकर सिद्ध होनेतक जितनी भी प्रदेश सचार रूप व्यजन पर्यायें होती हैं व जितनी भी गुण परिणमनरूप अर्थ पर्याय होती है, उन सबकी परिणमन शक्ति हरएक आत्मामें है। वैभाविक शक्तिके कारण एक आत्मा विश्वकी अनतपर्यायोंको धारण करता है। जैसे परमाणु अन्य परमाणुमें मिलकर विभाव रूप हो नानाप्रकारका उदय दिखाता है वैसे ही आत्मा कर्मोंके साथ अनादिकालसे मिला हुआ नाना प्रकारके दृश्य दिखाता है।

यदि शुद्ध निश्चयसे परमाणुको देखा जावे तो वह शुद्ध व अबध है वैसे ही शुद्ध निश्चयसे यदि आत्माको देखा जावे तो वह भी शुद्ध व बधरहित है। उसमें कोई भी ससारका नाटक नहीं है।

जिसको सहजानदका पान करना हो उसके लिये यही उचित है कि वह सर्व विभावोंसे मुख मोड़कर एक शुद्ध आत्मीक स्वभावको ही देखे। उस शुद्ध दर्शनमें न राग है न द्वेष है, परम समताभाव है। जहा समताभाव आजाता है वहा ही **सहजानन्द**का स्वाद आता है। वहा ही परमशाति है। वहा ही उपयोग अपनी ही आत्म सत्तापर उपयुक्त है। मैं अब अपने शुद्ध स्वभावको देखता हुआ सहजानदका स्वाद ले रहा हूँ।

४८-सच्चा योगी ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके प्रपंच भावोंसे अलग रहकर सहजानंद पानेका उपाय विचार करता है तब उसे यह विदित होता है कि जिस मनमे मैं विचार कर रहा हूं कि मैं सहजानंदको पाऊँ वह मन ही सहजानन्दमें बाधक है। सहजानंद आत्माका स्वभाव है। जब बाहरमें वचन व काय थिर होते हैं भीतरमें मन निश्चल होता है तब जैसे निश्चल व निर्मल समुद्रके भीतर पड़ा हुआ हीरा चमकता है वैसे ही उपयोगकी भूमिकामें आत्माका स्वभाव चमकता है। उस स्वभावमें अनुरक्त होनेसे, तन्मय होनेसे, लीन होनेसे सहजानंदका स्वाद उसी तरह आजाता है जैसे ईखके चबानेसे मिष्टताका स्वाद, नीमके चबानेसे कड़वा स्वाद, इमलीके खानेसे खट्टा स्वाद, आवलेके खानेसे कषायला स्वाद, लवणके खानेसे नमकीन स्वाद आजाता है। सहजानंदका भोगी वही होसक्ता है जो योगी है। योगी वही है जिसने मन वचन काय तीनों योगोंको रोककर अपने उपयोगको अतीन्द्रिय व मनरहित स्वभावमें संयोग कर दिया हो। जो सहज ही विना किसी परिश्रमके सहज स्वभावमें रमण करे वही योगी है। योगीका ध्यान एक सहज आत्मस्वभाव ही पर होना चाहिये। योगी ही सदा सहजानंदका भोगी है, इसीसे सर्व ही भोगियोंके द्वारा चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र, नारायण, बलदेव, प्रतिनारायण महामंडलेश्वर, राजा, महाराजा, धनिक, निर्धन, कृषक, शिल्पकार आदिके द्वारा वंदनीय है, पूज्यनीय है। क्योंकि ये सर्व भोगी इन्द्रिय सुखको पाते हैं सो भी कभी कभी परन्तु वह ठहरता

हैं तो हर्ष मान लेता है। यदि प्राप्त नहीं होते हैं तो महान् कष्ट पाता है। प्राप्त विषय जब बिगड़ जाते हैं तब महान् दुःख भोगता है। जब रोगी, शोकी, निर्बल वृद्ध होनेसे प्राप्त विषयोंको भोग नहीं सक्ता है तब क्लेशित होता है। इष्ट विषयोंको भोगनेमें तृप्ति नहीं होती। तृष्णाका यह दाह जितना जितना भोगों उतना उतना बढ़ता जाता है। यकायक शरीर छूट जाता है तब तृष्णातुर मरकर खोटी गतिमें चला जाता है।

कोई कोई गतिमें पराधीन हुआ महान दुःख भोगता है। इस तरह जबतक रागद्वेषका झगड़ा नहीं मिटता है तबतक प्राणी दुःखोंकी परिपाटीसे बच नहीं सक्ता। रागद्वेष क्यों होता है? वास्तवमें ये आत्माके स्वाभाविक भाव नहीं हैं। मोहनीय कर्मका संयोग इस जीवके साथ है। बाहरी कारण पानेपर जब उसका उदय आता है तब ही विभाव भाव होते हैं। इनके मेटनेका उपाय वीतराग भावमें रमण करना है। यह वीतराग भाव अपने ही आत्माका स्वभाव है। आत्माको स्वभावसे परमात्मा ही देखना, जानना, श्रद्धा करना व ध्याना चाहिये। भेदविज्ञान या विवेकसे जब विचार किया जाता है तब यह आत्मा कर्मरहित, विभावरहित, शरीररहित, शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा, परम शांत व परमानंदमई एक शुद्ध पदार्थ झलकता है। जो कोई वीतराग भावका प्रेमी है उसको अपना उपयोग अपने ही आत्माके स्वभाव पर लेजाना चाहिये।

बलात्कार मनको सर्वतरसे रोकना चाहिये और आत्माप विठाना चाहिये, यही आत्मध्यानका अभ्यास है। सहजानन्द भ

आत्माका स्वभाव है। जब कभी आत्मा आत्मस्थ होता है, आप आपमें रम जाता है, तब ही उसे सहजानंदका स्वाद आजाता है। आत्मध्यान व सहजानंदके प्रकाशका एक ही काल है। यही मोक्ष मार्ग है। यही आत्माके कर्ममल काटनेका मसाला है। जो कोई आत्माके स्वाधीन पदके इच्छुक हैं उनको सर्व प्रयत्न करके सहजानंदके स्वादमें मगन होना चाहिये। सहजानंद अमृतसागर है। जो इसमें स्नान करता है अजर अमर व शुद्ध होजाता है, जन्म-मरणके व्यवहारसे छूट जाता है और सहजानन्दी होकर अपनेको जीवन्मुक्त अनुभव करता है।

९०–शुद्ध मोक्षमार्ग।

एक ज्ञानी जीव सर्व प्रपंचसे अलग हो सहजानन्दके लाभके लिये प्रयत्नशील होता है, तब वह केवल अपने आत्मा हीके भीतर प्रवेश करता है, क्योंकि सहजानंद एक आत्मामें ही है–आत्माका स्वभाव है। जब आत्मामें आत्माका प्रवेश होता है तब मन व इन्द्रियोंसे उपयोगको अलग करना पड़ता है। जब उपयोग आत्माके शुद्ध स्वभावमें श्रद्धापूर्वक निश्चल होता है उसी समय आत्माके रसका स्वाद आता है। यही सहजानंदका लाभ है। सहजानंदका जब लाभ होता है तब सर्व विकल्पकी धाराएं रुक जाती हैं, आत्माका भी विचार बंद होजाता है कि यह द्रव्य है या गुणी है इसके साधारण गुण क्या है, विशेष गुण क्या है, इसकी शुद्ध पर्यायें क्या है, क्या क्या अशुद्ध पर्यायें होती है। उसका स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव क्या है। उसमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व

परभावका अभाव है। निश्चयनयसे आत्मा क्या है, व्यवहारनयसे क्या है, इत्यादि सर्व मन द्वारा होनेवाले श्रुतज्ञानके विकल्प बन्द होजाते हैं। ठीक तो है–जब स्वरूप-मगता हो, आत्माके शुद्ध ज्ञानजलमें निमग्नता हो, निर्वाणरूपी प्रियतमाका दर्शन किया जारहा हो, तब विचार कैसा, विकल्प कैसा, तर्क कैसा, प्रमाण और नयका विचार कैसा, स्याद्वादका तर्क कैसा। ये सब बातें सहजानन्दके स्वाद प्राप्त करनेमें बाधक हैं।

सहजानन्दका लाभ ही धर्मध्यान है, यही शुक्ल ध्यान है, यही मोक्षमार्ग है, यही भाव संवर है, यही भाव निर्जरा है, यही भाव मोक्ष है, यही योगाभ्यास है, यही सम्यग्दर्शन है, यही सम्यग्ज्ञान है, यही सम्यक्चारित्र है यही साधक भाव है, यही साध्य भाव है, यही श्रावकाचार है, यही यत्याचार है, यही धर्म है।

जहां सहजानन्दका लाभ नहीं वहां धर्म नहीं, सम्यक्त नहीं सम्यग्ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं, संवर नहीं, निर्जरा नहीं, योग नहीं, धर्मध्यान नहीं, शुक्लध्यान नहीं। वास्तवमें मोक्षमार्ग भी गुप्त है, मोक्ष भी गुप्त है। दोनों ही मन व इन्द्रियोंसे अगोचर हैं।

सहजानन्दका लाभ ही मानव जन्मका सार है। इस आनन्दके प्रेमसे उत्साहित होकर गृह जंजालके आरम्भकी चिंताको बाधक समझकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, महामण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, महाराजाधिराज, महाराजा, राजा, श्रेष्ठी आदि व बड़े २ धनी व व्यापारी आदि सर्व परिग्रह त्यागकर यथाजात रूपधारी निर्ग्रंथ [illegible] हैं। और एकांत, उपवन, गिरि, गुफा आदिका सेवन

करके वहां कोलाहल रहित, क्षोभ रहित वातावरणमें तिष्ठकर आत्मीक गुफामें प्रवेश करते हैं। और स्वानुभव द्वारा सहजानंदका रस पान करते हैं। धन्य है सहजानंद! जो अनादिकालकी इन्द्रिय सुखकी तृष्णाको बुझा देता है, जो राग द्वेष, मोहकी उपाधियोंको हटा देता है, जो कर्मबंधके कारणोंको शमन कर देता है, जो तत्वज्ञानीको मोक्षकासा लाभ इसी जीवनमें ही प्रदान करता है। धन्य है सह आनंद! तू मेरे भीतर सदा प्रवाहित रहो। मैं तुझ हीमें गोते लगाकर परम सुखी होऊँगा।

५१-श्री महावीर प्रभुकी भक्ति।

एक नामका स्मरण आते ही भावोंमें वीरता छाजाती है, कर्म-शत्रुओंके जीतनेका व रागद्वेष मोहादि भावोंके विजय करनेका उत्साह उमड़ आता है। वह पवित्र नाम है **श्री महावीर भगवान्।** वीरोंके वीरने उस कामभावको जीता था जिसके वश चक्रवर्ती समान सम्राट होजाते हैं, जिसको वश करना बड़ा ही दुर्लभ है। पांचों इन्द्रियोंकी कामना ही संसार-भ्रमणका व सर्व संकटोंका मूल है। **श्री वीर प्रभुने** इस कामभावको आत्मध्यानकी अग्नि जलाकर भस्म कर डाला था। जिस अग्निको जलाया था उसका तेज बड़ा ही आनन्दप्रद है। सहजानंदका अपूर्व तेज उसी समय चमक जाता है जब उपयोग सर्व ओरसे हटकर अपने ही आत्माके भीतर प्रवेश कर जाता है और वहीं विश्रांति पालेता है।

श्री महावीरप्रभुने परमवीरताके साथ ध्यानस्थ होकर उन चार घातीय कर्मोंका ही क्षय कर डाला जो अनंत सहजानंदके प्रकाशमें

बाधक थे । परमात्मा वीर सदाके लिये सहजानन्द सागरमें निमग्न होजाते हैं–उसी तरह वास करते हैं जैसे महामच्छ दीर्घ शरीरधारी स्वयम्भूरमण समुद्रमें वास करता है, उसीका जल पीता है, उसीमें मगन रहता है वैसे ही श्री वीर प्रभुके भीतर **स्वयम्भूरमण** समुद्र बहता है अर्थात् **स्वय ही उत्पन्न आत्मरमण** रूपी स्वानुभव समुद्र बहता है । इसीकी अनुभूतिरूपी जलका स्वाद सहजानदमय है । वे वर्द्धमान भगवान इसी समुद्रमें सदा वास करते हुए स्वानु भूति द्वारा सहजानदके अमृतका स्वाद लेते हैं ।

षट्रसके स्वादसे व भवभोगोंके अथिर स्वादसे सर्वदाके लिये विमुख होगए हैं। इसी अपूर्व वीरत्वके कारण प्रभुका आत्मा पूज्यनीय है, वदनीय है, मननीय है, जपनीय है, अनुकरणीय है । पूजा, नमस्कारादिसे बढ़कर काम अनुकरणका है । |

मैं भी वीरकी भाति निर्ग्रथ होजाता हू । सिवाय अपने ही द्रव्य गुण पर्यायके किसीको भी नहीं अपनाता हूँ । सर्व परके मोहकी ग्रंथिको काट डालता हू । इद्रियोंके व मनके द्वारा देखना ही बन्द करता हू । सर्वमे रागद्वेष हटाता हू । निश्चित होकर आप ही अपनेको अपनेसे अपने लिये अपनमेंसे अपनेमें देखता हू । आप हीका स्वाद लेता हू । आप हीमें रमण करता हू । आपहीको अपना सर्वस्व अर्पण करता हू । इसी रीतिसे स्वानुभवकी अपूर्व सम्पदाको प्राप्त करता हुआ परम शिरोमणि **सहजानन्द**का स्वाद पाकर परम तृप्त होजाता हूँ । अपने ही ब्रह्मरूपी **महावीर**की निश्चय आराधनामें जमकर निरन्तर सहज सुख पाता हू ।